स्वर्गीय रायसाहब सेठ रामरत्नदासजी केडिया

जन्म-सं० १९२५] [देहावसान-सं० १९८८

आप ही की पुण्य-स्मृति में यह पुस्तकमाला निकाली जा रही है।
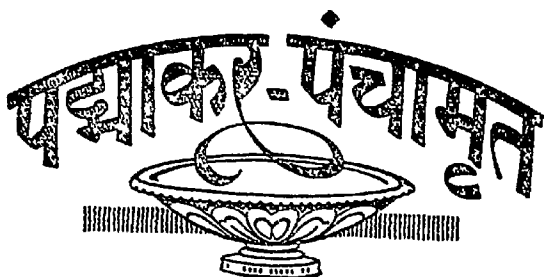
पद्माकर-पंचामृत

श्रीरामरत्न-पुस्तकमाला—चतुर्थ पुष्प

पद्माकर-पंचामृत

(कविवर पद्माकर की पाँच रचनाएँ—
हिम्मतबहादुर-विरुदावली, पद्माभरण,
जगद्विनोद, प्रबोध-पचासा और
गंगालहरी—विस्तृत टिप्पणी और
भूमिका-सहित)

संपादक

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र एम. ए.

साहित्यरत्न

प्रकाशक

श्रीरामरत्न-पुस्तक-भवन,

काशी

प्रथम संस्करण] श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी, १९९२

प्रवचन

स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने 'पद्माकर-ग्रंथावली' निकालने का विचार प्रकट किया था और यह निश्चय हुआ था कि 'रामरसायन' को छोड़कर पद्माकर के शेष पाँच ग्रंथों का एक सुसंपादित संस्करण प्रकाशित कर दिया जाय। पर उनकी असामयिक मृत्यु से यह कार्य जहाँ का-तहाँ पड़ा रह गया, अब उसके प्रकाशित करने का सुयोग आया है। यों तो पद्माकर-रचित कितने ही ग्रंथों का उल्लेख यत्र-तत्र पाया जाता है, पर उनके और ग्रंथ तो मिलते नहीं, केवल प्रकाशित ग्रंथों के अतिरिक्त एक 'आलीजाह-प्रकाश' की कुछ हस्तलिखित प्रतियों का पता चलता है। इसकी एक प्रति स्वर्गीय गोविंद गिल्लाभाईजी के पुस्तकालय में थी और एक प्रति भास्कर रामचंद्र भालेराव महोदय को उनके किसी मित्र के पास ग्वालियर में मिली है। गोविंद गिल्लाभाईजी ने अपने गुजराती 'शिवराज-शतक' की भूमिका में लिखा है कि 'जगद्विनोद' और 'आलीजाह-प्रकाश' में कोई अंतर नहीं है, केवल आदि और अंत की कुछ कविताओं में ही फेरफार है, जो आश्रयदाताओं के विभेद के कारण कर दिया गया है। भास्कर रामचंद्र भालेराव का कहना है कि इन दोनों ग्रंथों में बीच-बीच में भी थोड़ा-थोड़ा अदल-बदल पाया जाता है। इसके उन्होंने दो एक उदाहरण भी अपने उस लेख में दिए हैं, जो 'माधुरी' में कोई चार वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। इससे स्पष्ट है कि मोटे रूप में दोनों ग्रंथों में कोई भारी अंतर नहीं है।

पद्माकर के जितने ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, उनमें 'रामरसायन' खंडित है। उसके केवल तीन कांड ही प्रकाशित हुए हैं। पता चला है कि 'रामरसायन' की पूरी प्रति बा० जगन्नाथप्रसाद (छतरपुर) के पास थी, और उन्होंने बा० रामकृष्ण वर्मा को प्रकाशित करने के लिए उसे देने का वादा किया था, पर तीन कांडों के छपने के बाद दोनों व्यक्तियों में कुछ मतभेद हो गया, इसलिए यह ग्रंथ पूरा प्रकाशित न हो सका। जो भी हो, यह ग्रंथ अब पूरा प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त 'रामरसायन' की रचना के विषय में भी कुछ लोगों का कहना यह है, कि यह पद्माकर की रचना ही नहीं है। कुछ लोग उसे इनके दासीजात पुत्र की कृति बतलाते हैं। 'रामरसायन' में शैथिल्य भी इतना अधिक है कि सहसा कोई उसे पद्माकर की रचना स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए पद्माकर के केवल पाँच ग्रंथ—हिम्मतबहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रबोध-पचासा और गंगालहरी—ही ऐसे रह जाते हैं, जो उनकी अब तक उपलब्ध प्रामाणिक रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त पद्माकर के कितने ही स्फुट छंद फुटकर संग्रह-ग्रंथों में भी पाए जाते हैं और बहुत-से पुराने ढंग के पढ़नेवाले दंगली कविराजों और भाटों को याद हैं।

हमने पद्माकर के इन्हीं पाँच ग्रंथों का यह संग्रह 'पद्माकर पंचामृत' के नाम से प्रकाशित कराया है। फुटकर संग्रहों को उलटने-पलटने से हमें पद्माकर के सैकड़ों छंद मिले, जिनमें से चुनकर कुछ थोड़े-से इस संग्रह के अंत में 'तुलसी-दल' के नाम से दे दिए गए हैं। इधर पद्माकर की जीवनी के संबंध की चर्चा भी पत्रिकाओं में थोड़ी-बहुत हुई है। उनमें भी कुछ नये छंद मिले हैं। इनमें से जीवनी-संबंधी छंद छाँटकर भूमिका-भाग में दे दिए गए हैं और बचे हुए छंद 'फुटकर' में रखे गए हैं। जगद्विनोद में प्रबोध-पचासा और गंगालहरी के ७-८ छंदों की पुनरुक्ति है। इनको निकाल देने पर इस ग्रंथ के सब छंदों की संख्या कोई सवा चौदह सौ हो जाती है। यदि फुटकर संग्रहों में के छोड़ दिए गए साधारण छंदों को दृष्टि में न रखें

तो इस संग्रह को 'पद्माकर-ग्रंथावली' या 'पद्माकर-कवितावली' कहने में हमें कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

पद्माकर की कई पुस्तकों के विभिन्न संस्करण विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हुए हैं, विशेषतः जगद्विनोद के। पर प्राचीन शैली के अनुसार मुद्रित होने के कारण भारतजीवन प्रेस और नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित ग्रंथों के अतिरिक्त किसी में पाठ की एकरूपता तो क्या, शब्दों के इधर-उधर हो जाने और अन्य शब्दों के बीच में टपक पड़ने तक पर भी ध्यान नहीं दिया गया है। भारतजीवन से प्रकाशित ग्रंथों में भी छापे आदि की कितनी ही अशुद्धियाँ रह गयी थीं। इसलिए पद्माकर की कविता का कोई ऐसा संस्करण नहीं था, जो विशेषतः विद्यार्थियों के काम में आ सकता। इसी विचार से यह संग्रह प्रकाशित किया गया है। 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' की जो प्रति लाला भगवानदीनजी के पास थी, उसमें कई स्थलों पर कुछ पंक्तियाँ नहीं थीं, इसलिए उन्होंने उनकी पूर्ति अपनी ओर से कर दी थी, हमने उन पंक्तियों को ज्यों-का-त्यों इसमें रख दिया है।

शब्दों, क्रियापदों और विभक्तियों के स्वरूप में हमने रत्नाकरी अथवा मथुरिया पद्धति नहीं ग्रहण की है। क्योंकि पद्माकर आदि कवियों ने काव्य-भाषा का सामान्य स्वरूप ग्रहण किया था और उसमें बिहारी आदि प्राचीन कवियों के गृहीत स्वरूपों से थोड़ी सी भिन्नता थी। इसीलिए 'मैं' के स्थान पर 'में' ही रखा गया है। पद्माकर की आरंभिक और उत्तरकालीन रचनाओं में जो स्वाभाविक विभेद लक्षित हुआ उसे बनाए रखने के लिए दोनों में स्वरूप-भेद भी दिखाया गया है, एकरूपता की कढ़ाई में उसे बिगाड़ा नहीं गया है, जैसे चतुर्थी की विभक्ति 'कौं' आगे चलकर 'कों' यहाँ तक कि 'को' हो गई है। दूसरे पूर्वी व्रजभाषा-प्रांत के उच्चारण अथवा प्राचीन परंपरा के विचार से पद्माकर ने पूर्व-कालिक तथा अन्य काल की कुछ क्रियाओं में भी जहाँ व्रज में 'य' होता है

वहाँ 'इ' ही रखा है, इसी प्रकार 'व' के स्थान पर 'उ'। इसलिए तुकांत के अनुरोध के अतिरिक्त अन्यत्र 'इ' ही रखा गया है। अकारांत पुंलिंग शब्दों के सामान्यकारक बहुवचन में न, नि और नु तीन रूप प्राचीन कवियों की कविताओं में पाए जाते हैं। इनमें से 'नु', जो विहारी आदि की कविता में पाया जाता है, विशेष व्याकरण-सम्मत और समीचीन नहीं जान पड़ता और उसे पीछे के कवियों ने ग्रहण भी नहीं किया। न और नि वाले रूप बराबर मिलते हैं। इनमें से 'नि' में 'इ' विभक्ति-बोधक है, जो अपभ्रंश की संबंधकारक की 'हि' विभक्ति का जिसका प्रयोग प्रायः सभी कारकों में होता था, घिसा रूप जान पड़ता है। लोगों ने आगे चलकर इस 'नि' को विभक्ति-सिद्ध रूप न जानकर उसके आगे भी विभक्ति जोड़ दी और उसका प्रयोग ठीक बहुवचन 'नांत' शब्दों की तरह होने लगा। पर पद्माकर की कविता को ध्यान से देखने पर पता चला कि जहाँ विभक्ति का लोप है वहाँ तो नि है, पर अन्यत्र नांत रूप ही रखा गया है। इसलिए स्वरूप की एकरूपता के विचार से दो-चार स्थलों पर जहाँ इसके विपरीत पाठ मिला ठीक कर दिया गया है।

जगद्विनोद आदि ग्रंथों में, असावधानी से समझिए या छापनेवालों के भ्रम से समझिए, कुछ शीर्षक छूट गए थे। इन्हें पद्माकर की शैली के अनुरूप जोड़कर उसमें एकता लाने का प्रयत्न किया गया है। क्योंकि ऐसा न करने से कवि की गृहीत पद्धति में त्रुटि दिखाई पड़ती थी। सुविधा के विचार से छंद की संख्या प्रकरण के अनुसार न रखकर अंत तक सिलसिलेवार रखी गई है। इसके अतिरिक्त अपनी ओर से बदलने का दुस्साहस नहीं किया गया है। हाँ, जो छापे की अशुद्धियाँ समझी गईं या जिन्हें असावधानी का परिणाम समझा गया, उन्हें विविध युक्तियों से विचार कर ठीक करने की धृष्टता अवश्य की गई है। आधुनिक चिह्नों का उपयोग छंदों के भाव को स्पष्ट कर देने के विचार से किया गया है।

अंत में विस्तृत टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। इनमें कहीं-कहीं

कुछ विस्तार के साथ सरल शब्दों का भी अर्थ देने का तात्पर्य यह है कि परदेशी विद्यार्थियों को कुछ कठिनाई पड़ती थी, जिसका अनुभव इधर थोड़े दिनों से लोगों को हो रहा है। पद्माकर की विशेषताओं और उनके रीति-निरूपण पर एक दौड़ती दृष्टि डालनेवाली समालोचना भी जोड़ दी गई है, जिससे पद्माकर का स्वरूप समझने में थोड़ी सहायता मिल सकेगी, ऐसी आशा है। पद्माकर का एक प्रामाणिक चित्र भी मिल गया है, जो इसमें दिया जाता है।

जिन ग्रंथों से इस संग्रह में सहायता ली गई है उनका उल्लेख यथास्थान किया गया है। इनके अतिरिक्त भी कितने ही ग्रंथ और पत्रिकाओं का आलोड़न करना पड़ा है। इन सबके रचयिताओं के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं, और विद्वन्मंडली से अपनी त्रुटियों और धृष्टता के लिए क्षमाप्रार्थी हैं। विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट की जानेवाली भूलों का सादर स्वागत करने की अभिलाषा रखते हुए हम आशा करते हैं कि हिंदी-जनता इस संग्रह को अपनाकर हमें कृतकृत्य करेगी।

श्रीकृष्णाष्टमी, १९९२
ब्रह्मनाल, काशी। } विश्वनाथप्रसाद मिश्र

तालिका

—

पद्माकर-पंचामृत

आमुख

कविवर पद्माकर

आमुख

तत्कालीन परिस्थिति

भगवान् की भक्ति के अनंतर भारतीय जनता अपना शृंगार करने में लगी। उसकी शृंगार-वृत्ति के पोषक लीलापुरुषोत्तम भी कवियों की कृपा से उसे मिल गए। भावुक भक्तों ने और सांप्रदायिक भक्ति के स्वरूपों ने अर्जुन को कर्तव्य-मार्ग पर लानेवाले अवतार का चित्र ऐसा विचित्र बना दिया कि दोनों प्रकार के स्वरूपों में बड़ा अंतर पड़ गया। भागवत के आदर्श कृष्ण का केवल रसिया रूप ही लोगों के सामने रह गया। उधर औरंगजेब के प्रचंड और प्रतप्त शासन के अनंतर जो प्रतिवर्तन के रूप में सुदूर दक्षिण से आवाज आई उसकी ओर उत्तरापथ के विच्छिन्न वीर अग्रसर ही नहीं हुए। कवि लोग अपना कर्तव्य इतना अधिक भूल बैठे कि भूषण ऐसे दो-एक कवियों को छोड़कर किसी ने अवसर की उपयोगिता की परख ही नहीं की, सबके सब शृंगार करने में ही व्यस्त रहे। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों की अकर्मण्यता और विलासिता, लखनऊ के नवाबों की चटक-मटक, उनके वीरोन्मेष को जगाने की कौन कहे, उसे और भी ठंढा करती रही। 'रस' की सरिता वेग से बहती रही, सभी रसिया और छैला बनने की फिक्र में व्यग्र रहे। जब मराठों की विराट् शक्ति रणनीति के अभाव में पराजित हो गई तो भीतर ही भीतर सुलगनेवाली आकांक्षाओं की आग पर भी ढेरों राख जम गई। शृंगार और नाचरंग के सिवा रजवाड़ों में कुछ रही नहीं गया।

कवियों की चाटुकार-वृत्ति और उद्दीप्त हो उठी, वे केवल दरबारों में महाराज की 'उमरि दराज' की वांछा करने लगे। कवियों की कविता महाराज के दिलबहलाव की चीज बनी, उन्हें कर्तव्यपथ पर लानेवाली नहीं।

बड़े दरबारों की नकल छोटे दरबारों में भी होने लगी। जमींदारों और रईसों का शगल नायिकाभेद की बारीकी पहचानना हुआ, कविता का सौंदर्य नहीं। लालची कवियों ने उन्हें इस रस में खूब डुबोया, ऐसा डुबोया कि उन्हें साँस लेने की भी फुरसत नहीं दी। कवियों के दंगल और अखाड़े जुटने लगे, समस्यापूर्तियों की कलाबाजियाँ दिखाई जाने लगीं, राजा साहब की वीरता के वर्णन के लिये आसमान से उपमान उतारे जाने लगे, ब्रह्मांड छाना जाने लगा। नायिका की सुकुमारता, कटि की क्षीणता और विरह की आहों के निरूपण में हवा में भी किलों की नीव दी जाने लगी, कल्पना के घोड़े स्वर्ग पाताल एक करने लगे। ऐसी परिस्थिति में उत्पन्न होनेवाला कवि यदि देशदशा और कर्तव्य-मार्ग के निरूपण में लगता भी तो उसे पूछनेवाला कोई नहीं था। संत लोग समाज से पीछा छुड़ाकर दूर खड़े हो गए थे, पारिवारिक संकटों ने रोटियों के लाले उपस्थित कर दिए थे। कवियों की दरबारों में जो वृत्ति बँध गई थी उसे छोड़कर वे एक दिन भी अपना काम नहीं चला सकते थे। सबसे बढ़कर तो इस नशे का चस्का था, जो इतना बढ़ गया था कि उसी में उन्हें मजा आने लगा था। इसी से उस समय के कवि उसी हवा में उड़ते रहे, उसके प्रतिकार का किंचिन्मात्र भी प्रयत्न नहीं किया।

पद्माकर भी इसी परिस्थिति में उत्पन्न हुए थे। उनमें काव्य-प्रतिभा चाहे जैसी रही हो, वह आध्यात्मिक बल अवश्य नहीं था जिसके भरोसे असाधारण कवि समाज की नकेल अपने हाथ में लेकर उसे अपने अनुकूल घुमा चलते हैं। परंपरा के प्रेम में पागल रहनेवाला कवि अपनी परिस्थिति का जंजाल काँधकर एक तिल भी इधर से उधर नहीं हो सकता। इसी से पद्माकर जहाँ के तहाँ पड़े रहे, वे आगे नहीं बढ़ सके।

लोकरुचि के स्वर में स्वर मिलाने के अतिरिक्त उस रुचि के संस्कार का स्वप्न देखना भी उनके लिये गुनाह था। दूसरों को रसमग्न करनेवाला पहले ही डूबने-उतराने लगा। वे जिसके दरबार में पहुँचे उसी की प्रशस्ति में प्रतिभा का पहाड़ खोदने लगे।

जीवन-वृत्तांत

(पद्माकर तैलंग ब्राह्मण थे।) इनके पूर्वपुरुष गोदावरी के निकट रहा करते थे। इनके वंश के मूलपुरुष मधुकर भट्ट अत्रिगोत्रीय और तैत्तिरीय शाखा के यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। सं० १६१५ में जब गढ़ा मांडले में प्रसिद्ध महारानी दुर्गावती राज करती थीं तो मूँगीपट्टन से बहुत से पंचद्राविड़ दाक्षिणात्य उत्तर की ओर तीर्थाटन के विचार से आए* और यहाँ आकर धीरे-धीरे यहीं के वासी हो गए। इन दाक्षिणात्यों में से बहुतों ने श्रीगोस्वामी विट्ठलनाथजी का आश्रय ग्रहण किया था। इनके यहाँ बसने पर एक समुदाय की दो शाखाएँ भी हो गईं, जो मथुरास्थ और गोकुलस्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं। पद्माकर मथुरास्थ शाखा के थे।†

---

* वर्षे बाणरसारसेन्दुमिलिते श्रीमद्गढापत्तने,
रम्ये नार्मदकोटितीर्थमिलिते दुर्गावतीपालिते।
मूँगीपट्टनतोऽथवा मधुपुरीश्रीरङ्ककालेश्वरात्,
सयाताः किल दाक्षिणात्यविबुधाः सार्धं शतं सप्त च॥

† मिलाओ जगद्विनोद के प्रकरणों की समाप्ति, "इति ··· मथुरास्थायिमोहनलालभट्टात्मजकविपद्माकरविरचिते ", रामरसायन के कांडों की समाप्ति, "इति श्रीमथुरास्थमोहनलालभट्टात्मजकविपद्माकरविरचिते"; आलीजाह-प्रकाश के प्रकरणों की समाप्ति, "इति सिद्धिश्रीमथुरास्थमोहनलालभट्टात्मजकविपद्माकरविरचित ··· "।

जो लोग 'मथुरास्थ' या 'मथुरास्थायि' शब्द के कारण पद्माकर को मथुरा का रहनेवाला मानते हैं वे भ्रम में हैं (देखो माधुरी, वर्ष १३, खंड २, संख्या १, पृष्ठ ३)। पद्माकर बाँदा के रहनेवाले भी प्रसिद्ध हैं। 'प्रबोध-पचासा' के अंत में 'मथुरास्थ' न होकर 'बाँदावासी मोहनलाल भट्ट' लिखा मिलता है। इसका कारण यह है कि ये लोग कई पुश्त से बाँदा के ही रहनेवाले थे। ‡

पद्माकर के पिता मोहनलाल भट्ट मध्यप्रांतांतर्गत सागर में रहा करते थे। इनके पूर्वपुरुषों का निवास उत्तर में आने पर पहले-पहल बाँदा हुआ, इसीलिए ये लोग बाँदावाले भी कहलाते थे। पद्माकर का जन्म १८१० में सागर में ही हुआ था। आचार्य केशवदास के समय से बुँदेलखंड में साहित्यिक व्रजभाषा काव्य का प्रचलन धीरे-धीरे बहुत बढ गया था। व्रजकाव्य का एक केंद्र बुँदेलखंड भी हो गया था। इसलिए पद्माकर के पूर्वज भी व्रज में काव्य करने के अभिलाषी हुए। इनके वंश में इनसे दो पीढ़ी पूर्व जनार्दनजी से काव्य-रचना का अभ्यास आरंभ होता है। जनार्दनजी के पुत्र मोहनलाल भट्ट भी कविता करने लगे। कविता की अपेक्षा इनकी प्रसिद्धि अनुष्ठानों और मंत्र-सिद्धि के संबंध में विशेष थी। इसीलिए राजदरबारों तक इनकी पहुँच थी। किंतु इतना होने पर भी काव्य-रचना में इनका सारा परिवार जुट गया था, इसीलिए इस वंश का नाम ही 'कवीश्वर वंश' पढ गया और अब तक पद्माकर के वंशज थोड़ी-बहुत कविता बराबर करते हैं और अपने को 'कवीश्वर' लिखते हैं।* अनुष्ठान और मंत्र-साधना के प्रभाव से मोहनलाल ने राजन्यवर्ग के बहुत से लोगों को अपना शिष्य बनाया। दीक्षा की यह परंपरा भी अब तक इनके वंश में बराबर चली आती है।

पद्माकर ने अपने पिता से जिस प्रकार कविता का अभ्यास किया उसी प्रकार मंत्रसिद्धि का भी। तत्कालीन सागर नरेश रघुनाथराव अप्पा साहब की प्रशंसा में पद्माकर ने जो 'संपति सुमेर की' † प्रतीकवाला कवित्त सुनाया था, कहते हैं, उसपर मुग्ध होकर उन्होंने एक लक्ष मुद्रा दी थी, इसी से यह कवित्त पद्माकर के वंशजों में 'लाखिया' के नाम से प्रसिद्ध है। पद्माकर ने संस्कृत भाषा का भी अभ्यास किया था,

---

* देखो माधुरी, १२-२-१, पृष्ठ ७६।

† पूरे कवित्त के लिए देखो जगद्विनोद, छंदसंख्या ६६५।

यह उनके ग्रंथों के देखने से भी स्पष्ट लक्षित होता है। कुछ दिनों बाद अप्पा साहब से, जान पड़ता है, अनबन हो गई। इसलिए पद्माकर अपने मूलस्थान बाँदा चले गए और उसे ही अपना निवासस्थान बनाया। वहाँ पहुँचकर इन्होंने मंत्रदीक्षा का पुश्तैनी कार्य आरंभ किया और महाराज जैतपुर तथा सुगरानिवासी नोने अर्जुनसिंह को अपना शिष्य बनाया। अर्जुनसिंह ने लक्षचंडी के अनुष्ठान द्वारा अपनी तलवार सिद्ध कराई और पद्माकर को अपना ही नहीं, अपने कुलमात्र का गुरु बनाया। सुगरावाले अब तक पद्माकर के वंशजों से ही मंत्रदीक्षा लेते है। पद्माकर ने अपनी कविता के द्वारा वीरवर अर्जुनसिंह का यशोगान भी किया। अर्जुनसिंह की मृत्यु पर दो-एक छंद स्फुट संग्रहों में भी मिलते हैं—

तुपक तमंचे तीर तोरा तरवारन ते,
काटि-काटि सेना करी सोचित सितारे की।
कहै 'पद्माकर' महावत के गिरे कूदि,
किलकि किलाएँ आयो गज मतवारे की॥

हेरन हँसन हरषन सान घन बढ़,
जूझन पवाँर बीर अरजुन भारे की।
जंग में न थाका करयो सूरन में साका जिहि,
ताका ब्रह्मलोक को पताका लै पँवारे की॥

सूर-मुख नूर दै कै भूसुरनि दान दै कै,
मान दै कै तोरा तुर्रा सिर पै सपूती को।
मास मँसहारन अहारन अघाय,
तरवार तन ताय दयो सुक्ख रनदूती को॥

ओण दै कै जोगिनिन भोग दै बरंगनान,
मुंड दै कै पारवतीपति मजबूती को।

मार दै अरिन अरज्जुन अरज्जुनसिंह,
गयो देवलोक ओप दै कै रजपूती को ॥ *

कहा जाता है कि इन्होंने अर्जुन-रायसा नामक वीरकाव्य भी लिखा था।

वहाँ से पद्माकर दतिया के महाराज पारीक्षत के दरबार में गए और निम्नलिखित प्रशस्ति पाठ किया—

जप-तप कै चुको सु लै चुका सकल सिद्धि,
दै चुको चुनौती चित्त-चिंतन के नाम को।
कहै 'पदमाकर' महेस-मुख जोय चुको,
ढोय चुको सुखद सुमेर अभिराम को॥
भूपमनि पारीछत राउरो सुजस गाय,
ल्याय चुको इंदिरा उमंगि निज धाम को।
ध्याय चुको धनद कमाय चुको कामतरु,
पाय चुको पारस रिझाय चुको राम को॥ †

कहा जाता है कि पद्माकर को इस कवित्त पर जागीर मिली थी। दतिया से होकर ये रजधान के गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत-बहादुर के यहाँ गए। हिम्मतबहादुर नवाब शुजाउद्दौला के जागीरदार थे। रजधान का इलाका उन्हें नवाब ने फौज के लिए दिया था। वे स्वयं कविता करते थे और कवियों का संमान भी किया करते थे। पद्माकर ने प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा में कई कवित्त रचे। एक उदाहरण लीजिए—

तीखे तेगवाही औ सिलाही चढ़े घोड़न पै,
स्याही चढ़ै अमित अरिंदन की ऐल पै।

---

* शृंगार-संग्रह, पृष्ठ २६१। दूसरे कवित्त में पद्माकर का नाम नहीं है, पर जान पड़ता है कि ये दोनों छंद एक ही स्थान से लिए गए हैं। अर्जुनसिंह की मृत्यु पर पद्माकर के इन उद्गारों से पता चलता है कि यद्यपि ये युद्ध के समय हिम्मतबहादुर की ओर थे, पर वीर की उचित प्रशंसा इन्होंने नहीं छोड़ी।

† माधुरी, १३-२-१, पृष्ठ ४।

कहै 'पद्माकर' निसान चढ़े हाथिन पै,
धूरिधार चढ़ै पाकसासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जंग जीतिबे के लिए,
हिम्मतबहादुर चढ़ो जो फर-फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै बहाली चढ़ै बाहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै कपाली चढ़ै बैल पै॥*

१८४९† में नोने अर्जुनसिंह से और हिम्मतबहादुर से एक युद्ध हुआ। उस समय पद्माकर हिम्मतबहादुर के ही यहाँ थे। इन्होंने उस समय उनको विरुदावली गाते हुए एक वीरकाव्य लिखा जिसका नाम 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' है। नवाब अलीबहादुर ने बुँदेलखंड पर आक्रमण किया था और बाँदा को अपने अधीन कर लिया था। उसके साथ-साथ हिम्मतबहादुर और राजा चरखारी ने मिलकर अर्जुन-सिंह पर चढ़ाई की थी। यह लड़ाई अजयगढ़ और बनगाँव के बीच के मैदान में हुई थी। इसमें अंत में अर्जुनसिंह वीरतापूर्वक लड़ते हुए मारे गए थे।

कहा जाता है कि १८५५ तक पद्माकर हिम्मतबहादुर के ही यहाँ रहे। वहाँ से ये सितारे गए और महाराज रघुनाथराव (राघोबा) के दरबार में पहुँचे। जहाँ इन्हें एक लाख रुपये और दस गाँव मिले। १८५६ में सागर के रघुनाथराव ने इन्हें फिर अपने यहाँ बुलाया। वहाँ उन दिनों कोई लड़ाई छिड़ी थी। पद्माकर ने रघुनाथराव की तल-वार की प्रशंसा में एक कवित्त बनाया, जो बड़ा अनोखा है—

दाहन तैं दूनी तेज तिगुनी त्रिसूलन तैं,
चिल्लिन तैं चौगुनी चलाँक चक्र-चाली तैं।

---

* सरस्वती, ११-७, पृष्ठ ३०३।

† मिलाओ हिम्मतबहादुर-विरुदावली, छंद २२, २३।

कहै 'पद्माकर' महीप रघुनाथराव,
ऐसी समसेर सेर सत्रुन पै घाली तैं॥
पंचगुनी पब्ब तैं पचीसगुनी पावक तैं,
प्रगट पचासगुनो प्रलय-प्रनाली तैं।
सतगुनी सेस तैं सहस्रगुनी सापन तैं,
लाखगुनी लूक तैं करोरगुनी काली तैं॥

इसके अनंतर पद्माकर फिर रघुनाथराव के यहाँ से लौटकर बाँदा आए। वहाँ से ये जयपुर के लिए रवाना हुए। उस समय वहाँ सवाई महाराजा प्रतापसिंह राज करते थे। वे स्वयं कविता करते और कवियों का संमान भी करते थे। पद्माकर ने उनकी प्रशंसा में बहुत से छंद कहे हैं, जिनमें से दो-एक जगद्विनोद में भी आए हैं।* उनके हाथियों के वर्णन की एक कविता नीचे दी जाती है—

टप्पे की टकोर टक्करन की तड़ातड़ित,
माचै जब कूरम करिंदों की लड़ालड़ी।
कहै 'पदमाकर' झपट्ट की झड़ाझड़ में,
सुंडों की सड़ासड़ भुसुंडों की भड़ाभड़ी॥
मस्ती की मड़ामड़ जड़ाजड़ जँजीरन की,
पत्रों की पड़ापड़ गरज्जों की गड़ागड़ी।
धक्कों की धड़ाधड अड़ंग की अड़ाअड़ में,
ह्वै रहै कड़ाकड़ सुदंतों की कड़ाकड़ी॥ †

प्रतापसिंह की मृत्यु तक पद्माकर वहीं रहे। इन्होंने उनकी मृत्यु पर भी कविता की है‡ और राठौर महारानी—जो उनकी मृत्यु पर मंडोर में

---

* देखो जगद्विनोद, छंद ७०५, ७१०।

† शृंगार-संग्रह, पृष्ठ २७५।

‡ देखो पद्माकर-पंचामृत, फुटकर, प्रतापसिंह-वर्णन, पृष्ठ २७०।

सती हो गई थीं—के संबंध में भी एक कविता मिलती है।* जान पड़ता है कि प्रतापसिंह की मृत्यु हो जाने पर ये बाँदा लौट गए। संभवतः 'पद्माभरण' की रचना इसी समय हुई है, क्योंकि वह किसी के नाम पर नहीं बनाया गया है। उसके उदाहरणों में भी कोई ऐसा पद्य नहीं है जो किसी नृपति-विशेष के संबंध की ओर संकेत करता हो।

जयपुर में इनको अधिक आनंद-भोग करने का सुअवसर मिला था, इसलिए ये फिर जयपुर पहुँचे। उन दिनों तत्कालीन नृपति जगतसिंह से मिलना बड़ा कठिन था। वे राजभोग में लगे हुए थे। पद्माकर ने उनसे मिलने की अद्भुत युक्ति निकाली। जगतसिंह गुरु से कुछ कविता का भी अभ्यास किया करते थे। उनके गुरु एक समस्या की पूर्ति में कई दिनों से उलझे थे, क्योंकि काफिया तंग था। इन्होंने किसी प्रकार समस्या का पता लगाया और उसकी पूर्ति की। समस्या थी—'सारे नभमंडल में भारगव चंद्रमा'। समस्या-पूर्ति लेकर ये गुरु-शिष्य के समीप पहुँचे, और पढ़ा—

संभु के अधर माँहि काहे की सुरेख राजै,
गाई जाति रागिनी सु कौन सुर मंद्र मा।
देत छवि को है कोकनद में नदी में कहो,
नखत बिराजै कौन निसि में अतंद्रमा॥
एक दृग को है कौन बर्नन असंभवित,
घटै बढ़ै सो तो दिन पाय पाय पंद्रमा।
कालीजू के कज्जल की ललित लुनाई सो तो,
सारे नभमंडल में भारगव चंद्रमा॥†

समस्यापूर्ति सुनकर वे लोग अवाक् रह गए। परिचय पूछने पर इन्होंने अपने को पद्माकर कवि का साईस बतलाया और दूसरे दिन

* देखो जगद्विनोद, छंद ५४६।
† विशाल-भारत, १४-१, पृष्ठ १०।

सभा में अपने स्वामी को उपस्थित करने का वचन दिया। 'राजसभा में पहुँचकर इन्होंने जो परिचय का कवित्त पढ़ा वह बहुत प्रसिद्ध है—

भट्ट तिलँगाने को बुँदेलखंडवासी कवि,
सुजसप्रकासी 'पद्माकर' सुनामा हौं।
जोरत कवित्त छंद छप्पय अनेक भाँति,
संसकृत प्राकृत पढ़े जु गुनग्रामा हौं॥
हय रथ पालकी गयंद गृह ग्राम चारु,
आखर लगाय लेत लाखन की सामा हौं।
मेरे जान मेरे तुम कान्ह हौ जगतसिंह,
तेरे जान तेरो वह बिप्र हौं सुदामा हौं॥

पद्माकर की प्रतिभा देखकर महाराज ने इन्हें राजकवि बनाया। इन्होंने उनकी विरुदावली के कितने ही छंद कहे हैं।* कुछ नीचे दिए जाते हैं—

प्रबल प्रताप-कुल-दीपक छता के पुन्य,
पालक पिता के राम राजा ज्यों भगतराज।
कान्ह-अवतार बैरी-बारिधि-मथन काज,
सील के जहाज बली बिक्रम तखतराज॥
म्लेच्छ-अंधकार मेटिबे को मारतंड दिन,
दूलह दुनी के हिंदुजन के नखतराज॥
पारथ-से पृथु-से परिच्छित पुरंदर-से,
जादौ-से जजाति-से जनक से जगतराज॥†

जगतसिंह के घोड़ों की प्रशंसा सुनिए—

---

* जगतसिंह की प्रशंसा के छंदों के लिए देखो जगद्विनोद, छंद ५, ६, १८६, ७४०।

† माधुरी, १२-२ १, पृष्ठ १०।

मौजी मानसिंहावत रीझत जगतसिंह,
　　　　　　थकसे तुरंग तुंग वे उठत अका-से।
कहै 'पद्माकर' सुपुट्ठन पनारी परी,
　　　　　　कम्मर के कोता, पिट्ठ पिट्ठत पलका-से॥
बाँके समसेर-से सुमेर-से उतंग सूम,
　　　　　　स्यारन पै सेर दुनहाइन के टुका-से।
हुलक हुलका-से सुतुका-से तरारिन में,
　　　　　　ललित ललाम जे लगाम लेत लका-से॥ *

जगतसिंह की अथवा उनके घोड़ों की ही नहीं, उनके दंगली तीतर-बटेरों तक की लड़ाई का वर्णन पद्माकर ने बड़े जोश-खरोश के साथ किया है, † क्योंकि उन दिनों राजा साहब का यही शगल था। आगे चलकर पद्माकर ने महाराजा बहादुर की आज्ञा से 'जगद्विनोद' नामक नायिकाभेद का ग्रंथ बनाया, जिसमें मोटे रूप से तो पूरे रसचक्र का निरूपण है, पर विस्तार शृंगाररस और तदंतर्गत आलंबन विभाव नायक-नायिका का है।‡

पद्माकर जयपुर से उदयपुर भी गए। उन दिनों वहाँ महाराणा भीमसिंह राज कर रहे थे। उदयपुर में चैत्र शुक्ला चतुर्थी को 'गनगौर' का भारी मेला लगता है। ये इसी अवसर पर वहाँ गए थे। इन्होंने गनगौर के मेले पर कई छंद कहे—

घौस गनगौर के सु गिरिजा गुसाइन की,
　　　　　　छाई उदैपुर में बधाई ठौर-ठौर है।

---

* शृंगार-संग्रह, पृष्ठ २७४।

† देखो पद्माकर-पंचामृत, पृष्ठ २७०-७१।

‡ कहा जाता है कि पद्माकर ने 'सवाई जयसिंह-विरुदावली' भी लिखी थी (देखो लाला भगवानदीन संपादित 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' की भूमिका, पृष्ठ ११), जयसिंह की प्रशंसा का एक छंद 'जगद्विनोद' में भी पाया जाता है (छंद ६१४)।

देखो भीम राना या तमासो ताकिबे के लिए,
माची आसमान में विमानन की भौर है॥
कहै 'पद्माकर' त्यों घोखे में उमा के गज-
गौनिन की गोद में गजानन की दौर है।
पारावार हेला महामेला में महेस पूछैं,
गौरन में कौन सी हमारी गनगौर है॥ *

न्हाय बड़े तड़के भरि कै जल फूलन की चुनि कै पुनि ढेरी।
त्यों 'पद्माकर' मंत्र मनोहर जै जगदंब अदंब अप री॥
या उर धारि कुवाँरपने भार पावन पूजा करी बहु तेरी।
चेरी गुबिंद के पायन की करिए गनगौर गुसाइन मेरी॥ †

पद्माकर बड़े राजसी ठाट में रहते थे, यह बात तो इनके परिचयवाले कवित्त से भी झलकती है। ये जब जयपुर में थे तो बड़े लाव-लश्कर के साथ सफर के लिए निकलते थे। एक बार जयपुर से बाँदा जाते समय इनके लाव-लश्कर को देखकर बूँदीवालों ने समझा कि कोई हमारे राज पर चढ़ाई करने आ रहा है, तब इन्होंने उनका भ्रम दूर करने के लिए एक कवित्त बनाकर सुनाया और उसमें कहा—"नाम 'पद्माकर' डराउ मति कोऊ भैया, हम कविराज हैं प्रताप महाराज के।"‡ बूँदी के महाराज ने इनका बड़ा सत्कार किया और इन्हें अपने यहाँ रहने को विवश किया। कहा जाता है कि इन्होंने वाल्मीकि रामायण का अनुवाद 'रामरसायन' के नाम से महाराज बूँदी के आग्रह

* लाला भगवानदीन संपादित 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' की भूमिका, पृष्ठ १२। इस छंद से मिलाओ जगद्विनोद, छंद ५२१, ५६६।

† माधुरी, १३-२-१, पृष्ठ १०। 'गनगौर' विषयक अन्य छंदों के लिए देखो पद्माकर-पंचामृत, पृष्ठ२७६, छंद ३१-३२।

‡ पूरे कवित्त के लिए देखो पद्माकर-पंचामृत, पृष्ठ २६६, छंद ३।

से ही बनाया।* इस ग्रंथ के विषय में कुछ लोगों का कहना है कि यह इनके दासीपुत्र का रचा है, क्योंकि इन्होंने एक सोनारिन रख ली थी।† कुछ लोगों का कहना है कि जयपुर में रहते ही समय इन्हें कुष्ट रोग हो गया था, जिसके निवारण के लिये इन्होंने रामयश-गान किया और वाल्मीकि रामायण का अनुवाद आरंभ किया एवं राम-वंदना के स्फुट छंद कहे, जो आगे चलकर 'प्रबोध-पचासा' के नाम से प्रसिद्ध हुए। चाहे जो हो 'रामरसायन' की रचना शिथिल अवश्य है, इसी आधार पर उसे कुछ लोग इनका रचा मानने को तैयार नहीं हैं।

इसके अनंतर ये तत्कालीन ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिंधिया के यहाँ गए और उनकी प्रशंसा में निम्नलिखित कवित्त पढ़ा—

मीनागढ़ ‡ बंबई सुमंद करि मंदराज,
बंदर को बंद करि बंदर बसावैगो।
कहै 'पदमाकर' कटा कै कासमीर हू को,
पिंजर सों घेरि कै कलिंजर छुड़ावैगो॥
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं,
साजि दल दपटि फिरंगिन दबावैगो।
दिल्ली दहपट्टि, पटना हू को झपट्टि करि,
कबहूँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो॥ ×

दौलतराव सिंधिया के नाम पर पद्माकर ने 'आलीजाह-प्रकाश' नामक एक नायिकाभेद का ग्रंथ बनाया। इस ग्रंथ में और 'जगद्विनोद'

---

* माधुरी, १३ २-१, पृष्ठ ११। लेखक का कहना है कि पद्माकर ने एक ग्रंथ 'अश्वमेध भाषा' भी यहीं बनाया।

† सरस्वती, ११-७।

‡ पाठांतर—छीनगढ़।

× माधुरी, १३-२-१, पृष्ठ ११।

में बहुत कम अंतर है।* 'जगद्विनोद' के ही छंद कहीं-कहीं थोड़े शब्दांतर से और अधिकांश में उन्हीं शब्दों में रखे हैं। वर्णन-पद्धति में भी कोई अंतर नहीं है। हाँ, आरंभ में दौलतराव की प्रशंसा के छंद रखे हुए हैं। यथास्थान कुछ अंतर भी पाया जाता है। जैसे कहीं-कहीं जगद्विनोद में जो उदाहरण दिए गए हैं उन्हें बदल दिया गया है। उदाहरण के लिए 'आलीजाह-प्रकाश' में मुग्धा का उदाहरण निम्नांकित है—

थापति-सी चातुरी सरापति-सी लंक अरु,
आपति-सी पारति महा अजानपन में।
कहै 'पदमाकर' सुओप दरसावति सी,
ल्यावति सी नैसुक उँचाई उरोजन में॥
लाज ही बुलावति-सी सखिन रिझावति-सी,
नावति-सी प्रीति अति प्रीतम के मन में।
आँखिन असोसति-सी झीसति सी मंद-मंद,
आवति चली यों तरुनाई तिय तन में॥†

इसी प्रकार शांत रस का उदाहरण यह दिया गया है—

सब में रहै भासि, सदा सब तें, मन माया मलीन को जीतत हैं।
'पदमाकर' वेदन को सुनि के गुनि कै गति ज्ञान की गीतत हैं॥
धनि हैं जन ते निज नेह में देह में, आतम बुद्धि न चीतत हैं।
परिपूरन ब्रह्म विचारहिं में, निज को छिन से दिन बीतत हैं॥†

तात्पर्य यह कि मोटे रूप में जगद्विनोद और आलीजाह-प्रकाश में

---

* देखो गोविंद गिल्लाभाई के गुजराती 'शिवराज शतक' की भूमिका, पृष्ठ ७७ ('आलीजाह प्रकाश' अने 'जगत-विनोद' ए बन्ने ग्रंथो मारी पासे लखेला छे। ते बे में जोयेल छे, तेमां घणुंखरुं सरखापणुं छे, मात्र आलीजाहमां चार-पांच कविताओ फेरफारवाळी छे)।

† माधुरी, ८-१-२, पृष्ठ २८२।

कोई विशेष अंतर नहीं है, दोनों एक ही ग्रंथ हैं। पद्माकर ने दौलत-राव के नाम से करने के विचार से उसे ही अदल बदलकर एक नया ग्रंथ बना डाला है। ग्रंथ के आरंभ के पद इस प्रकार हैं—

महाराज माधव-तनय, नृपमनि दौलतराव।
साहब सिँधिया-कुल-कलस, दया-दान-दरियाव॥
सोवत सेज फनिंद की, तब तें सुचित गुविंद।
जग जानिय जब तें जग्यो, दौलतराव नरिंद॥
दौलत आलीजाह नृप, हुकुम कियो निधि-नेहु।
आलीजाह-प्रकास यह, सरस ग्रंथ करि देहु॥
दौलत आलीजाह को, हुकुम पाय सविलास।
कवि 'पद्माकर' करत है, आलीजाह-प्रकास॥*

रचना-काल इस प्रकार दिया है—

निद्धि दुगुन करि जानि, उन पर अठहत्तर अधिक।
विक्रम सो पहिचानि, सावन सुदि इँदु अष्टमी॥*

ग्रंथ का उपसंहार इस प्रकार किया गया है—

दौलत नृप के हुकुम तें, आली अतिहि हुलास।
कवि 'पद्माकर' ही कियो, आलीजाह-प्रकास॥*

इति सिद्धिश्रीमथुरास्थमोहनलालभट्टात्मजकविपद्माकरविरचितं आली-जाहप्रकाशकाव्यं संपूर्णम्।*

इससे स्पष्ट है कि आलीजाह-प्रकाश की रचना १८७८ में हुई। पद्माकर के इसी ग्रंथ में रचना-काल मिलता है। ग्वालियर में ही इन्होंने दौलतराव के एक मुसाहिब 'ऊदोजी' के कहने से संस्कृत के 'हितोपदेश' का गद्यपद्यात्मक भाषानुवाद भी किया था—

---

* वही।

श्रीखंडोजी राव को सुत रानोजी राव।
वा सुत ऊदाजी उदित, जाको परम प्रभाव॥
ऊदाजी तॉत्या प्रबल, सुभमति गुन-गंभीर।
नृपमनि दौलतराव का, मुख्य मुसाहिब धीर॥
ऊदाजी के नेह सों, 'पद्माकर' सुख पाय।
राजनीति की वचनिका, यों भाषत चित लाय॥ *

ऊपर कहा जा चुका है कि जयपुर में ही पद्माकर के शरीर में श्वेत कुष्ट हो गया था। लौकिक वैद्यों की कुछ भी चलती न देख उन्होंने पारलौकिक वैद्य भगवान् रामचंद्र की शरण ली और 'रामरसायन' लिखना आरंभ किया। इसलिए ये जयपुर से छुट्टी लेकर बाँदा चले आए। लोगों का कहना है कि 'रामरसायन' बाँदा में समाप्त हुआ और उसके अनंतर 'प्रबोध-पचासा' समाप्त किया गया। कहते हैं कि भगवान् की शरण में जाने से रोग दब गया, किंतु दो-चार चिह्न यत्र-तत्र अभी बच रहे थे। इधर १८८१ में महाराज रत्नसिंह चरखारी की गद्दी पर बैठे। पद्माकर अपनी पुरानी प्रवृत्ति के अनुसार उनसे मिलने के लिए चरखारी गए, पर उन्होंने इनसे भेंट नहीं की। इस अपमान से इनके चित्त में बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। उस समय, कहा जाता है, इन्होंने निम्नलिखित कवित्त लिखा और राजा साहब के पास भेजा।

तुम गढ़ किल्ला सदा जोर करि जीतत हौ,
पिंगल अमरकोष जीतत जहाज हैं।
तुम सदा साम दाम दंड भेद न्याव करो,
चारो वेद हमहूँ सुनावत समाज हैं॥
हाथी घोड़े रथ ऊँट पैदल तुम्हारे साथ,
राखत सदा ही हम छप्पै छंद साज हैं।

* लाला भगवानदीन संपादित हिम्मतबहादुर-विरुदावली की भूमिका, पृष्ठ ८।

तुम सों औ हम सों बराबरि को दावा गिनौ,
तुम महराज हौ तो हम कविराज हैं॥ *

इसपर महाराज को आत्मज्ञान हुआ और उन्होंने पद्माकर से क्षमा माँगी। पर इनके चित्त में कुछ ऐसी आत्मग्लानि समा गई थी कि ये उनके यहाँ नहीं गए। वहाँ से घर को न लौटकर इन्होंने पतित-पावनी गंगा की शरण में जाने का निश्चय कर कानपुर की ओर प्रस्थान किया। कहा जाता है कि इन्होंने रास्ते में ही गंगाजी की स्तुति में 'गंगालहरी' की रचना कर डाली। गंगालहरी के छंदों को ध्यान से देखने से जान पड़ता है कि आरंभ के पद्यों में सामान्य वंदना है और अंत के पद्यों में मानो रचयिता गंगा के संमुख ही पहुँच गया हो। यही नहीं, रोगमुक्ति की चर्चा भी अंत के कवित्तों में है।† कानपुर में पद्माकर का कुष्ट नष्ट हो गया। पर उसके बाद ये केवल ६ मास तक और जीवित रहे। अंत में वहीं १८९० में स्वर्गवासी हुए।

पद्माकर के उपरिलिखित चरित्र को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि ये जीवन भर भटकते ही रहे। थोड़ा-सा जमकर रहने का अवसर इन्हें जयपुर में ही मिला। संसार के प्रवाह को दृष्टि में रखकर विचार करने से दो प्रकार के मनुष्य दिखाई पड़ते हैं, एक तो वे जो चाहे जैसी परिस्थिति में उत्पन्न हों, समाज की कैसी ही बुरी स्थिति में समाज के अंग बनें, लोक का सच्चा स्वरूप लख लेते हैं और अपनी नीची स्थिति को दबाकर ऊपर उठ जाते हैं। थोड़ी देर के लिए कवियों का ही दृष्टांत सामने रखिए। समाज दासता की बेड़ी पहनकर अथवा अकर्मण्यता की जंजीर बाँधकर अपने स्थान से चाहे टस से मस भी न हो, पर ऐसे कवि समाज के सामने ऐसा आदर्श रखते हैं जिससे लोग अपना कर्तव्य सीखें। मतवाद का वितंडावाद खड़ाकर जिस समय लोग

* माधुरी, १३-२-१, पृष्ठ १२।

† देखो छंद ५०।

जनता को अपनी-अपनी ओर खींचकर उसे और भी गड्ढे में ढकेल रहे थे उस समय तुलसीदास ने अपनी कविता के द्वारा समाज को सांप्रदायिक मतवाद में नहीं फँसाया, उसे गड्ढे से निकालकर 'राजडगर' पर खड़ा किया। ईश्वर का ऐसा स्वरूप, ऐसी भक्ति लोगों के सामने रखी जो सब वर्ग के लोगों के लिए, सब प्रकार की स्थिति में पड़े व्यक्तियों के लिए सब समय और सभी स्थानों पर सुलभ थी। इसका परिणाम भी अनुकूल ही हुआ। लोगों ने इस राजमार्ग पर आकर साँस ली, धक्कमधक्का से जान बची। इस प्रकार के कवियों के संबंध में कहा जायगा कि ये अपने समय की परिस्थिति को दबाकर ऊँचे उठे, उसके प्रवाह में स्वयं नहीं बहे। तुलसीदास को जाने दीजिए, वे महात्मा थे। भूषण को ही ले लीजिए। भूषण का आविर्भाव जिस समय हुआ उस समय चारों ओर श्रृंगार ही श्रृंगार छाया हुआ था। औरंगजेब के प्रचंड शासन से दुबककर उत्तर भारत के राजा-महाराजा सिर उठाने का साहस नहीं करते थे। उनके लिए शाही कर चुकाकर महलों के भीतर आराम करना ही सब कुछ था। इसलिए चाटुकार कवि उनकी प्रशंसा के साथ-साथ उनकी श्रृंगार-पिपासा को शांत करने के लिए नवोढ़ाओं की भाव-भंगी का चित्रण करने में ही लगे रहते थे। तात्पर्य यह कि लोभ के चश्मे के भीतर से वे सबको शाहंशाह मानते थे और केवल श्रृंगार-चषक पिलाकर उनके ऊपर दोहरा नशा चढ़ाया करते थे। और तो और भूषण के सगे भाई भी यही कार्य करते थे। पर भूषण ने श्रृंगार को लात मारी और वीर रस को अपना अभिप्रेत रस बनाया। इतना ही नहीं, नायक का चुनाव करने में भी भूषण ने बुद्धिमत्ता का परिचय दिया। शिवाजी और छत्रसाल ऐसे लोकरक्षक वीरों को अपनी कविता का नायक बनाया, हिम्मतबहादुर ऐसे साधारण लोगों को नहीं, जिनके प्रति जनता का कोई भाव ही न हो। प्रबंध-काव्य के विषय में, विशेषतः वीरकाव्य के विषय में ऐसे ही चरित्र-नायकों की आवश्यकता होती है जिनके प्रति

जनता की भावना पहले से भी कुछ बँधी हो, इतिहास-प्रसिद्ध अथवा प्रख्यात धीरोदात्त वीर के चरित्र को काव्य का वर्ण्य विषय बनाने का मूल यही है कि कवि लोग किसी ऐसे घुरहू पवारू का चरित्र-चित्रण न आरंभ कर दें जिनके प्रति समाज की कोई भावना ही न हो अथवा भावना बँधते-बँधते बँधे भी तो अश्रद्धा हो जाय। यदि सच पूछा जाय तो भूषण की कविता में अनुरंजन की मात्रा इसीलिए बढ़ गई है कि उसके नायक समाज के हृदय में पहले से ही घर करके बैठे हुए वीर हैं। अगर ऐसा न होता तो सूदन का 'सुजान-चरित' आज लोग विशेष पढ़ते, भूषण की कविता को आदर न देते। भूषण प्रवाह में बहे नहीं, उसे पार-कर, उसे पीछे छोड़कर बहुत आगे बढ़ गए। पद्माकर अपनी परिस्थिति को दबाकर ऊपर उठ जानेवाले व्यक्तियों में से नहीं थे। ये समाज के प्रवाह के साथ ही बहते रहे। जब जिस राजा के दरबार में पहुँचे, उसकी प्रशंसा के पुल बाँध दिए। इनमें काव्य निर्माण की जो प्रतिभा थी उसका रंजनकारी उपयोग न हो सका। यदि इन्होंने हिम्मतबहादुर-विरुदावली की भाँति अन्य नरेशों का विरुद ही गाया होता, जगद्विनोद आदि सामान्य रुचि के अन्य ग्रंथ न लिखे होते तो इन्हें कोई जानता भी नहीं। जगद्विनोद में भी नायिकाभेद को ही ग्रहण कर शृंगार के १०० ग्रंथों की सूची में एक संख्या भर बढ़ा दी, कोई नई उद्भावना नहीं की। इसलिए इस दृष्टि से ये अपना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। इनकी विशेषता विषय के निरूपण की बोधगम्य पद्धति और भाषा का सौष्ठव है। यदि केशव की तरह चमत्कार के फेर में पड़कर दूर की कौड़ी लाने के प्रयत्न में ये भी पढ़ जाते, भावों की अभिव्यक्ति में ऋजुता न रखते तो इनकी कोई पुस्तक साहित्य के काम की न होती। जीवन के अंतिम समय में इन्हें अपनी इस लोलुप वृत्ति के लिए पश्चात्ताप करना ही पड़ा। प्रबोध-पचासा के पद्यों में कवि के आभ्यंतर जीवन की भी झलक स्पष्ट दिखाई देती है—

पेट की चौरे चपेट सही, परमारथ स्वारथ लागि बिगारे।
त्यों 'पदमाकर' भक्ति भजी, सुनि दंभ के द्रोह के दीह नगारे॥

× × × ×

यों मन लालची लालच में लगि लोभ-तरंगन में अवगाह्यो।
त्यों 'पदमाकर' गेह के देह के, नेह के काज न काहि सराह्यो॥

× × × ×

ह्वै रहै होनी प्रयास बिना अनहोनी न ह्वै सकै कोटि उपाई।
जो बिधि भाल में लीकि लिखी सो बढ़ाई बढ़ै न घटै न घटाई॥ *

पद्माकर की सारी कविता इनके जीवन के अनुकूल ही चलती रही है। नवयौवन में इन्होंने वीर रस को अपनाया, युवावस्था में शृंगाररस में डूबे और ढलती अवस्था में भक्ति की कविता की। इन्होंने धन भी कमाया, पर उससे शांति नहीं मिली। ठाट इनका राजसी अवश्य था। 'लाखन की सामा हौं' से भी जान पड़ता है कि ये बड़े राजसी ढंग से रहनेवाले व्यक्ति थे। इनके चित्त में चोट भी करारी लगती थी। पद्माकर के विषय में बहुत-सी किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, उनसे और चाहे कोई तथ्य न निकले, पर इनके स्वभाव का थोड़ा-सा परिचय अवश्य मिल जाता है। ठाकुर (जैतपुरी, कायस्थ) और इनसे एक बार हिम्मतबहादुर के दरबार में कुछ बातचीत हुई थी। ठाकुर की कविता के संबंध में इनसे पूछा गया कि उनकी कविता कैसी है। इन्होंने अपनी स्पष्ट आलोचना तुरत सुना दी। इन्होंने कहा कविता अच्छी और भावमय है, पर शब्द हलके हैं। ठाकुर ने तुरत जवाब दिया कि इसी से मेरी कविता उड़ी-उड़ी फिरती है। इस प्रसंग से यह जान पड़ता है कि पद्माकर निर्भीक समालोचक थे। ठाकुर भावुक कवि अवश्य हैं, ऐसी कविता करने में बहुत कम कवि समर्थ हुए हैं, हिंदी में ठाकुर ऐसे

* देखो इसी प्रकार के अन्य स्थल, प्रबोध-पचासा, छंद १६, २६, ४५, ५०।

स्वतंत्र काव्य-रचयिताओं की संख्या थोड़ी है, वे अपनी अलग विशेषता लिए हुए हैं; पर शब्दों का यथेष्ट चुनाव अवश्य उनकी कविता में नहीं पाया जाता। पद्माकर ने शब्दों के चुनाव और संगठन पर विशेष ध्यान रखा है, विशेषतः इनकी प्रौढ़ावस्था की रचनाओं में इसपर विशेष दृष्टि रखी गई है। आगे चलकर इनकी रचना भी उड़ी-उड़ी फिरी, इसे तो कोई अस्वीकार कर ही नहीं सकता; पर उसने अपना प्रकृत गांभीर्य नहीं छोड़ा।

इसी प्रकार एक दूसरी कथा है, जिसके कारण पद्माकर ने 'वीर' शब्द का प्रयोग ही त्याग दिया था।* इससे इनके हृदय का, इनकी प्रकृति का परिचय मिलता है। ये दंगली कवि थे। आगे भी इनकी कविता पठंत के दंगलों में बराबर काम में आती रही और अब भी आती है। दंगली लोगों को हृदय पर चोट करनेवाले प्रसंगों का सामना भी करना ही पड़ता है और उसके आवेश में नाना प्रकार की भीष्म-प्रतिज्ञाएँ भी करनी पड़ती है।

कहा जाता है कि पद्माकर को तारादेवी का इष्ट था। इनके कुल में देवी की पूजा अब तक इष्टदेवी के रूप में चलती है, किंतु इनकी कविता के देखने से इस इष्टत्व का पता नहीं चलता। 'प्रबोध-पचासा' की कविता देखने से ऐसा जान पड़ता है कि ये राम के उपासक थे। इस पुस्तक में कुल ५१ छंद हैं, जिनमें केवल पहला शंकर की वंदना का है। जान पड़ता है, इसका संग्रह भ्रम से हो गया है। पुस्तक के नाम से भी इसमें ५० ही छंद होने चाहिएँ। अन्य पुस्तकों में के कई उदाहरणों में रामविषयक रचना पाई जाती है। राम के अतिरिक्त कृष्ण की वंदना के पद्य इनके तीन प्रारंभिक ग्रंथों के आदि में पाए जाते हैं। किंतु वे इनके इष्टदेव नहीं जान पड़ते। विषय के

* देखो लाला भगवानदीन संपादित हिम्मतबहादुर-विरुदावली की भूमिका।

अधिष्ठातृ देव समझकर तत्तत् ग्रंथों में उनकी वंदना की गई है। जगद्विनोद में 'जय जय शक्ति शिलामयी' का नाम ग्रामदेवी के रूप में ही आया है। नर-काव्य में इस प्रकार सना रहनेवाला कवि, कि जिसके सामने पहुँचा कुछ-न-कुछ उसकी प्रशंसा छंद में बाँध ही दी, अपनी इष्टदेवी पर कुछ न कहे, अवश्य एक विचारणीय बात है।

पद्माकर के स्वभाव का और कोई परिचय इनके काव्य से नहीं मिलता। इनमें प्रतिभा अवश्य थी, पर कहीं कहीं उसका दुरुपयोग भी हुआ। पर जहाँ इन्होंने थोड़ा-सा भी ध्यान दिया है वहाँ इनकी कविता चमक उठी है।

प्रबंध-विधान

मुक्तक-रचना करने की अपेक्षा प्रबंध-काव्य लिखना विशेष कठिन है; क्योंकि मुक्तक-रचना में साहित्यशास्त्र में गिनाई हुई रस-सामग्री यदि पूर्ण हो गई तो कवि को सफलता मिल जाना सरल है, पर प्रबंध-रचना में केवल रस-सामग्री का एकत्र हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। उसमें प्रवाह का भी ध्यान रखना पड़ता है। इस प्रवाह में जब तक लेखक पाठकों को मग्न न कर सके तब तक वह सफल नहीं कहा जा सकता। रीतिकाल के कवि मुक्तक-रचना में जितने सिद्धहस्त थे उतने प्रबंध-रचना में नहीं। यहाँ तक कि आचार्य केशवदास भी प्रबंध-रचना में सफल नहीं हो सके। हिंदी में गिनाने को तो छोटे-छोटे कई प्रबंध-काव्य हैं, पर उनमें से बहुतों में प्रबन्ध कल्पना एवं संबंध-निर्वाह भी पूरा-पूरा नहीं पाया जाता, रस-संचार फिर हो तो कहाँ से हो। मुक्तक-रचना में मँजी हुई वाणी प्रबंध के क्षेत्र में आकर रोड़ी-मेड़ी ईंटों का ही महल खड़ा करती नजर आती है, उसमें वह प्रतिभा नहीं दिखाई पड़ती जो महल को गठा हुआ और मनोहर बना सके। जिन काव्यों में प्रेम का भी मेल था उनमें तो यत्र-तत्र कुछ रससिक्त प्रसंग मिल भी

जाते हैं, क्योंकि कवि लोग शृंगार-रचना का अभ्यास मुक्तक में बहुत कुछ कर चुके थे, पर जिन काव्यों में सूखा वीर रस पाया जाता है वे और भी असफल रहे। शृंगार की उपासना करनेवाले कवियों के हाथ में पड़कर वीर रस में केवल बंदूक और तोपों की 'धड़ाधड़, भड़ाभड़' और तलवारों की 'चमाचम' के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता। वीर रस के स्थायीभाव उत्साह के स्वरूप-भेद की दृष्टि से यद्यपि वीरों के भी कई स्वरूप माने गए हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि युद्धवीर ही को हिंदीवाले इस रस का मुख्य आलंबन मानते आ रहे हैं। भूषण ऐसे वीर रस के प्रमुख कवि भी जब प्रबंध-रचना में संलग्न नहीं हुए और मुक्तक-रचना में संलग्न होकर भी जब केवल शिवाजी की युद्धवीरता का ही चित्र खींचते रह गए तो औरों से अधिक आशा करना व्यर्थ है।

रस-संचार में सबसे आवश्यक वस्तु है आलंबन। किसी रस का आलंबन जब तक उपयुक्त न होगा तब तक कविजी लाख माथा मारें उनकी कविता रस-संचार तो दूर रहा, रस का कोई स्वरूप ही नहीं खड़ा कर सकती, कभी-कभी तो बात ही उलट जाया करती है। यदि किसी हिजड़े को वीर रस का आलंबन बनाकर तोपों की बाढ़ का ताँता लगा दिया जाय, बाणवर्षा से ब्रह्मांड को घेर दिया जाय और तलवार की काट से बहे हुए रुधिर से बड़े बड़े समुद्र भी भर दिए जायँ तो भी कोई रस या भाव पाठक के हृदय में नहीं उदय होगा। मुक्तक-रचना में भी जहाँ पाठक को स्वयं प्रसंग का आक्षेप करना होगा वहाँ तो गनीमत है, पर जहाँ प्रसंग स्पष्ट होगा और आलंबन उपयुक्त न होगा वहाँ रस का एक बिंदु भी नहीं निकल सकता, फिर प्रबंध की तो बात ही न्यारी है। प्राचीन साहित्य-ग्रंथों में प्रबंध-रचना के लिए जो प्रख्यात कथावस्तु का विधान किया गया है* उसका भी यही रहस्य जान पड़ता है। ऐतिहासिक या

* इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।—साहित्यदर्पण।

प्रसिद्ध कथावस्तु के ग्रहण करने से आलंबन के प्रति पाठक या दर्शक की एक मनोवृत्ति पहले से ही बँधी रहती है। रस-संचार में वह मनोवृत्ति विशेष सहायक होती है, इसे तो मानना ही पड़ेगा। रामचरित को लेकर जितने भी काव्य रचे जाते हैं, उनमें असिद्ध कवियों को भी जो कहीं-कहीं सफलता मिल जाती है उसका रहस्य यही मनोवृत्ति है। 'रामचंद्रिका' प्रबंध-काव्य की दृष्टि से एक असफल रचना मानी जाती है, पर उसमें भी कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ पाठकों की वृत्ति रमती है, इसका कारण पाठकों की राम की ओर से बँधी हुई एक मनोवृत्ति भी है। भूषण की कविता के आदर का मूल कारण आलंबन का ही चुनाव है, यदि वे शिवाजी और छत्रसाल ऐसे वीरों को अपनी कविता का आलंबन न बनाते तो उनकी कविता को कोई पूछता भी नहीं, क्योंकि रस-सामग्री की पूर्णता भूषण की कविता में बहुत कम मिलती है। लोक का मंगल चाहने वाले वीरों के गुणगान में जिन कवियों की वाणी प्रवृत्त होती है, वे चाहे प्राकृत जन ही क्यों न हों, वाणी को कभी पछताना नहीं पड़ता। लोक-कल्याण भी ईश्वरत्व का चिह्न है। इसी से ऐसे वीरों की प्रशंसा के गीत अनंत काल तक जनता में प्रचलित रहते हैं। आल्हा और ऊदल की प्रशंसा के गीत अब तक जनता बड़े चाव से गाती और सुनती है। यहाँ तक कि उसकी मूल कविता प्रांतभेद से अपने ऐसे-ऐसे स्वरूप बना चुकी है कि उसमें कथा के अतिरिक्त और किसी प्रकार का एकत्व दिखाई ही नहीं पड़ता।

इसी प्रसंग में एक बार फिर उस परिस्थिति पर दृष्टि डालनी चाहिए जिसमें पद्माकर का आविर्भाव हुआ था। औरंगजेब के प्रचंड शासन का अंत हो जाने पर मराठों ने अपना सिर उठाया और अपने साम्राज्य का रूप विस्तार कर लिया, पर आगे चलकर फूट के कारण साम्राज्य का भी ह्रास हो गया। समस्त भारत में छोटे-छोटे राजा अपना-अपना राज एक दूसरे से लड़ते झगड़ते किसी प्रकार चलाने लगे।

उनमें न तो कोई शक्ति थी और न हौसला। जो थोड़ा भी प्रबल पड़ता था वह अपने पड़ोसी राज्य पर चढ़ाई कर बैठता और निर्बल राजाओं को दबाकर अपना राज्य बढ़ा लिया करता था। कवियों के इतिहास-प्रसिद्ध आश्रय अब थे ही नहीं। विक्रमादित्य और आगे चलकर भोज के समय सपने हो रहे थे, कवि लोग इन्हीं राजाओं अथवा यों कहिए कि बड़े-बड़े जमीदारों का आश्रय ग्रहण कर रहे थे। राजा साहब चाहे शिकार भी दूसरे का ही किया हुआ ग्रहण करते हों, रंगमहल से बाहर कभी पैर भी न देते हों, पर उनकी काट से रण में बड़े-बड़े वीरों के औसान मिटा दिए जाते थे, अर्जुन आदि वीर उनके सामने पानी भरने लगते थे! कवियों की यह वेश्यावृत्ति उस समय बड़ी ही शोचनीय थी। यही नहीं, कवि लोग कुछ कविताएँ बना लेते थे और विभिन्न आश्रय-दाताओं के यहाँ पहुँचकर उसी कविता में कुछ अगाड़ी-पिछाड़ी जोड़ अपना घोड़ा कुदाने लगते थे। कहीं नाम ही बदलकर काम चला लिया करते थे। कभी उनके नाम पर ग्रंथ की रचना कर देते थे। देव ऐसे कवियों को भी यही करना पड़ा। कहीं कुशल-विलास की रचना करनी पड़ी तो कहीं भवानी-विलास की। पद्माकर भी उस समय के प्रवाह से पृथक् नहीं थे। इनके जगद्विनोद और आलीजाह-प्रकाश में केवल अगाडी-पिछाडी के पद्यों का ही भेद है। दासता और दरिद्रता के कारण कवियों में वह बुद्धि और दृढ़ता नहीं रह गई थी जो सत्पक्ष का समर्थन करती।

तात्पर्य यह कि काव्यबंध में किसी कवि के लिए जो सबसे पहले विचारणीय बात है उसपर पद्माकर ने एकदम ध्यान नहीं दिया और ऐसा करने में तत्कालीन परिस्थिति भी सहायक थी। कवि लोग द्रव्य-प्राप्ति की इच्छा से इधर-उधर भटकते फिरते थे। पद्माकर भी उस नीचे स्तर से ऊँचे नहीं उठ सके। किसी भी काव्य में केवल शास्त्रकथित बातों का पालन ही यथेष्ट नहीं होता। यदि यही बात होती तो केशव

की रामचंद्रिका हिंदी में सर्वोत्तम काव्य मानी जाती। शास्त्रीय परिपाटी का पालन केवल इसीलिए आवश्यक है कि काव्य के उद्देश्य की पूर्ति हो। काव्य का उद्देश्य रसाभिव्यक्ति ही मानी गई है। रसाभिव्यक्ति में यदि सबसे पहले आलंबन ही विघातक सिद्ध होगा तो काव्यबंध किस काम का। इसीलिए शास्त्रकारों ने स्पष्ट कह दिया है कि शास्त्र-स्थिति के संपादन की इच्छा से कुछ लिखना-पढ़ना ठीक नहीं, रसाभिव्यक्ति पर ध्यान रखना चाहिए।* रसवत्ता उत्पन्न करने के लिए कवि को विभावादि के सम्यक् संघटन में, उसके औचित्य में संलग्न होने की आवश्यकता है।

यदि पुस्तक के नायक की अनुपयोगिता का विचार छोड़कर भी, 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' के वर्णनादि पर विचार किया जाय तो भी कोई विशेषता नहीं लक्षित होती। सूची गिनानेवाली प्रवृत्ति स्थान-स्थान पर लक्षित होती है। सूदन ने हिंदी में 'सुजान-चरित' नामक एक बड़ा वीरकाव्य लिखा है, पर उसमें स्थान-स्थान पर हथियारों, घोड़ों आदि की किस्मों के नाम ही गिनाए गए हैं। केशव आदि में और चाहे जो हो सूची गिनाने की भद्दी प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। पद्माकर ने भी अर्जुन सिंह के सहायकों में राजपूतों के छत्तीसों कुलों का नाम गिना डाला है। तलवारों का प्रसंग आया तो गिना चले—चंदरी, सुरती, लीलम, खुरासानी, दलनिधिखानी आदि आदि। तोपों का नाम लिया तो उसके भी पचीसों नाम ले लिए। यदि इतने प्रकार की तलवारें और तोपें रण में चली भी हों तो भी रसभंग का ध्यान रखकर इनकी सूची कम करनी चाहिए। इसके विरुद्ध जहाँ इतने प्रकार के हथियारों की संभावना भी न हो वहाँ इनका नाम केवल अपनी जानकारी दिखाने के लिए लेना

* सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया॥
—ध्वन्यालोक।

बहुत भद्दा है। मनुष्यों का वर्णन करते समय अथवा राजाओं का चरित्र लिखते समय इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि उस राजा की सामर्थ्य से परे की बात तो नहीं कही जा रही है। यही नहीं, भूषण आदि कवियों की देखादेखी और परंपरा का निर्वाह करने के विचार से कुछ बातें ऐसी भी कह डाली गई हैं जो ऐसे ग्रंथों में इतिहास-विरुद्ध पड़ती हैं। जैसे—

बज्जत जय-डंका, गज्जत बंका, भज्जत लंका लौं अरि गे।
मन मानि अतंका, करि सत संका, सिंधु सपंका तरि-तरि, गे॥

इन पंक्तियों को लेकर अगर कोई आलोचक यह सिद्ध करने के लिए डट जाय कि हिम्मतबहादुर ने समुद्र पार तक शत्रुओं को खदेड़ दिया अथवा लोगों ने भागकर लंका में शरण ली, तो एक तमाशा खड़ा हो जाय। ऐसा कहने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि कुछ लोग ऐसी ही बातों को लेकर बड़ी बड़ी 'थ्योरियाँ' खड़ी करने लगे है।

ऊपर के इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि कवि अपनी कल्पना से कुछ काम ले ही नहीं। कवि को कल्पना से काम लेने का पूर्ण अधिकार है, पर उसके कल्पित प्रसंगों में भी रसाभिव्यक्ति के लिए स्थान होना चाहिए। यदि कवि ने ऐसे प्रसंग जोड़ दिए हैं जो किसी प्रकार का भावोद्रेक नहीं करते, केवल घटना-चक्र ही उपस्थित करके रह जाते हैं तो ऐसे प्रसंग फालतू समझे जायँगे। काव्य में नाना प्रकार के वर्णन करने का जो निर्देश शास्त्रों में किया गया है उसका भी तात्पर्य यही है। वर्णन काव्य में वही कार्य करते हैं जो थके हुए व्यक्ति के लिए वाटिका करती है, घटना-चक्र से थककर पाठक जब अपने हृदय को कुछ विश्राम देना चाहता है तो वर्णन ही उसे रमा सकते हैं। पद्माकर ने इस काव्य में वर्णन तो रखे हैं, पर वे स्फुट संग्रह मात्र हो गए हैं। कोई वर्णन जमा हुआ नहीं है, जिसमें पाठक की वृत्ति रम सके। ब्रजभाषा की स्वच्छंद प्रकृति की आड़ लेकर जो अक्षरमैत्री दिखाने का यथास्थान उद्योग किया

गया है, यद्यपि वह है वीर रस के अनुकूल पर उससे दृश्य के चित्रण में कोई विशेष सहायता नहीं ली गई है। जैसे—

तहँ ढुका-ढुकी, मुका-मुकी, ढुका-ढुकी होन लगी।
रन झुका-झुकी, भिका-भिकी, फिका-फिकी जोर जगी॥
फाटत चिलता हैं, इमि असि बाहैं, तिनहिं सराहैं, बीर बड़े।
टूटैं कटि भिलमैं, रिपु रन बिलमैं, सोवत दिल मैं, खड़े-खड़े॥

इस वर्णन में कहीं भी जमकर किसी हथियार या वीर की काट का दृश्य उपस्थित करने का प्रयत्न लक्षित नहीं होता।

कहीं-कहीं तो वीरों के भाषण भी ऐसे रख दिए गए हैं जो संसार की असारता का स्वरूप सामने लाते हैं, वीरोन्मेष उत्पन्न करने में उतने सहायक नहीं होते। कहीं-कहीं तो ये भाषण इतने लंबे कर दिए गए हैं कि जी ऊबने लगता है। अर्जुनसिंह का यह उपदेश वीरोचित न होकर विरक्त जनोचित हो गया है—

जिन की बदी है मीच अब, तिन की न इत-उत बचाहिगी।
जिन की नहीं है बिधि रची, तिन के न तन कों तचाहिगी॥
जग में जु जन्म बिवाह जीवन मरन रिन धन धाम ये।
जिहि कों जहाँ लिखि दियो प्रभु, तिहि को तुरत तिहि ठाम ये॥
भेटै धनंतर-से जु बैद, सु यों अनेक बिधैं करै।
पर काल है जिहि को जहाँ, तिहि को तहाँ तें नहिं टरै॥
चढ़ि जाइ हिम गिरि हाँकि कै, लपटाइ आसुर अजय सों।
ततकाल जो निज काल नहिं तौ बचहि एते गजब सों॥

क्षत्रियों और राजपूतों के लिए इस उपदेश की आवश्यकता नहीं कि जिसको मरना होगा वह घर बैठे मर जायगा और जिसे बचना होगा वह आग में कूदकर भी न मरेगा। वहाँ तो मरने और जीने का सवाल ही नहीं होता। आवश्यकता होती है केवल उनके प्रकृतिस्थ उत्साह को उद्दीप्त करने की, वह प्राचीन वीरों की रण-कथाओं से उद्दीप्त किया जा सकता

है। आल्हा-ऊदल की कथा सुनकर कितने ही वीर नाच उठते हैं। यदि कोई वीर रण-प्रस्थान के समय अपनी रोती हुई पत्नी या माता को इस प्रकार की सांत्वना देता होता, तो भी कोई बात थी। शत्रु की तुच्छता अथवा उसके बलशाली होने पर भी वास्तविक वीरों का उसे पराजित कर सकना आदि उन्हें उत्तेजित कर सकता है, संसार के जीवन मरण का प्रश्न छेड़ बैठना नहीं।

तात्पर्य यह कि हिम्मतबहादुर-विरुदावली में हम कोई ऐसी बात नहीं पाते जिससे उसे सफल काव्य कहा जा सके। कुछ लोगों ने इसे हिंदी का सुंदर, यहाँ तक कि सर्वोत्तम वीरकाव्य कह डाला है। जान पड़ता है कि तोपों की भड़ामड़ और उनकी सूची से वे लोग धोखे में आ गए। पहले कहा जा चुका है कि हिंदी में वीरकाव्य कई बने, पर उनमें वे गुण नहीं मिलते जो वीरकाव्य के उपयुक्त होते हैं। जैसे 'हम्मीर-हठ' को ही ले लीजिए। यह एक छोटा-सा प्रौढ़ वीरकाव्य है। पर इसमें भी वीरकाव्य के गुण नहीं पाए जाते। हाँ, एक बात अवश्य है कि इसमें सूची गिनाने का प्रयत्न कहीं भी लक्षित नहीं होता। इसमें सबसे भद्दी बात तो यह है कि प्रतिपक्षी अलाउद्दीन के शौर्य का वैसा वर्णन नहीं है जैसा हम्मीर के शौर्य का। यहाँ तक कि वह बेचारा एक चुहिया के फुदकने मात्र से त्रस्त हो जाता है और यह प्रसंग भी अश्लीलता को लेकर रखा गया है। वीर रस के काव्य में इस प्रकार के प्रसंग ही नहीं रहने चाहिएँ। पद्माकर ने इस बात का ध्यान अवश्य रखा है। काव्य के नायक का प्रतिपक्षी भी वैसा ही शौर्यशाली दिखाया गया है, जैसा कि स्वयं नायक। अश्लील तो क्या, शृंगार के प्रसंग भी नहीं आने दिए गए हैं। यह दूसरी बात है कि आरंभ में नायक का वर्णन करते समय कुछ शृंगारी रूपकों की भी योजना कर दी गई है, यद्यपि ऐसी बातें भी इस प्रकार के काव्यों में विघातक ही होती हैं, पर नवयुवक कवि की इस प्रवृत्ति को उतना बुरा नहीं कहा जा सकता।

भूषण ऐसे लोगों ने भी ऐसा किया है। और तो और कालिदास ऐसे रससिद्ध कवि ने तो रस-विरोधी रूपक तक बाँध डाले हैं।*

पद्माकर हिंदी की परंपरा से भी परेशान थे। केशवदास की बाँधी हुई परिपाटी का विचार करके और सुजान चरित आदि वीरकाव्यों को सामने रखकर पद्माकर की पुस्तक की परीक्षा की जाय तो यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इन्होंने परंपरा का पूरा निर्वाह किया है और उस दृष्टि से इनका काव्य बुरा नहीं है। किंतु केवल परंपरा को ही मानदंड मानकर तो काव्यों की समीक्षा हो नहीं सकती। यदि यही बात थी तो पद्माकर संस्कृत के भी प्राचीन वीरकाव्यों की परंपरा देख सकते थे। रामायण और महाभारत उनके आदर्श होते।

अलंकार-निरूपण

हिंदी-साहित्य के रीतिकाल में अलंकार-ग्रंथ दो प्रकार के देखे जाते हैं एक तो ऐसे ग्रंथ जिनमें लक्षणा, व्यंजना और गुण-दोष के विवेचन के साथ-साथ अलंकारों का निरूपण है और दूसरे वे जिनमें केवल अलंकारों का ही वर्णन है। अलंकारों के साथ साथ अन्य काव्यांगों पर कुछ विस्तार के साथ विचार करनेवाले ग्रंथ हिंदी में थोड़े हैं। संपूर्ण काव्यांग पर दृष्टि डालनेवाले आचार्यों में केशव, चिंतामणि, कुलपति, श्रीपति, सूरतिमिश्र, भिखारीदास आदि हैं। इनमें से केशव को छोड़कर शेष आचार्यों ने संस्कृत के काव्यप्रकाश को ही मुख्यतः अपना आधार बनाया है। किसी-किसी ने साहित्यदर्पण से भी सहायता ली है। काव्यप्रकाश संस्कृत-साहित्य में सबसे प्रौढ़ ग्रंथ माना जाता है। यद्यपि उसके निर्माण के अनंतर भी संस्कृत में 'रसगंगाधर' ऐसे प्रौढ़

---

* राममन्मथशरेण ताडिता दु सहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥

—रघुवंश।

ग्रंथ की रचना हुई, किंतु मम्मटाचार्य की बाँधी हुई परिपाटी से बाहर जाने का प्रयत्न तो क्या किसी ने साहस भी नहीं किया। वस्तुतः काव्य-प्रकाश में नाट्यशास्त्र को छोड़कर काव्यशास्त्र का बड़ा ठोस निरूपण कर दिया गया है। आगे चलकर केवल अलंकारों में ही लोगों ने कमी-बेशी की, और बातें तो ज्यों की त्यों, यहाँ तक कि उदाहरण भी उसी के रख दिए हैं। केशव ने मम्मटाचार्य का अनुगमन न करके अलंकारवादी अथवा चमत्कारवादी दंडी का अनुकरण किया है। कविशिक्षा की कुछ बातें उन्होंने अमरदेव की 'काव्य-कल्पलतावृत्ति' से लेकर जोड़ दी हैं। किंतु वामन, दंडी आदि चमत्कारवादियों का प्रभाव संस्कृत-साहित्य में ही नहीं रह गया था, इसलिए हिंदी में केशव की जमाई हुई कविशिक्षा की परिपाटी नहीं चल सकी। यद्यपि काव्य लिखनेवालों पर कविप्रिया का प्रभाव बहुत दिनों तक रहा, पर रीतिशास्त्र के क्षेत्र में कविप्रिया का उपयोग नहीं के बराबर हुआ।

जो लोग केवल अलंकार-निरूपण को लेकर चले उन्होंने संस्कृत के 'चंद्रालोक' और उसके अलंकार-प्रकरण की टीका 'कुवलयानंद' से सहायता ली। कुछ लोगों ने मोटे रूप से उसका अनुवाद ही कर डाला। आगे चलकर हिंदी में जो बहुत-से अलंकार-ग्रंथ बने वे इसी ग्रंथ के आधार पर। चंद्रालोक में अलंकारों का विस्तृत विवेचन नहीं है। विषय को थोड़े में समझाने और कंठस्थ करने योग्य बनाने के विचार से एक ही श्लोक में लक्षण और उदाहरण दोनों रख दिए गए हैं। चंद्रालोक संस्कृत-साहित्य के अंतिम काल का ग्रंथ था। उसको लेकर भाषा में रीतिशास्त्र के कई ग्रंथ बने, पर हिंदी में उसके आधारभूत प्राचीन ग्रंथों में जसवंतसिंह का 'भाषा-भूषण' विशेष प्रचलित हुआ। आगे चलकर और कवियों ने जो अलंकार-ग्रंथ लिखे उनके निर्माण में उन्होंने भाषा-भूषण से ही सहायता ली है; क्योंकि आगे के कवियों ने चंद्रालोक के श्लोकों के ढंग की भाषा-भूषणवाली दोहों की शैली नहीं पकड़ी है,

जिसमें लक्ष्य और लक्षण दोनों आ जायँ। उन्होंने लक्षण तो दोहों में ही रखे हैं, पर उदाहरण आदि कुछ बड़े छंदों में (कवित्त, सवैयों) में दिए हैं, जैसे ललित-ललाम, शिवराजभूषण आदि। इन ग्रंथों के रचयिताओं को आचार्य न मानकर कवि मानना ही अधिक उपयुक्त होगा। पर जिन्होंने दोहों में ही ग्रंथ लिखकर चंद्रालोक और भाषा-भूषण की नकल की है उनका प्रयत्न शास्त्र का बोध कराना मानना पड़ेगा। ऐसे ग्रंथों में भी कुछ ऐसे हैं जो शास्त्र-बोध के साथ-साथ अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय देने का प्रयत्न करते से जान पड़ते हैं। ऐसे लोगों ने अपने सभी उदाहरण श्रृंगार के अथवा किसी विशेष रस के रखे हैं। जहाँ श्रृंगार आदि के उदाहरणों के आने से विषय की क्लिष्टता बढ़ती है वहाँ भी उन्होंने वैसा ही किया है; जैसे भाषाभरण।

भाषा-भूषण मोटे रूप से चंद्रालोक का अनुवाद है। उसमें रचयिता ने यथास्थान कुछ बातें ऐसी लिखी हैं जो शास्त्रीय विचार से अशुद्ध हैं और कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ काम चलाने का प्रयत्न किया गया है। किंतु पद्माकर का 'पद्माभरण' चंद्रालोक का अनुवाद नहीं है। इसमें लक्षण अवश्य उसी के आधार पर बनाए गए हैं, पर उदाहरण पद्माकर ने अपने रखे हैं। इसके साथ ही इसमें श्रृंगार के उदाहरणों का आग्रह होने पर भी दुराग्रह कहीं नहीं है। यथास्थान अन्य ढंग और रसादि के उदाहरण भी रखे गए हैं। कहीं-कहीं आवश्यकता पड़ने पर चंद्रालोक और कुवलयानंद के उदाहरणों की भी सहायता ले ली गई है, पर बहुत कम।

पुस्तक को ध्यान से देखने पर जान पड़ता है कि पद्माकर ने यह पुस्तक बैरीसाल के 'भाषाभरण' को देखकर बनाई है। फिर भी इन्होंने अंधानुसरण नहीं किया है। इनके सामने मूलग्रंथ अर्थात् कुवलयानंद भी था। बैरीसाल की उक्त पुस्तक स्वयं कुवलयानंद के आधार पर लिखी गई है। पद्माकर ने केवल लुप्तोपमा के भेदों और प्रमाणालंकार का कुछ विस्तार भाषाभरण के अनुकूल किया है, अन्यथा इन्होंने यथास्थान

भाषाभरण को आदर्श रूप में ग्रहण नहीं भी किया है, जैसे उपमा के जो अन्य भेद पद्माकर ने रखे हैं वे भाषाभरण में नहीं हैं। व्याज-स्तुति में इन्होंने विषय के अभेद और भेद का झमेला नहीं उठाया है, इसलिए यहाँ केवल तीन भेद हैं, पर भाषाभरण में व्याजस्तुति के कोई पाँच भेद हो गए हैं। फिर भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि वह पुस्तक इनके सामने थी। अंत में संसृष्टि और संकर के कुछ उदा-हरण इन्होंने भाषाभरण से ही उठाकर रख दिए है। भाषाभरण का अनुगमन आरंभ से ही लक्षित होता है। देखिए—

कहुँ पद तें कहुँ अर्थ तें, कहूँ दुहुन तें जोइ।
अभिप्राय जैसो जहाँ, अलंकार त्यों होइ॥
अलंकार यक ठौर में, जो अनेक दरसाहिं।
अभिप्राय कबि को जहाँ, सो प्रधान तिन माहिं॥
ज्यौं ब्रज में ब्रजबधुन की, निकसति सजी समाज।
मन की रुचि जा पर भई, ताहि लखत ब्रजराज॥

—भाषाभरण।

सब्द हु तें कहुँ अर्थ तें, कहुँ दुहुँ तें उर आनि।
अभिप्राय जिहि भाँति जहँ, अलंकार सो मानि॥
अलंकार इक थलहि में, समुझि परै जु अनेक।
अभिप्राय कबि को जहाँ, वहै मुख्य गनि एक॥
जा बिधि एकै महल में, बहु मंदिर इक-मान।
जो नृप के मन में रुच, गनियतु वहै प्रधान॥

—पद्माभरण।

ऊपर के छंदों के मिलाने से साफ जान पड़ेगा कि पद्माकर केवल शब्दों को बदलकर भाषाभरण का अनुगमन-मात्र कर रहे हैं। यही बात उदाहरणों के संबंध में भी है। पद्माकर ने अपने उदाहरण अधि-कांश ऐसे रखे हैं जो उन्होंने स्वतंत्र रूप में निर्मित किए हैं, पर बहुत

से उदाहरण ऐसे हैं, जो वे ही तो नहीं कहे जा सकते जो भाषाभरण में है, पर उसी की नकल पर गढ़े हुए अवश्य जान पड़ते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

कीजै अति अनुहारि सखि, वाकी चूकहि गोइ।
पिय के हिय को प्यार तौ, यहि विधि दोहरो होइ॥
—भाषाभरण।

तो सों रूसि रह्यो जु हो, ब्रजरसिकन को राय।
हौं दोहा कहि बेग ही, ल्याई ताहि मनाय॥
—पद्माभरण।

इसमें संदेह नहीं कि पद्माकर ने अनुकरण करने में सावधानी से काम लिया है और उसी के आधार पर जो अपनी उक्तियाँ गढ़ी हैं उनमें नवीनता है, उन्हें हम चोरी का माल नहीं कह सकते। यहाँ इस कथन और उल्लेख का तात्पर्य यह बतलाना था कि पद्माकर के सामने बैरीसाल का भाषाभरण था। पुरानी लकीर पर आँख मूँद कर चलने से पद्माकर को कहीं-कहीं धोखा भी खा जाना पड़ा है। सबसे पहले लुप्तोपमा को ही लीजिए। चंद्रालोक में लुप्तोपमाएँ आठ ही मानी गई हैं।* पर हिंदीवालों ने प्रस्तार करके १५ लुप्तोमाएँ बना डालीं। लुप्तोपमाओं का यह प्रपंच हिंदी में पुराना है। एक, दो और तीन का लोप तो था ही, उपमा में चारों अंगों का लोप भी एक लुप्तोपमा मानी गई है। यदि इन लुप्तोपमाओं का विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि कई लुप्तोपमाएँ ऐसी हैं जिनमें किसी प्रकार का चमत्कार रही नहीं सकता, अलंकार बने तो कैसे बने। जैसे उपमेयलुप्ता, धर्मोपमेय-लुप्ता, उपमेयोपमानलुप्ता, धर्मोपमानोपमेयलुप्ता, वाचकोपमेयोपमानलुप्ता, वाचकधर्मोपमेयलुप्ता। इनमें से अंतिम को कुछ लोग 'रूपकातिशयोक्ति'

* वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्य च।
एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा॥

नामक अलंकार मानते हैं, * क्योंकि वहाँ केवल उपमान रह जाता है। पर विचार करके देखा जाय तो वाचकधर्मोपमेयलुप्ता यदि संभव मानी भी जाय तो भी उसे रूपकातिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता। उपमालंकार में उपमेय और उपमान का भेद होना चाहिए और अतिशयोक्ति में (दोनों का अभेद होने के बाद) अध्यवसान होता है। उपमान में उपमेय निगीर्ण रहता है। इसलिए वाचकधर्मोपमेयलुप्ता ही रूपकातिशयोक्ति नहीं है। जो हो यहाँ केवल यही बतलाता है कि उक्त लुप्तोपमाएँ संभव नहीं हैं। संस्कृत के आचार्यों ने भी इसके भारी प्रपंच को व्यर्थ कहा है। †

इसी प्रसंग में एक बात और ध्यान देने योग्य है। उपमालंकार में उपमेय का लोप संभव नहीं जान पड़ता, क्योंकि वह वर्ण्य रहता है, इसलिए उसका प्रस्तुत रहना आवश्यक है। संस्कृत में केवल वाचकोपमेयलुप्ता मानी गई है, पर वहाँ लुप्तोपमाओं का विस्तार व्याकरण को लेकर हुआ है ‡। इसीलिए वाचकोपमेयलुप्ता वहाँ मान भी लें तो हिंदी में उसके मानने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि हिंदी में उस प्रकार के प्रयोग नहीं होते। संस्कृत में वाचकोपमेयलुप्ता के उदाहरण इस ढंग के दिए जाते हैं—"कान्त्या स्मरवधूयन्ती"। यहाँ कांति 'धर्म' और 'स्मरवधू' उपमान मौजूद हैं, पर वाचक और उपमेय नहीं है। 'स्मरवधूयन्ती' शब्द से स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि यह पद उपमा के लिए है अर्थात् इसका तात्पर्य है 'स्मरवधूमिवाचरन्ती' (कामदेव की स्त्री के समान आचरण करती हुई)। किंतु हिंदी

* अध्यवसानादतिशयोक्तिरियं न तूपमा। अन्यथाऽध्यवसानमूलातिशयोक्तेर्निर्विषयत्वापत्ते—काव्यप्रदीप।

† वस्तुनोऽय पूर्णलुप्ताविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनपरत्वादत्र शास्त्रे न व्युत्पाद्यतामर्हति—उद्योत।

‡ क्यचि वाधुपमेयासे—काव्यप्रकाश।

में जो उदाहरण इस लुप्ता के मिलते हैं उन्हें देखें तो रूपकातिशयोक्ति और उनमें कोई भेद लक्षित न होगा।

अटा उदय होतो भयो, छबिधर पूरनचंद।
हौं चलि चलि अवलोकिये, मन्मथ करन अनंद॥

—काव्य-कल्पद्रुम

वर्णन पढ़ने से साम्य का भाव किसी प्रकार लक्षित नहीं होता। 'पूरनचंद' पद स्पष्ट रूपकातिशयोक्ति का संकेत करता है, क्योंकि उसके भीतर 'मुख' छिपा है, उसे पढ़ते ही मुख झट से लक्षित हो जाता है। 'छबिधर' को धर्म मानने की क्या आवश्यकता, विशेषण क्यों न मानें। रूपकातिशयोक्ति में विशेषणों की रोक-टोक तो है नहीं। धर्म भी तो एक प्रकार का विशेषण ही है। रूपकातिशयोक्ति में जो उपमेय का लोप होता है वह उपमा से भिन्न प्रकार का होता है। वह लोप नहीं अध्यवसान है, उपमेय उपमान के पेट में बैठा रहता है। यही कारण है कि रूपकातिशयोक्ति अलंकार वहीं बनता है जहाँ प्रसिद्ध उपमान आते हैं। यदि अप्रसिद्ध उपमानों के द्वारा उपमेय का संकेत किया जाने लगे तो बड़ा तमाशा खड़ा हो जाय। तब तो कबीर की उलटबाँसियाँ और नाना प्रकार की तद्वत् पहेलियाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार ही हो जायँगी। इसलिए उपमेय का लोप संभव नहीं जान पड़ता। इस प्रकार केवल ७ लुप्तोपमाएँ हिंदी में ऐसी हैं जो मानी जा सकती हैं।

लुप्तोपमाओं के संबंध में एक बात और ध्यान देने की है। हिंदी के अलंकार-ग्रंथों में लुप्तोपमाओं का जहाँ प्रपंच है वहाँ उपमान-लोप के उदाहरण बड़े बेढंगे दिए गए हैं, उनसे उपमान के लोप का कोई पता नहीं चलता। उपमा में साम्य का संकेत जब तक न रहेगा तब तक उसे उपमा माना भी जाय तो कैसे! दूर जाने की आवश्यकता नहीं, भाषा-भूषण का ही एक उदाहरण लीजिए—

वनिता रस-सिंगार की कारन मूरति पेखि।

यह वाचकधर्मोपमानलुप्ता का उदाहरण है। इसमें केवल उपमेय रह गया है। इसका अर्थ है—'शृंगार रस की कारण-मूर्ति (कारण-रूप) उस नायिका को देखो।' इसमें किसी प्रकार के साम्य का कहीं पता भी नहीं है, केवल 'वनिता' का वर्णन है। यदि ऐसे ही उदाहरणों को उपमा के अंतर्गत माना जायगा, तब तो किसी भी व्यक्ति का नाम या वर्णन होते ही यह लुप्तोपमा आ धमकेगी। इस प्रकार के उदाहरणों में इस बात का ध्यान रखने की आवश्यकता है कि साम्य का भाव, अथवा साम्य के प्रयत्न की झलक ही सही, कुछ साम्य की चर्चा हो भी तो। जैसे—

अति अनूप जहँ जनकनिवासू।

इसमें 'अनूप' शब्द से, साम्य का वैसा भाव न सही, उसके प्रयत्न की झलक तो मिलती ही है। उपमा के खोजने में कवि ने दिमाग दौड़ाया, पर उसके लिए उपमा नहीं मिली। इसलिए यदि इसे धर्मवाचकोपमान-लुप्ता मान लें तो विशेष हर्ज नहीं है। संस्कृत की शैली पर उक्त लुप्तोपमा का उदाहरण यह माना जायगा—

केहरि कंधर चारु जनेऊ।

इसमें हिंदीवाले 'केहरि' को उपमान और 'कंधर' को उपमेय मानकर इसे धर्मवाचकलुप्ता मानते हैं। पर संस्कृतवाले 'केहरि' शब्द को केवल उपमा का सूचक मानते हैं, क्योंकि 'कंधर' का उपमान 'केहरि-कंधर' होता है, न कि 'केहरि'। बात यह है कि शास्त्रीय पद्धति का विचार उठ जाने से और उपमेय के लोप के लिए रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों में इस प्रकार के पदों के भी गृहीत होने से आगे चलकर लोगों ने इन्हीं को उपमान मान लिया। किसका वास्तविक उपमेय कौन है, यह बात भुला दी गई। हिंदी के प्राचीन अलंकार-ग्रंथों में दूसरे प्रकार के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते, पर पद्माकर ने उपमान के लोप में इस बात का पूरा ध्यान रखा है और ठीक संस्कृत का अनुगमन किया है। देखिए—

(१) गज-सम गमन सुमंद—उपमानलुप्ता।
(२) सुक-सी सुंदर येहु—उपमेयोपमानलुप्ता।
(३) मधुर कोकिला तान—वाचकोपमानलुप्ता।
(४) गज-सी गति अवरेखु—धर्मोपमानलुप्ता।
(५) सुनहु पिक बान—धर्मवाचकोपमानलुप्ता।
(६) समुझि मधुर मृदु क्वैलिया, कीन्हो तिहि पै कोप
—वाचकोपयोपमानलुप्ता।
(७) किय अनार उन पै जु रिस, समुझो आप-समान
—धर्मोपमेयोपमानलुप्ता।

यही नहीं, पद्माकर ने इसी अस्त्र के सहारे पूर्णलुप्ता अर्थात् चारों अंगों के लोप का उदाहरण भी रख दिया है। देखिए—

जाहि निरखि सुक मंद हुव, ताहि लखहु करि चोप।

पर यहाँ 'शुक का मंद होना' उपमा का द्योतक न होकर प्रतीप का द्योतक बन बैठा है।

अपह्नुति अलंकार को लीजिए। पद्माकर ने कुवलयानंद के अनुसार शुद्धापह्नुति में केवल वर्णनीय के धर्म का ही नहीं, उत्प्रेक्षित धर्मांतर के निह्नव का भी उदाहरण देने का प्रयत्न किया है, पर विषय के स्पष्ट न होने से दोनों के उदाहरण एक से हो गए हैं। इनके लक्षणों से ऐसा जान पड़ता है कि इन्होंने एक भेद में वस्तु (वर्णनीय) का छिपना माना है और दूसरे में उसके धर्म का। यदि पद्माकर ने वर्णनीय के धर्म का निह्नव और वर्णनीय के कवि द्वारा उत्प्रेक्षित धर्म के निह्नव को ऐसा समझ लिया है तो यह भ्रम है। वस्तुतः किसी वस्तु का निह्नव तो होता नहीं, होता है उसके धर्म का ही निह्नव। इनका पहला उदाहरण तो ठीक चंद्रालोक का अनुवाद है—

नायं सुधांशुः, किं तर्हि ? व्योमगङ्गासरोरुहम्।
—चंद्रालोक।

नहीं। कुवलयानंद में जो उदाहरण दिया गया है वह स्पष्ट इस बात को प्रकट करता है—

दृढ़तरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः॥

इसमें कृपण और कृपाण का उत्कर्षापकर्ष कुछ नहीं है, पर उनका शुद्ध व्यतिरेक है, जो 'केवलमाकारतो भेदः' से स्पष्ट है। किंतु पद्माकर ने जो उदाहरण दिया है उसमें भेद कहीं भी नहीं है, उपमान और उपमेय का वैलक्षण्य दिखाई ही नहीं देता, सब कुछ सम है—

रस अनुराग-भरे दुहूँ, दुहुँ प्रफुलित दरसात।
सब ही कों नीके लगत, लोचन अरु जलजात॥

यह व्यतिरेकालंकार नहीं कहा जा सकता। केवल सादृश्य प्रयोग के द्वारा एक व्यतिरेक दंडी ने माना अवश्य है, पर वहाँ भी सादृश्य का प्रयोग ठीक ऐसा ही नहीं है, थोड़ा सा ध्यान देने पर भेद लक्षित हो जाता है।*

यों तो पद्माकर के अन्य उदाहरणों में भी कहीं-कहीं गड़बड़ियाँ हैं, जैसे श्लेष के 'अनेक अवर्ण्य' वाले उदाहरण में कविता और कामिनी दोनों ही वर्ण्य से हो गए हैं। यदि इनमें से किसी एक को अवर्ण्य मान भी लिया जाय तो भी दोनों तो अवर्ण्य हो ही नहीं सकते। इसी प्रकार सामान्य-निबंधना का उदाहरण निदर्शना का उदाहरण हो गया है। किंतु इतना होने पर भी पद्माकर के उदाहरण बहुत साफ़ हैं।

रही लक्षणों की बात। लक्षणों को पद्माकर ने संस्कृत के अनुसार ही रखने का प्रयत्न किया है। इनके लक्षणों से जो कहीं कहीं अलंकार का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, वह एक तो समास-पद्धति के कारण, दूसरे

---

* सम्मुख पुण्डरीकं च फुल्ले सुरभिगन्धिनी।
भ्रमद्भ्रमरमम्भोजं लोलनेत्रं मुखं तु ते॥ —काव्यादर्श।
दूसरी पंक्ति पर विचार कीजिए।

लक्षणों के पद्यबद्ध होने से। यह दोष केवल पद्माकर में ही हो ऐसी बात नहीं है, यह हिंदी के अलंकार-ग्रंथों का क्या, रीति-ग्रंथों मात्र का सामान्य दोष है। बिना गद्य में लक्षणों का विवेचन किए उनका स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकता। संस्कृत में भी जहाँ श्लोकबद्ध कारिकाएँ लिखी गई हैं वहाँ उनकी वृत्ति गद्य में है। चंद्रालोक के श्लोकों को इसीलिए स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ी और अप्पय दीक्षित ने उसके अलंकार-प्रकरण पर कुवलयानंद लिखा। भाषाभूषण में भी, जो हिंदी के इस प्रकार के ग्रंथों का अग्रगामी है, इसी प्रकार का दोष है ही और कहना पड़ता है कि उसमें संस्कृत के लक्षणों का कहीं-कहीं ठीक अनुगमन तक नहीं है; यहाँ तक कि यदि संस्कृत के श्लोक सामने न रखे जायँ तो बहुत-से लक्षणों की संगति ही नहीं बैठती। पर पद्माभरण में इस प्रकार के दोष कम हैं। कहीं-कहीं लोगों को इसके लक्षणों के संबंध में जो संदेह हो गया है वह छापे की अशुद्धि के कारण। जैसे परिणाम का लक्षण और उदाहरण—

> सु परिनाम जहँ ह्वै बिषय, काज करै उपमान।
> बर बीरन के कर-कमल, बाहत बान-कृपान॥

इस दोहे का जो पाठ भारतजीवन प्रेस की प्रति में है उसमें 'ह्वै विषय' के स्थान पर 'है विषम' छपा है। इसलिए एक महोदय को भ्रम हो गया कि पद्माकर ने अपना यह लक्षण गढ़ लिया है, इसीलिए उन्हें यहाँ तक लिखना पड़ा कि यह लक्षण जहाँ तक विचार करते हैं किसी भी संस्कृत या हिंदी के ग्रंथ के अनुसार नहीं मालूम होता।* बात भी ठीक है। 'बिषम' पद के रहने से अवश्य वह किसी ग्रंथ में कथित लक्षण न होता, वस्तुतः वह पद्माकर का भी लक्षण न होता। 'बिषम' के रहने से अर्थ की संगति भी नहीं बैठती। उदाहरण में उपमान

---

* साहित्य-समालोचक, पद्माकरांक।

और उसके द्वारा किए जानेवाले कार्य में वैषम्य दिखाई पड़ता है, इसलिए उन्हें यह संगति बैठानी पड़ी कि जहाँ उपमान विषम कार्य करे। पर 'है विषम' स्पष्ट छापे की अशुद्धि जान पड़ती है। 'विषय' पद से लक्षण चंद्रालोक के अनुकूल हो जाता है। वहाँ लक्षण दिया गया है—

परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना।
प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा॥

जहाँ विषयी (उपमान) विषयात्म होकर (उपमेय का रूप धारण कर) कार्य करे वहाँ 'परिणाम' होता है। ठीक इसी का अनुगमन पद्माकर के लक्षण में है। उपमान उपमेय होकर (उसका रूप धारण कर) कार्य करे। परिणाम अलंकार में उपमान किसी कार्य के करने में असमर्थ होने के कारण उपमेय के साहचर्य से उस काय के करने में समर्थ हो जाता है। इसलिए पद्माकर का लक्षण चन्द्रालोकोक्त लक्षण से ठीक मिल जाता है।

हिंदी में संस्कृत के ग्रंथों का केवल अंधानुसरण ही नहीं हुआ, जहाँ गुंजाइश दिखाई पड़ी, लोग अपनी करामात भी दिखा चले। यह प्रवृत्ति संस्कृत के ही आलंकारिकों से आई है। जैसे लोगों ने साध्य और साधन की उक्ति में कुछ चमत्कार देखा तो उसे अनुमान नामक एक अलंकार मान लिया। आगे चलकर लोगों की प्रवृत्ति इस ओर बढ़ी तो उन्होंने पौराणिकों के आठों प्रमाणों को अलंकार का विषय बना डाला। हिंदीवालों को और कुछ नहीं सूझा तो उन्होंने प्रत्यक्षालंकार में सभी इंद्रियों के उदाहरण प्रस्तुत कर दिए। चमत्कार की ओर प्रवृत्ति बढ़ने से ही बहुत से अलंकारों का निर्माण हुआ।

प्राचीनों के 'अलंकारा एव काव्ये प्रधानम्' मत का जोर बढ़ा तो काव्य के अलंकारों के भीतर सभी संप्रदाय की बातों को खींचकर दिखाने का प्रयत्न किया जाने लगा। अलंकारों का दायरा इतना बढ़ा है कि उसके भीतर सभी कुछ आ गया। जैसे भगवान के उदर में नाना

ब्रह्मांड समा सकते हैं उसी प्रकार अलंकारों के पेट में संसार के सभी विषय आ सकते थे। इसीलिए कुछ लोगों ने अलंकारों को 'हारादिवत्' न मानकर 'सौंदर्यवत्' माना था अर्थात् उन्हें काव्य का स्थिर धर्म कहा, अस्थिर नहीं। संस्कृत में वामन, दंडी, रुद्रट आदि सभी चमत्कारवादी थे और इन लोगों ने अलंकारो को प्रधान रूप में ग्रहण किया था। व्यंग्य और रस आदि को भी अलंकारों के भीतर खींच लाने का दुराग्रह पुराना है, इसपर बहुत पहले से झगड़ा चला आ रहा है। ध्वन्यालोक में भी ध्वनि का विरोध करनेवाले और उसे अलंकार के अंतर्भूत समझनेवाले संप्रदाय की चर्चा है। आगे चलकर व्यंजना और अलंकारों का समुचित और समीचीन स्वरूप-निरूपण मम्मटाचार्य ने किया, जो अभिनवगुप्त पादाचार्य के अनुयायी थे। उन्होंने दिखलाया कि अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म है और हारादिवत् उनका उपयोग है। काव्य में यदि अलंकार न भी हो तो काव्यत्व की हानि नहीं। रस ही काव्य में मुख्य है। ध्वन्यालोक की परंपरा पर रसों को व्यंजना के भीतर दिखाया और अलंकारों को अव्यंग्य कहा। इसीलिए मम्मट ने फालतू अलंकार नहीं ग्रहण किए। रसवदादि आलंकारों को, जो बहुत पहले से माने जाते थे, अलंकार्य न होने के कारण अलंकार मानते हुए भी गुणीभूत व्यंग्य काव्य में ही पड़ा रहने दिया, अलंकार-प्रकरण में उनकी चर्चा नहीं की। मम्मटाचार्य का यह स्वरूप-निर्णय बहुत साफ और तात्त्विक था, पर आगे चलकर फिर चमत्कारवाद ने जोर पकड़ा और चंद्रालोक के कर्ता ऐसे चमत्कारवादी भी उत्पन्न हो गए, जो मम्मट पर उबल पड़े। उन्होंने मम्मट के काव्य-लक्षण* के 'अनलकृती पुनः क्वापि' का घोर विरोध करते हुए और अलंकारों को प्रधान मानते हुए लिखा—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।

---

* तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुनः क्वापि—काव्यप्रकाश।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥

काव्यांगों का जो तात्त्विक विवेचन मम्मट ने किया है, तदनुसार प्रत्येक का स्थान यथोचित निर्दिष्ट हो गया है। पर आगे के लोगों ने पूर्वाचार्यों का समन्वय दिखाने का प्रयत्न तो किया, पर यह विचार नहीं रखा कि इन काव्यांगों के स्वरूप की संगति कैसे बैठाई जायगी। चंद्रालोक का यह काव्य-लक्षण ऐसे ही ढंग का है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ॥

यह लक्षण तो वैसा ही है कि जिसमें ईंटा, चूना, पत्थर, लकड़ी, लोहा हो वह मकान है। जिस समय चमत्कारवाद का आग्रह फिर से बढ़ रहा था उसी समय हिंदीवालों की रुचि रीति-ग्रंथ लिखने की ओर हुई, इसलिए उन्होंने संस्कृत के उन्हीं ग्रंथों को सब कुछ समझ लिया। तत्कालीन प्रवृत्ति भी चमत्कार की ओर थी। मुसलमानों के आगमन से शृंगार के साथ ही साथ चमत्कार की ओर भी लोग विशेष प्रवृत्त हुए। इसीलिए संस्कृत के तात्त्विक विवेचनवाले ग्रंथों को हिंदीवालों ने एक तो पकड़ा ही बहुत कम और जब उसे ग्रहण भी किया तो चमत्कार को अलग नहीं कर सके। अन्यत्र तो चाहे उन्होंने जो कुछ किया हो, पर अलंकार-प्रकरण में पहुँचकर वे यह भूल गए कि अलंकार अव्यंग्य होने चाहिएँ। इसीलिए काव्यप्रकाशादि का अनुगमन करनेवाले ग्रंथों में भी अलंकारों की संख्या अथवा उनका निरूपण चंद्रालोक आदि के ढंग का रखा गया है, जैसे भिखारीदास का 'काव्य निर्णय'। काव्यांगों का स्पष्ट स्वरूप सामने न होने से किस प्रकार गड़बड़ी हो जाती है, इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। एक तो रसवदादि अलंकारों को गुणीभूत व्यंग्य के दायरे से निकालकर थोथे अलंकारों के भीतर दिखाना ही उतना ठीक नहीं, फिर भी यदि दिखाया जाय तो यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि गुणीभूत व्यंग्य में अथवा

अलंकारों में ही सही, व्यंग्य को जो गौण माना गया है, उसे वाच्य से बिलकुल दबता हुआ बताया गया है, वह कहीं फिर न प्रधान हो जाय। प्रेयान् या प्रेयोलंकार का पद्माकर-लिखित उदाहरण देखिए—

कब लखिहौं इन दृगन सों, वा मुख की मुसक्यान।

लेखक लिखता है कि 'चिंता' व्यभिचारी भाव यहाँ श्रृंगार रस का अंग है। प्रेयोलंकार में कोई भाव किसी रस या भाव का अंग होकर आता है। यहाँ भाव रस का अंग है। इस उदाहरण में एक तो 'चिंता' व्यभिचारी भाव ही नहीं है। क्योंकि चिंता में अनिष्ट के कारण चित्त की व्यग्रता होती है। पर यहाँ तो किसी प्रकार के अनिष्ट की संभावना नहीं दिखाई पड़ती। यहाँ अभिलाषा अवश्य है। विप्रलंभ-श्रृंगार की अभिलाष दशा का यह उदाहरण अवश्य जान पड़ता है। यदि चिंता और अभिलाष के इस मामले को छोड़कर भी विचार किया जाय तो भी कोई व्यभिचारी जब तक किसी रस के अनुकूल पड़ता है, उसका अंग बनकर आता है, तब तक उसमें वाच्य की प्रधानता कहाँ से हो जायगी, वहाँ तो व्यंग्य ही प्रधान रहेगा। व्यभिचारी भाव रस के अंग तो होते ही हैं। इसलिए इसमें कोई चमत्कार नहीं हुआ। वस्तुतः पद्माकर को भाषाभरण के आधार पर चलने के कारण ऐसा करना पड़ा। उसमें भी उदाहरण ऐसा ही है। कुवलयानंद में जो उदाहरण दिया गया है उसमें है तो व्यभिचारी भाव चिंता ही, पर वह आया है शांत रस में। भाव की रसांगता सब स्थलों पर कभी प्रेयोलंकार नहीं होती। काव्यप्रकाश में भावांगता ही का उदाहरण दिया गया है। भाव की रसांगता में इसीलिए विचार की आवश्यकता है।

इन बातों से स्पष्ट है कि पद्माकर ने अपने ग्रंथ के रचने में केवल परंपरा का पालन मात्र कर दिया है, आचार्य में विवेचन की जिस दृष्टि का होना आवश्यक है उसका अभाव इनमें भी है। पर इसे मान लेने में संकोच नहीं होना चाहिए कि चाहे पद्माकर ने जगद्विनोद में अपना

कवित्व ही दिखलाने का प्रयत्न किया हो, पर इनका अलंकार का यह ग्रंथ भाषाभूषण की ही भाँति आचार्य के रूप में अलंकारों का स्वरूप सामने रखने के विचार से लिखा गया है। साथ ही इसके स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि दो-चार झगड़े के स्थलों को को छोड़कर इन्होंने विषय को बहुत साफ़ रूप में रखने का प्रयत्न किया है। 'पद्माभरण' इसीलिए अलंकारों के बोध का एक अच्छा ही ग्रंथ कहा जायगा।

नायिका-भेद

हिंदी के रीतिकाल के ग्रंथों में जिस प्रकार अलंकारों का प्राधान्य रहा, उसी प्रकार श्रृंगाररस और उसके आलंबन नायक एवं नायिकाओं के वर्णन का भी। यहाँ तक कि अलंकार के कुछ ग्रंथों में अलकारों के साथ ही नायिका-भेद की भी चर्चा, संक्षिप्त रूप में ही सही, कर दी गई; जैसे भाषाभूषण में। रसचक्र के स्वरूप का निरूपण करने की प्रतिज्ञा करके भी जो लोग उदाहरण प्रस्तुत करने बैठे उन्होंने रसराज का और मुख्यतः उसके विभाव पक्ष का निरूपण तो बड़े विस्तार से किया, पर अन्य रसों का वर्णन केवल चलता करके ही छोड़ दिया। अधिकांश ग्रंथों में रसराज का ही गुणकीर्तन होता रहा। श्रृंगार का यह प्राधान्य संस्कृत-साहित्य के पतन काल से विशेष हो चला था। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में जो कविता मिलती है उसमें केवल श्रृंगार ही श्रृंगार के दर्शन होते हैं। इस परंपरा के अनुकरण के साथ ही मुसलमानों के साम्राज्य ने भी श्रृंगार की वृद्धि में सहायता पहुँचाई। उनके साम्राज्य के साथ ही साथ फारसी का साहित्य भी भारत में प्रसार पाने लगा, जिसमें श्रृंगार ही श्रृंगार था। भारत की तत्कालीन परिस्थिति भी इस रस-प्रवाह में सहायक हुई। औरंगजेब के पहले से ही दिल्ली की गद्दी के चारों ओर का वातावरण श्रृंगार से भर गया था। औरंगजेब की

धार्मिक कट्टरता और वीर प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप श्रृंगार की चर्चा दिल्ली के सिंहासन के निकट कुछ धीमी अवश्य पड़ गई, पर वहाँ भी भीतर ही भीतर आग सुलगती रही, दिल्लीश्वर के सामने चाहे लोग वीरोन्मेषशालिनी कविता का स्वाँग भरते रहे हों, पर परोक्ष में श्रृंगार का बवंडर कम नहीं हुआ। चिंतामणि आदि शाही दरबार में रहते हुए भी अपना जीवन श्रृंगार की सेवा में ही बिताते रहे। भूषण ने अवसर पर अपना सिंह-गर्जन अवश्य किया, पर औरंगजेब की आँखों के मुँदते ही अकर्मण्य और विलासी सम्राटों का समय फिर उसी आन-बान से आ जमा। मराठों की शक्ति का उदय दक्षिण मे हुआ, पर संमिलित संघटन के अभाव में उसकी पराजय ने ऐसा पासा पलटा कि सारे भारतवर्ष में फिर सुखनिंदिया की जँभुआई आने लगी। पहले श्रृंगार के केंद्र कम थे, पर अब इसके अड्डे जगह-जगह हो गए। लखनऊ के नवाबों ने दिल्ली के भी कान काट लिए। छोटे-छोटे जमींदारों तक का शगल नायिका-भेद की बारीकी निकालना एवं समझना हुआ और कवियों की वाणी उसके निरूपण में लगी। पद्माकर ने जब काव्य-रचना आरंभ की उस समय श्रृंगार-सरिता में पूरी बाढ़ थी। ये भी उसमें गोते लगाने लगे।

हिंदी में अलंकारों के निरूपण के आधार जिस प्रकार मुख्य रूप से चंद्रालोक और कुवलयानंद थे, उसी प्रकार नायिका-भेद के स्वरूप-चित्रण में भानुदत्त कृत 'रसमंजरी' आधार बनी। संस्कृत में नायिका-भेद का विस्तार से वर्णन करनेवाली और प्रचलित पुस्तक यही थी। रसमंजरी की परंपरा स्वतः पुरानी है, भानुभट्ट ने स्थान-स्थान पर पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है और उनके मतों का खंडन-मंडन भी कहीं-कहीं पाया जाता है। इस पुस्तक का नाम यद्यपि रसमंजरी है और इसीलिए इसमें रस-संप्रदाय का परिपूर्ण विवेचन देखने की आशा करनी चाहिए, पर यहाँ केवल श्रृंगाररस का और मुख्यतः विभाव-पक्ष (नायक-नायिकादि) का ही विस्तृत विवेचन मिलता है। अन्य रसों की चर्चा

ही नहीं है। हिंदीवालों ने अपने अनुकूल यही ग्रंथ पाया और इसी का अनुकरण किया। कुछ ग्रंथों में रसमंजरी के अनुकरण के साथ-साथ अन्य संस्कृत-ग्रंथों की भी सहायता ली गई है, जैसे रसिकप्रिया। केशव संस्कृत के पंडित थे, इसलिए उन्होंने अन्य ग्रंथों को भी उलटना आवश्यक समझा। संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों का आलोड़न करके उन्होंने रसिकप्रिया लिखी है। उसमें नाट्यशास्त्र, दशरूपक, साहित्यदर्पण और रसमंजरी सबसे सहायता ली गई। कामतंत्र की दो-एक बातें उन्होंने और बढ़ा दीं। केशव ने प्रकाश और प्रच्छन्न नामक थोथे भेद अपनी ओर से जोड़ दिए हैं केशव का अनुगमन आगे हुआ अवश्य, देव तक ने उन्हीं के अनुकरण पर वैसे ही भेद रखे हैं। पर नायिका-भेद का इतना भीषण प्रपंच लोगों के अनुकूल नहीं पड़ा। जिस प्रकार अलंकार आदि का स्थूल विवेचन उनकी रुचि के अनुकूल था उसी प्रकार नायिका-भेद का भी। यह बात एक प्रकार से अच्छी ही हुई, यदि देव की भाँति हिंदी में 'जाति-भेद' का आग्रह और बढ़ता तो नायिका भेद का पचड़ा साहित्य से निकाल फेंकने की वस्तु हो जाती। नायिका-भेद का यह विवेचन नाट्यशास्त्र और विशेषतः अभिनय की वस्तु थी, उसकी बहुत मोटी बातें काव्य में ग्रहण करने की थीं, केवल अवस्था, स्वभाव और श्रेणी के अनुसार उनके स्वरूप का संकेत-मात्र कर देने की आवश्यकता थी और वह भी इसलिए कि प्रबंधकाव्यों अथवा अन्य काव्य-ग्रंथों में पात्रों का स्वरूप-चित्रण करने में कोई बेठिकाने की बात न कह दी जाय, इसलिए नहीं कि उन्हीं विभेदों के केवल लक्ष्य प्रस्तुत करके काव्य के वास्तविक उद्देश्य से बाहर भटका जाय। काव्य का वास्तविक उद्देश्य रस-संचार है, यह नहीं कि लोग केवल किसी रस के आलंबन अथवा विभाव-पक्ष का निरूपण या वर्णन करते रह जायँ, भाव-पक्ष पर उनकी दृष्टि ही न हो। प्रबंधकाव्य आदि के द्वारा लोगों की चित्तवृत्ति को रमाना आवश्यक है। वस्तुतः काव्य में प्रबंध का विधान होने पर

ही काव्य का प्रधान उद्देश्य सफल होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मुक्तक-काव्य का साहित्य में कोई मूल्य ही नहीं। पर यदि कोई नीति के छंदों को ही मुक्तक काव्य का लक्ष्य समझ बैठे, तो अवश्य कहना पड़ेगा कि वह काव्य के स्वरूप को समझ नहीं सका। जिन मुक्तक-काव्यों की प्रशंसा की भी जाती है उनके संबंध में यह कहा जाता है कि वे प्रबंध का सा आनंद देते हैं। इससे भी समझा जा सकता है कि रस की सिद्धि के लिए जीवन के संपूर्ण अंग का नहीं तो उसके एक खंड का, अथवा एक छोटे से वृत्त का ही सही, आश्रय लेना आवश्यक है। संस्कृत के 'अमरुक-शतक' की मुक्तक रचना के संबंध में आनंदवर्धनाचार्य ने 'प्रबंधशतायते' लिखा है। इसका तात्पर्य यही है कि उसके कवि ने जीवन का कोई ऐसा अनुवृत्त लिया है जो अपनी सरसता में सौ प्रबंध काव्यों का सा आनंद देता है। यह नहीं कि उसके अनुवृत्त घटनाओं के जाल हैं अथवा उनसे विभिन्न अनुवृत्तों की व्यंजना होती है।

पद्माकर ने अपने जगद्विनोद में हिंदी की चली आती हुई परंपरा का पूर्ण अनुगमन किया है। सब ओर दृष्टि डालने से स्पष्ट लक्षित होता है कि पद्माकर परंपरा से तिल भर भी हटकर चलना नहीं चाहते थे। उनके जितने भी ग्रंथ मिलते हैं उनमें हिंदी की बँधी हुई परंपरा का ही पालन मिलता है। संस्कृत में कार्यभेद से नायिकाओं के आठ रूप माने गए हैं, पर हिंदी में बहुत पहले से 'अष्टनायिका' के स्थान पर 'दश-नायिका' का निरूपण होता आया है। जिन्होंने संस्कृत के चलते ग्रंथों को सामने रखकर अपना ग्रंथ प्रस्तुत किया वे तो पुरानी परंपरा को छोड़कर अष्टनायिका का ही निरूपण करके रह गए, पर जिन्होंने परंपरा पर ध्यान दिया या हिंदी के ही ग्रंथों को आदर्श माना उन्होंने दश भेद रखे। इस आठ और दश में कोई बहुत बड़ा अंतर भी नहीं है। सात भेद तो वे ही हैं, केवल प्रोषितभर्तृका के ही तीन-चार भेद और कर डाले गए हैं, अथवा यों कहिए कि नायक के प्रवास-प्रसंग को लेकर

इन भेदों की कल्पना कर ली गई है—प्रोषितपतिका, प्रवत्सत्पतिका, प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका। इनमें से पद्माकर ने प्रवत्सत्पतिका को परंपरा में न देखकर अलग कर दिया है। कहीं-कहीं, जैसे भाषाभूषण में, यह भेद भी मिलता है। इनमें से प्रोस्यत्भर्तृका का उदाहरण प्राचीनों के अनुसार भानुदत्त ने भी रसमंजरी में रखा है।* उन्होंने विभेद दिखाकर बतलाया है कि इसका अंतर्भाव यदि विप्रलब्धा, कलहांतरिता या खंडिता में कोई करना चाहे तो नहीं हो सकता, इसलिए इसे स्वतंत्र भेद ही स्वीकार करना चाहिए।

इससे जान पड़ता है कि रसमंजरी की परंपरा भी पुरानी है और लोगों ने प्रिय-प्रवास के अनुरोध से नायिका के और भी भेद माने हैं, केवल प्रोषितपतिका ही नहीं। इसके सिवा रसमंजरी का ही अनुकरण हिंदी के अधिकांश ग्रंथों में है। रसिकप्रिया आदि में दशरूपक या साहित्यदर्पण के अनुकूल मुग्धादि नायिका के जो भेद किए गए हैं वे कुछ अनपेक्षित से ही हैं, इसीलिए उन्हें लिखना पड़ा कि इसी प्रकार इनके अमुक-अमुक भेद और हो सकते हैं। बात यह है कि उन लोगों को इनके जितने चित्रण मिले अथवा जितने चित्रण संभव जान पड़े, उन सबका भेद के रूप में उल्लेख कर दिया गया। उनमें कोई सामान्य प्रवृत्ति देखकर उनके मोटे-मोटे भेद नहीं बनाए गए। इसलिए एक प्रकार से उनके प्रौढ़ा के चार पाँच भेद रसमंजरी के दो ही भेदों में बड़े मजे में आ सकते हैं।

इस पचड़े को यहीं छोड़कर नायिका भेद के उदाहरणों पर दृष्टि डालनी चाहिए। पद्माकर ने उदाहरण अधिकांश मौलिक रखे हैं। साहित्यदर्पण या प्राचीन संस्कृत-काव्यग्रंथों के चार-पाँच उदाहरण इन्होंने अनुवाद करके भी रखे हैं। इन्होंने कम-से-कम उदाहरण के लिए किसी का अंधानुसरण नहीं किया। जो लोग लोकोक्ति, मुहावरा या एकाध शब्द

---

* प्राचीनलेखनादग्रिमक्षणे देशान्तरनिश्चितगमने प्रेयसि प्रोस्यत्पतिका नवमी नायिका भवितुमर्हति।

के साम्य पर ही नकल या चोरी का फैसला सुना देते हैं उन्हें साहित्य-शास्त्र में कुछ समझ खर्च करने की आवश्यकता है। इन्होंने उदाहरण बहुत साफ दिए हैं, इनके लक्षण भी बहुत साफ हैं। यह पहले कह चुके हैं कि लक्षणों में जो क्लिष्टता या दुरूहता देख पड़ती है वह बहुत कुछ पद्यबद्ध होने के कारण भी है। रसमंजरी में लक्षण गद्य में ही दिए गए हैं। मतिराम का रसराज भी इसी शैली का और ऐसा ही साफ ग्रंथ है। यही कारण है कि ये दोनों ग्रंथ नायिका-भेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत काम में लाए गए और लाए जाते हैं। कुछ लोगों को निरूपण या उदाहरण में जो कहीं-कहीं दोष दिखाई पड़ता है उसका कारण बहुत कुछ उनकी समझ का फेर भी है। हिंदी की अभिव्यंजन-शैली की अनभिज्ञता ने भी उन्हें थोड़ा बहुत धोखा दे ही डाला है। उदाहरण के लिए एक छंद लीजिए—

> पीतम के संग हौं उमगि उड़ि जैबे का,
> न एतो अंग-अंगनि परंद-पखियाँ दईं।
> कहै 'पद्माकर' जे आरती उतारैं, चौंर
> ढारैं, श्रम हारैं, पै न ऐसी सखियाँ दईं॥
> देखि दृग द्वै ही सों न नेकहु अघैये
> इन, ऐसे झुकाझुक में झपाक झखियाँ दईं।
> कीजै कहा राम स्याम-आनन बिलोकिबे कों,
> बिरचि बिरंचि न अनंत अँखियाँ दईं॥

कुछ आलोचक यहाँ नायक को उपस्थित नहीं मानते, क्योंकि 'पीतम के संग' शब्द उसकी उपस्थिति के बाधक हैं। पर बात ऐसी नहीं है। नायक यहाँ उपस्थित है। नायिका कह तो रही है अपनी सखी से, पर सुना रही है प्रीतम को ही। उसका क्रोध व्यंग्य है। यही पद्माकर का लक्षण भी कहता है—'कोप जनावै व्यंग सों'।

रस एवं भाव-निरूपण

महर्षि भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में रस-परिपाक के लिए 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' लिखा है। रस की निष्पत्ति के लिए इसी विचार से चार अंग आवश्यक माने गए। भरत की इस पंक्ति का अर्थ लोगों ने विभिन्न रूपों में ग्रहण किया और 'संयोगाद्' के उत्पत्ति, ज्ञप्ति, भुक्ति और व्यक्ति अर्थ माने। आगे चलकर उत्पत्ति, ज्ञप्ति और भुक्ति का खंडन किया गया और व्यक्ति को ही रस-परिपाक में 'संयोग' माना गया। पर रस की निष्पत्ति का तात्पर्य भरत ने यह नहीं माना था कि केवल इन चारों अंगों का उल्लेख ही रस-व्यंजना है। आगे चलकर जब संक्षेप में ही रीतिशास्त्र का स्वरूप खड़ा करने का आग्रह बढ़ा तो इन चार अंगों को ही प्रधानता दी गई। ये ही जहाँ जुट गए, रस की सिद्धि मान ली गई। प्रबंधगत स्वाभाविक रसवत्ता की बात भुला दी गई, जिसकी धारा में साहित्यदर्पणकार के मतानुसार नीरस पद भी रसत्व प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए मुक्तकों का आग्रह बढ़ा। संस्कृत-रीतिशास्त्रों में इनके विवेचन के लिए जो उदाहरण प्रस्तुत किए गए थे, पहले तो उनका संग्रह महाकाव्यों अथवा प्रबंध-ग्रंथों से ही अधिक था, पर पीछे मुक्तकों का ही संग्रह होने लगा। काव्य-निरूपण का सच्चा स्वरूप कुछ बिगड़-सा चला। हिंदी के रस-निरूपणवाले ग्रंथों में रचयिताओं ने अपने ही उदाहरणों से उसकी पूर्ति की, उन्होंने यह नहीं समझा कि लक्षण-ग्रंथों के लिए आधारभूत पूर्ववर्ती लक्ष्य-ग्रंथ हुआ करते हैं। इसी प्रवृत्ति के कारण हिंदी में तर्कबद्ध शैली चली ही नहीं और इस ओर नई बात ढूढ़ निकालने या प्रस्तुत विषय का विवेचन करने की रुचि ही नहीं हुई। संस्कृत से ही पका पकाया माल मिल जाने के कारण भी उन्होंने अपना कवित्व मात्र दिखलाने का प्रयत्न किया, कोई नया मार्ग खोजने की चेष्टा नहीं की। हिंदी के रस-निरूपण की जो परंपरा

चली वह 'दशरूपक' के आधार पर जान पड़ती है। विवादपूर्ण स्थलों को त्याग कर उसका अनुगमन किया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि अभिनय को दृष्टि मे रखकर लिखे जानेवाले रीतिग्रंथों को छोड़कर आगे जो शुद्ध काव्य की रीतिवाले 'रसतरंगिणी' आदि ग्रंथ बने वे अधिक उपयोगी सिद्ध हुए। पर निरूपण की वह परंपरा कुछ पुरानी थी, इस-लिए रसतरंगिणी आदि ग्रंथों में जो कुछ नई बातें लिखी गईं उसे लोगों ने छोड़ ही दिया। हिंदी के आचार्य कहलानेवाले लोग विवाद में तो पड़ते ही नहीं थे, इसलिए उनके लिए प्रौढ़तया निरूपित मार्ग की आव-श्यकता थी। उन्होंने नई बातों और तर्कों को छोड़कर सीधा रस-निरू-पण कर डाला। पर जिनकी तृप्ति इससे नहीं हुई उन्होंने भानुदत्त की रसतरंगिणी का पूरा-पूरा अनुगमन किया। संस्कृत में भी इसका पहले अधिक प्रचार था, पर इधर साहित्यदर्पण ने इसका स्थान छीन लिया है। जो लोग देव आदि कवियों में 'छल' संचारी का नया नाम देखकर उन्हें बड़ा भारी आचार्य मानने का डंका पीटते हैं, उन्हें रस-तरंगिणी को सामने रखकर देव के ग्रंथ पढ़ने चाहिएँ। रसतरंगिणी-कार नैयायिक जान पड़ते हैं, उन्होंने बहुत ठिकाने से तर्क-पद्धति पर रसों का निरूपण किया है, इसीलिए उन्होंने भावों आदि का वर्गीकरण और उनका स्वरूप अच्छे ढंग से समझाया है और साथ ही नये भावों का भी निर्देश कर दिया है। जिस प्रकार उन्होंने सात्त्विकों में प्राचीनों के अनुसार जृंभा को ग्रहण किया है, उसी प्रकार संचारियों में छल को। संचारीभावों का तात्पर्य यह नहीं है कि ३३ के अतिरिक्त वे और हो ही नहीं सकते। मुख्य-मुख्य ३३ संचारियों का उल्लेख कर दिया गया है, वे और भी हो सकते हैं।

स्थायीभावों का निरूपण करते समय कभी-कभी लोग यह भुला दिया करते हैं कि केवल भाव और रसावस्था को प्राप्त स्थायीभाव में अंतर है। स्थायीभावों के उनके उदाहरण प्रायः ऐसे मिलेंगे जिनमें

पद्धति के विचार से रस मानना चाहिए। पर पद्माकर ने ऐसा नहीं होने दिया है। स्थायीभावों के जितने उदाहरण दिए गए हैं, उनमें इन्होंने इसका बराबर ध्यान रखा है कि भावकोटि में उसका क्या स्वरूप होगा। जैसे—

सजन लगी है कहूँ कबहूँ सिंगारन को,
तजन लगी है कहूँ ऐसे बसवारी को।
चखन लगी है कछू चाह 'पद्माकर' त्यों,
लखन लगी है मंजु मूरति मुरारी को॥
सुंदर गोबिंद-गुन गनन लगी है कछू,
सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी को।
पगन लगी है लगी लगन हिये सों नेकु,
लगन लगी है कछू पी को प्रानप्यारी को॥

यहाँ 'कछू' शब्द से स्पष्ट है कि 'रतिभाव' रसावस्था तक नहीं पहुँचा है, भाव ही है। पर खेद है कि पद्माकर ने 'कछू' की नकली ढाल को सब जगह सामने करने का प्रयत्न किया है। रतिभाव के उक्त उदाहरण में तो 'कछू' के साथ 'लगना' ऐसा है जो 'कछू' के इस नकलीपन को छिपाए हुए है पर और जगह यह मुलम्मा इतना हलका है कि ध्यान देते ही कलई खुल जाती है। भावों के निरूपण का यह तात्पर्य नहीं कि केवल कामचलाऊ शब्दों की आड़ में अपना बचाव किया जाय। उदाहरण लीजिए—

(१) बिबस न ब्रज बनितान के, सखि मोहन मृदुकाय।
चीर चोरि सुकदंब पै, कछुक रहे मुसकाय॥
(२) काम-बाम को खसम की भसम लगावत अंग।
त्रिनयन के नैननि जग्यो, कछु करुना को रंग॥

कहीं कहीं तो इस मुलम्मे के ऊपर स्वशब्दवाच्यत्व दोष का ऐसा जंग लग गया है कि भाव का स्वरूप ही सामने नहीं आता; जैसे

'भे बलि कछुक सभीत'। ऐसा नहीं है कि पद्माकर भाव-व्यंजना का मार्ग ढूढ ही न सकते रहे हों, उन्होंने इन्हीं उदाहरणों के साथ जो अन्य उदाहरण रखे हैं, उनमें 'कछु' का मुलम्मा नहीं है और वह निरूपण भी अधिक अच्छा है। जैसे—

चितै-चितै चारों ओर चौंकि-चौंकि परै, त्यों ही
जहाँ-तहाँ जब-तब खटकत पात हैं।
भाजन-सो चाहत, गँवार ग्वालिनी के कछू,
डरनि डराने-से उठाने रोम गात हैं॥
कहै 'पद्माकर' सुदेखि दसा मोहन की,
सेष हु महेस हु सुरेस हु सिहात हैं।
एक पाय भीत एक पाय भीत-काँधे धरे,
एक हाथ छीको एक हाथ दधि खात हैं॥

स्थायीभावों का वास्तविक स्वरूप सामने न रखने के कारण, परंपरा की लकीर मात्र पीटने से, कहीं कहीं भ्रमात्मक बातें भी आ गई हैं। जैसे रसों के स्थायीभावों में संस्कृत में कोई झगड़ा नहीं है, केवल शांत का स्थायीभाव कोई निर्वेद कहता है और कोई शम। निर्वेद को अधिकांश लोगों ने शांत का स्थायीभाव माना है। 'शम' को स्थायीभाव मानने में थोड़ी सी आपत्ति खड़ी होती है। 'शम' उस अवस्था को कहेंगे, जब मनुष्य निर्लेप होकर संसार से एकदम अलग हो जाय। पर ऐसी अवस्था का साधारणीकरण संभव नहीं है। निर्वेद में संसार के लगाव में ही मनुष्य रहता है, उसकी अनित्यता के कारण उससे विराग हो जाता है।* सांसारिक विषयों से चित्तवृत्ति टूटने लगती है। निर्वेद केवल स्थायी ही नहीं संचारी भी होता है। सांसारिक झगड़ों अथवा गृहकलहादि से मनुष्य जब अपना अपमान करता है तो वह निर्वेद केवल संचारी रहेगा। उसमें तीव्रता नहीं रहेगी। जब कोई मनोवेग तीव्र हो जाता है तब

* तत्त्वज्ञानजनिर्वेदमुपजीव्य शमादिप्रवृत्तेः स एव स्थायी न शमः।—उद्योत।

अनुभावों आदि की सम्यक् योजना हो जाने के कारण उसका प्रभाव विशेष हो जाता है। इसी को प्रधानता से व्यंजित होना कहते हैं। व्यभिचारी भाव प्रधानता से व्यंजित होने पर शुद्ध स्थायीभाव की कोटि तक पहुँच जाता है। स्थायित्व और व्यभिचारित्व का विभेद विभावन है। स्थायीभावों का विभावन होता है। पात्र या अभिनेता जिस भाव में मग्न है उसी भाव में पाठक या दर्शक भी मग्न होंगे। पर व्यभिचारियों में ऐसी बात नहीं है। किंतु प्रधानता पाने पर ये भी हलका विभावन करने लगते हैं। जैसे किसी कुसंग में पड़े हुए विद्वान् को एकांत में आत्मग्लानि करते पढ़कर हमें भी उसका हलका सा स्वाद मिल जायगा। रसचक्र में इन दोनों का भेद उत्कट और अनुत्कट को ही दृष्टि में रखकर करना होगा। क्योंकि कई भावों के दोनों रूप हैं, वे स्थायी भी हैं और सहकारी भी। जैसे क्रोध और अमर्ष, भय और त्रास, शोक और विषाद। भावकोटि में आने पर इन दोनों में स्वगत विभेद भी होता है। जैसे क्रोध और अमर्ष का ही ले लें। इन दोनों में उत्कट और अनुत्कट का मोटा भेद तो है ही, पर भावकोटि में यह माना जाता है कि जहाँ दूसरे का विनाश करने की भावना जग उठे वहाँ तो क्रोध होगा और जहाँ केवल कड़ी-कड़ी बातें और खरी-खोटी ही रहे वहाँ अमर्ष।

बीभत्स के स्थायीभाव पर थोड़ा-सा विचार करना चाहिए। हिंदी में 'ग्लानि' शब्द के दो अर्थ होते हैं ; एक आत्मग्लानि और दूसरे घृणा। जब कहा जाता है, 'मारे ग्लानि के मैं गड़ा जा रहा हूँ' तो ग्लानि का अर्थ आत्मग्लानि होता है, पर जब कहा जाता है, 'उसकी करतूत सुनकर बड़ी ग्लानि आती है' तब ग्लानि का अर्थ घृणा होता है। पर यह ग्लानि शब्द दूसरे अर्थ में उतना अधिक विस्तृत अर्थ नहीं रखता, जितना स्वयं घृणा शब्द। घृणा सभी प्रकार के अहृद्य व्यापारों के लिए प्रयुक्त होता है। घृणा से अधिक साफ शब्द बीभत्स के स्थायीभाव

के लिए जुगुप्सा है। ग्लानि और घृणा का संपूर्ण भाव जुगुप्सा के भीतर आ जाता है। किंतु हिंदी में, विशेषतः प्राचीन ग्रंथों में, जुगुप्सा के स्थान पर ग्लानि का ही उल्लेख मिलता है। पर इस शब्द का इस अर्थ में प्रयोग कुछ भ्रमपूर्ण है। यही कारण है कि पद्माकर को 'वार्तिक' लिखना पड़ा—"या ही को नाम जुगुप्सा जानिये"। इसी प्रकार आश्चर्य और विस्मय में भी अंतर है।

भाव-निरूपण को छोड़कर रस-निरूपण की ओर दृष्टि डाली जाय तो वहाँ भी इसी प्रकार की कुछ मोटी-मोटी गड़बड़ियाँ दिखाई पड़ेंगी। किसी रस के निरूपण में विभाव-पक्ष का सम्यक् निरूपण किए बिना रस-संचार नहीं हो सकता। विभाव-पक्ष के निरूपण का तात्पर्य यह है कि आलंबन का केवल नाम निर्देश कर देने से ही काम न चलेगा। यदि आलंबन का निरूपण न किया जायगा तो न तो कोई भाव ही सामने आएगा और न किसी प्रकार का रस ही। पद्माकर के हास्यरस का उदाहरण देखिए—

हँसि-हँसि भाजैं देखि दूलह दिगंबर को,
पाहुनी जे आवैं हिमाचल के उछाह में।
कहै 'पद्माकर' सु काहू सों कहै को कहा,
जोई जहाँ देखै सो हँसेई तहाँ राह में॥
मगन भयेऊ हँसै नगन महेस ठाढ़े,
औरै हँसे येऊ हँसि-हँसि कै उमाह में।
सीस पर गंगा हँसै भुजनि भुजंगा हँसै,
हास ही को दंगा भयो नंगा के बिवाह में॥

यहाँ पर आलंबन महादेव हैं जिन्हें तीन बार केवल 'नगन' कहा गया है, उनका कोई स्वरूप-निरूपण नहीं है। उद्दीपन का भी कोई विधान नहीं है। चौथे चरण में गंगा, सर्प आदि स्वयं आश्रय हो गए हैं, उनमें अनुभाव मात्र दिखाया गया है। हँसनेवाले तो सभी हैं;

पाहुनी, राह चलते। हास का एक ढंग ही खड़ा हो गया है। 'हास' शब्द आ जाने से स्वशब्दवाच्यत्व दोष भी है। किसी रस का स्वरूप खड़ा करने के लिए केवल थोथे अनुभाव का जमघट खड़ा कर देना ही पर्याप्त नहीं होता। महादेव को नंगा देखकर ये भी हँसे, वे भी हँसे, सभी हँस पड़े। ऐसा कहने से तो हास का कोई स्वरूप सामने नहीं आता। पद्माकर के इस उदाहरण से इन्हीं का दूसरा उदाहरण, जो दोहे में है, कुछ अच्छा है।

करमूसर नाचत नगन, लखि हलधर को स्वाँग।
हँसि-हँसि गोपी फिरि हँसै, मनहुँ पिये-सी भाँग॥

भावों और रसों के विवेचन के प्रसंग में उसी भाव और रस का नाम आ जाना दोष माना गया है। क्योंकि यदि किसी को शृंगाररस का निरूपण करना हो और वह कहे कि क्या बढ़िया शृंगार है, खूब शृंगार है, शृंगाररस छलका पड़ता है तो शृंगाररस कभी सामने आ ही नहीं सकता। इसी प्रकार किसी भाव के निरूपण में भी उसका नाम लेना ही उस भाव का चित्र खींचना नहीं है। 'उन्हें बड़ी लज्जा आई, उन्हें अत्यंत हर्ष हुआ' कहने से इन भावों का कोई स्वरूप सामने नहीं आता। इनके निरूपण के लिए इन भावों के अनुभावों का विधान आवश्यक होता है। 'उनका सिर नीचा हो गया, उनकी आँखें नीची हो गईं या उनका चेहरा खिल उठा, उनकी छाती फूल गई' आदि कहने से उक्त भावों का स्वरूप सामने खड़ा हो जाता है। पर हिंदी के अधिकांश रचयिताओं ने भावों या रसों का नाम लेना बहुत आवश्यक समझा है। इसलिए पद्माकर भी उससे नहीं बच सके। बहुत ध्यान रखने पर भी इनके उदाहरणों में स्वशब्दवाच्यत्व दोष आ ही गया है। दो-एक उदाहरण लीजिए—

धनमद यौवनमद महा, प्रभुता को मद पाइ।
ता पर मद को मद जिन्हें, को तेहि सकै सिखाइ॥

यहाँ मद भाव का निरूपण है। इस उदाहरण के द्वारा मद का स्वरूप क्या खड़ा होता है। यह तो खासा नीति-वाक्य हो गया है। इसी प्रकार—

> कहै 'पद्माकर' कृपा करि बतावै साँची,
>
> देखे अति अद्भुत रावरे सुभाइ हौं।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकला कि पद्माकर का रस और भाव का निरूपण वैसा उत्तम नहीं है जैसा उसे होना चाहिए।

शृंगार-भावना

सभ्यता के इस युग में लोग शृंगार से जितनी घृणा करने लगे हैं, उतनी और किसी से नहीं। पर शृंगार स्वयं घृणा करने की चीज नहीं है। उसके विकृत स्वरूप की निंदा तो वे भी करते हैं जो बड़े शृंगारी कहे जाते हैं। शृंगार एक ऐसा रस है जो 'रसराज' कहा जाता है। उसे रसों का राजा इसलिए नहीं कहा जाता कि उसके शासन को अन्य सभी रस या भाव मानते हैं अथवा दूसरे शब्दों में सभी उसके अंतर्गत आ जाते हैं। अगर ऐसा ही है तो सभी रसों का युक्तिपूर्वक ऐसा स्वरूप दिखाया जा सकता है जिसके भीतर अन्य सभी रस या भाव आ जायँ। जैसे वियोगी हरि ने 'वीर-सतसई' में वीर के अंतर्गत ऐसे भावों और ऐसे-ऐसे आलंबनों को लिया है जिनके घेरे में साहित्यशास्त्र के सभी रस-भाव मोटे रूप से आ जाते हैं। वस्तुतः शृंगार का विस्तार बहुत दूर तक है। इसकी सीमा के भीतर प्राणि-मात्र ही नहीं, उन वनस्पतियों के वर्ग भी आ जाते हैं जिन्हें हम साधारणतया जड़ समझते हैं। अन्य किसी रस का विस्तार इतना अधिक नहीं है। स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ शृंगार से तात्पर्य उस सीमाबद्ध भावना से नहीं है जिसके लिए प्रायः इस शब्द का प्रयोग अब रूढ़-सा हो रहा है। इस शृंगार के दायरे में प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, श्रद्धा, भक्ति, सख्य सभी कुछ आ जाता है। इतना

विस्तार और किसी का नहीं और न इतने व्यापक स्वरूप-भेद ही किसी रस या भाव में पाए जाते हैं। इतना ही नहीं, यह हृदय की संकीर्णता को भी अपने प्रभाव से उदारता में परिणत कर देता है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो करुण, वीर और शांत रस में हृदय का विस्तार कुछ देख पड़ता है, अन्य रसों में वह भी नहीं। शांत रस में हृदय का विस्तार अधिक दिखाई अवश्य पड़ता है, पर यह रस लौकिक दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं रखता। कहना यों चाहिए कि लौकिक सिद्धांत की जिस भित्ति पर रसों का महल खड़ा किया गया है वह भित्ति इस रस से हटकर है। यही कारण है कि भरत ने इसे रस ही स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः रस-चक्र के निरूपण में मूलतत्त्व सांसारिक है, संसार से निवृत्ति की ओर ले जाना नहीं। इसलिए रसचक्र के भीतर शांत रस को स्वीकृत करने के लिए लोगों को बड़े-बड़े सिद्धांतों और उनके वास्तविक स्वरूप का निरूपण करने की आवश्यकता पड़ी है। पर यह प्रपंच इतना उलझ गया है कि इसे सुलझाकर रखना भी एक उलझन है। नाटक को छोड़कर काव्य में इसके गृहीत हो जाने का कारण उक्त विस्तार ही है। क्योंकि आचार्यों ने उन्हीं भावों को रस-कोटि तक पहुँचनेवाला माना है जिनका विभावन हो सके। शांत रस या उसके स्थायी निर्वेद का विभावन क्षेत्र-विस्तार के ही कारण थोड़ा-बहुत हो सकता है। लौकिक दृष्टि से तो उसका उतना महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत विभावन के विस्तार की कमी के कारण लौकिक सीमा के भीतर आनेवाले भावों को रसकोटि तक पहुँचनेवाला भाव ही नहीं माना गया। आगे चलकर लोगों ने आचार्यों की दोनों दृष्टियों पर ध्यान नहीं दिया, इसलिए ऐसे-ऐसे रसों की भी कल्पना की गई जिनका विभावन नहीं होता और होता भी है तो उनका विस्तार कम है अर्थात् विभावन एक सीमाबद्ध क्षेत्र में ही हो सकेगा। पुत्र, देव, गुरु, राजा आदि विषयक रतिभाव को इसीलिए केवल भाव माना गया है, क्योंकि इनके

वर्णनों से सबके हृदय में विभावन नहीं हो सकेगा। पुत्र-विषयक रति का क्षेत्र और सबसे अधिक था इसी से उसे आगे चलकर कुछ लोगों ने रस-कोटि में ले लिया। किंतु श्रद्धा, भक्ति, संख्य, यहाँ तक कि आनंद को भी एक रस मान लेना प्राचीन रस-सिद्धांत को ठीक-ठीक न समझने के ही कारण हुआ है। आनंद को रस मानना तो वैसा ही है जैसे विश्वनाथ कविराज के पितामह नारायण ने अद्भुत को ही रस माना था, अन्य रसों को खारिज कर दिया था। अगर इस प्रकार की व्यापक भावनाओं को दृष्टि में रखकर रसों का निरूपण होगा तो भावों के वेग को दृष्टि में रख-कर 'उत्साह' को मुख्य रस माना जा सकता है। रसों का भेद करने की आवश्यकता ही नहीं। फिर शांत रस ही क्यों पीछे रहेगा। सबका पर्य-वसान जाकर शांत में ही हो जायगा। करुण ही रस क्यों न प्रधान माना जाय, क्योंकि वही आदि रस है और संसार में उसकी व्याप्ति भी अधिक है। करुण भाव भी किसी न किसी रूप में सब स्थानों पर छिपा रहता है।*

जो लोग शृंगार को अश्लील कहकर उसका बहिष्कार करना चाहते हैं उन्हें आँखें खोलकर चारों ओर देखना चाहिए। केवल अश्लील कह देने से शृंगार का मूल स्वरूप नहीं छिप सकता अथवा अश्लील कविता के आधिक्य से ही शृंगार का महत्त्व नष्ट नहीं हो जाता। जिन्होंने उसका स्वरूप ठीक-ठीक न पहचानकर नकली स्वाँग में ही विभ्रम दिखलाया है, उन्हें हम चाहे जो कहें, पर यह कहना कि शृंगार और अश्लीलता का कोई घनिष्ठ संबंध है, दोनों अन्योन्याश्रय हैं, समझ का भारी फेर है। इसी लपेट में अनपेक्षित होने पर भी उन लोगों की मनोवृत्ति पर भी

* एको रसो करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥—उत्तररामचरित, ३-४७।

विचार कर लेना चाहिए जो हिंदी के शृंगाररस की तो निंदा करते हैं पर अपने वाग्जाल के भीतर ठीक वैसा ही अश्लील माल शृंगार के नाम पर चलाने का उद्योग करते हैं। शब्दों के आवरण में भाव का सच्चा स्वरूप नहीं छिपाया जा सकता। अँगरेजी साहित्य के प्रेम-वर्णन की प्रशंसा करना और हिंदी में कथित शृंगार को, सुनी-सुनाई बातों के आधार पर, गर्हित कहना दुनिया को तो धोखा देना है ही, स्वयं अपने को भी धोखा देना है। आधुनिक ढंग की कविता करनेवाले कुछ कवि-पंचानन पुराने लोगों को तो खरी-खोटी सुनाते हैं, पर आधुनिक ढंग की घोर अश्लील कविता को एकदम पी जाते हैं, उसे पचा जाना चाहते हैं। यह समीक्षा का नकली मार्ग बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। विदेशी साहित्य में दूध की स्निग्ध धारा का अनुमान करनेवाले लोगों को हृदय की आँखें खोलनी चाहिएँ। हिंदी में पुराने ढंग की कविताओं में अवश्य ऐसी कविताएँ भी हैं जो रुचिकर नहीं कही जा सकतीं, उनकी प्रशंसा कोई भी नहीं कर सकता। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि हिंदी के सभी पुराने कवि एक ही लकीर के फकीर थे, उन्होंने अश्लील साहित्य के अतिरिक्त कुछ लिखा ही नहीं।

पहले कहा जा चुका है कि सामयिक परिस्थिति के थपेड़ों में पड़कर लोग अपने को शृंगार के विस्तृत क्षेत्र के भीतर नहीं ला सके। मुस्लिम साहित्य में भी शृंगार की धारा उतनी स्वच्छ नहीं थी, इसीलिए उसके संसर्ग का परिणाम भी अच्छा नहीं हुआ। इतना ही नहीं, संस्कृत के प्रबंधकाव्यों के क्षेत्र से हटकर जब कविता का प्रवाह मुक्तकों की ओर बढ़ा तो उसमें शृंगार का स्वरूप बेठिकाने होने लगा था। प्राकृतों में मुक्तकों की ही परंपरा चलती रही। प्राकृत-काव्यों में लोग राजदरबारों की सीमा को तोड़कर जन-समाज के भीतर तो घुसे, पर केवल शृंगार के ही फेर में रहने के कारण वहीं से उसका स्वरूप बिगड़ने लगा था। विपरीत आदि के वर्णन तो बहुत पुराने

हैं, पर प्राकृतों और अपभ्रंशों में आकर इस प्रकार की रचना भी होने लगी थी—

भण को ण रुस्सइ जणो पत्थिज्जन्तो अएसकालम्मि।
रतिवाअडा रुअन्तं पिअं वि पुत्तं सवइ माआ॥*

—गाथासप्तशती, ४-१००।

इसी ढंग की कविताओं की परंपरा का परिणाम था कि केशव और बिहारी ऐसे कवियों ने शृंगार का स्वरूप कहीं-कहीं ऐसा खींच दिया है, जिसे शृंगाराभास कहना चाहिए। शृंगाराभास क्या, कहीं-कहीं तो विरोधाभास हो गया है।

टूटी टाटि घुन घने धूम धूमसेन सने,
झींगुर छगोड़ी साँप बिच्छिन की घात जू।
कंटक-कलित तिन-वलित बिगंध जल,
तिनके तलप-तल ताको ललचात जू॥
कुलटा कुचील गात अंध तम अधरात,
कहि न सकत बात अति अकुलात जू।
छेड़ी में घुसे कि घर इंधन के घनस्याम,
घर घरनीनि यहँ जात न घिनात जू॥

—रसिकप्रिया, १४-२२।

श्रीकृष्ण का कैसा दिव्य चरित्र अंकित है! †

बिहारी का भी एक उदाहरण लीजिए—

बिहँसि बुलाइ विलोकि उत, प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुलकि पसीजति पूत को, पिय-चूम्यो मुख चूमि॥

नायिका बालक का मुख प्यार से क्यों चूमने लगी, वह बालक

---

* भण को न रुष्यति जनः प्रार्थ्यमानोऽदेशकाले।
रतिव्यापृता रुदन्तं प्रियमपि पुत्रं शपते माता॥

† केशव की शृंगार-भावना के लिए देखो रसिकप्रिया, ५ ३१,३२,३३, ७ ३६ भी।

का मुख इसलिए चूमती है कि प्रियतम ने उसे चूमा है। रसिक-कवियों के सामने वात्सल्य भाव को जगह ही कहाँ मिल सकती थी !*

पद्माकर की श्रृंगार भावना भद्दी नहीं है। 'रति विपरीत', 'नीवी सँभालना' आदि तो केवल परंपरा की लीक पीटना है। प्रौढ़ा आदि के वर्णनों में ही इस प्रकार की चर्चा मिलती है। प्रौढ़ा, मुग्धा आदि के भेद ही रतिक्रीड़ा को दृष्टि में रखकर किए गए हैं, इसलिए उन्हें पद्माकर की अपनी श्रृंगार-भावना नहीं कहा जा सकता। वात्सल्य प्रेम का तिरस्कार अथवा दांपत्य प्रेम के सिलसिले में स्वाभाविक मनोवेग की उपेक्षा पद्माकर के किसी उदाहरण में नहीं मिलेगी। ऋतुओं के वर्णन में भी जहाँ 'बाला' एक मसाला कही गई है वहाँ तत्कालीन समाज की भावना काम कर रही है। जहाँ-कहीं पद्माकर ने परंपरा की लीक छोडकर उन्मुक्त प्रेम-क्षेत्र में विचरण करने का प्रयास किया है वहाँ उनकी कविता में एक दिव्य ज्योति फूट पड़ी है। पुरानी लीक को भी अपनी विशेषता से पद्माकर ने कहीं-कहीं बहुत कोमल बना दिया है। जैसे विभ्रम हाव का यह उदाहरण—

बछुरै खरी प्यावै गऊ तिहि को 'पदमाकर' को मन लावत है।
तिय जानि गिरैया गही बनमाल सु ऐंचे लला इँच्यो आवत है॥
उलटी करि दोहनी मोहनी की अँगुरी थन जानि कै दाबत है।
दुहिबो औ दुहाइबो दोउन को सखि देखत ही बनि आवत है॥

प्रेम के कारण आत्मविस्मृत होने का कितना साफ चित्र है!

× × × ×

कंकालिनि कूबरी कलंकिनि कुरूप तैसी,
चेटिकिनि चेरी ताके चित्त को चहा कियो।
राधिका को कहवत काहि दीजो मोहन सों,
रसिक-सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियो॥

---

* बिहारी की श्रृंगार-भावना के लिए देखो बिहारी-बोधिनी, ८,३३६ भी।

यहाँ 'रसिक सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियो' में कैसी मधुर व्यंजना है !

चित्रण

चित्रण दो प्रकार के होते हैं ; एक तो भावों का चित्रण, दूसरे स्वरूपांकन । भावों के चित्रण में कवि लोग अनुभावों की योजना किया करते हैं और स्वरूपांकन में चेष्टाओं अथवा शरीर के बाह्य व्यापारों का निरूपण । अनुभावों की योजना में शास्त्र-सम्मत बातों के आधार पर भी टेढ़ा-सीधा कुछ कहा जा सकता है, किंतु स्वरूपांकन में अवेक्षण की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं कहा जा सकता । तात्पर्य यह कि अनुभावों के विधान में निरीक्षण की शक्ति के अभाव में भी दूसरों के सहारे पर कुछ न कुछ कहने की गुंजाइश रहती है, पर स्वरूपांकन में अपनी शक्ति के बिना कुछ भी नहीं हो सकता । पद्माकर ने अनुभावों के स्वच्छन्द विधान का भी ध्यान रखा है, पर उनके विधान में ये उतने निपुण नहीं हैं, जितने स्वरूपांकन में । हिंदी में अनुभावों की सच्ची योजना बिहारी में देखने को मिलती है । कई भावों के मेल में भी उन्होंने अनुभावों का इतना अधिक ध्यान रखा है कि कहीं भी भावों का प्रकृत स्वरूप बिगड़ने नहीं पाया है, भावों के बदलते ही उनके अनुभाव भी तदनुरूप ही अपना स्वरूप सामने लाते हैं । किंतु बिहारी में स्वरूपांकन की छटा दिखाने के लिए स्थलसंकोच था । दोहे के छोटे से साँचे में वे स्वरूप का चित्र खींचने का प्रयास तो बराबर करते रहे हैं और उसमें उन्हें सफलता भी मिली है, पर विस्तृत मैदान न मिलने से कहीं-कहीं चित्र का साफ स्वरूप वैसा नहीं उतर पाया है, किंतु पद्माकर के यहाँ स्वरूपांकन के लिए स्थलसंकोच नहीं था, इसलिए इनके चित्र बहुत साफ उतरे हैं । नायिका के सामान्य उदाहरण से ही ये अपने चित्रांकन का चातुर्य दिखा चले हैं । कोई नायिका होली खेलकर आई है, वह अपनी रंगभरी चूनरी निचोड़ रही है ।

आई खेलि होरी घरै नवलकिसोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगंधनि झकोरै है।
कहै 'पदमाकर' इकंत चलि चौकी चढ़ि,
हारन के बारन तें फंद-बंद छोरै है॥
घाँघरे की घूमनि सु ऊरुन दुबीचे दाबि,
आँगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतनि अधर दाबि दूनरि भई-सी चापि
चौवर-पचौवर कै चूनरि निचोरै है॥

इसमें निचोडते समय के सभी अवयवों के कार्य-व्यापार का उल्लेख किया गया है। मुख से लेकर ऊरुओं तक के संचालन का ठीक-ठीक और भरपूर खाका खींचा गया है। मुख का मोड़ना, ओठों को दाँतों से दबाना, शरीर का धनुष की भाँति दोहर जाना और ऊरुओं के बीच वस्त्र को दबाना, वस्त्र को कई परत करके निचोड़ना आदि बहुत साफ हैं, अवेक्षण का पूर्ण कौशल दिखाई पड़ता है।

एक दूसरा उदाहरण गणिका के रूप-चित्रण का है। गणिका का स्वरूप इसमें बहुत स्वच्छ दिखाई पड़ता है। प्रातःकाल वह द्वार पर एक हाथ रखे दूसरे में कमल का फूल लिए खड़ी है। कवित्त के पढ़ने पर ऐसा जान पड़ता है, मानो कवि ने कोई चित्र सामने रखकर कविता लिखी है।

आरस सों आरत सँभारत न सीस-पट,
गजब गुजारत गरीबन की धार पर।
कहै 'पदमाकर' सुगंध सरसावै सुचि,
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर॥
छाजति छबीली छिति छहरि छरा को छोर,
भोर उठि आई केलि-मंदिर के द्वार पर।

एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर ॥*

चित्रांकन के भीतर केवल मानवीय व्यापारों और मुद्राओं का ही चित्रण नहीं आता, प्रकृति के दृश्यों का चित्रण भी आता है अथवा यों कहिए कि वस्तुवर्णन मात्र के लिए चित्रण अपेक्षित है। किंतु यह मानना पड़ेगा कि मानव-व्यापारों के चित्रण में पद्माकर की वृत्ति रमी है, किंतु प्रकृति के दृश्यों के चित्रण अथवा वर्णन में इन्होंने एकदम मनोयोग नहीं दिया है। ऋतुओं के वर्णन में तो इन्होंने खेलवाड़-सा किया है। भाषा, भाव और बाह्य स्वरूप तीनों दृष्टियों से उसमें कोई विशेषता नहीं देख पड़ती। दो-एक स्थानों पर कुछ प्रयत्न देख भी पड़ता है, पर वैसी प्रवणता नहीं है। ऋतुओं के वर्णन में भी मानव-व्यापारों में ही संलग्न रहना, और वह भी एक विशेष मनोवृत्ति को लेकर, बहुत ही भद्दा है। कहीं-कहीं तो बड़े बाबुओं के दिन काटने के मसालों की फिहरिस्त दी गई है।

भक्ति-भावना

संसार की भीषणता के कारण भक्ति का उद्रेक कभी न कभ होता ही है। जब शंकराचार्य ने, जो ज्ञान के सिद्धांतों का ही प्रचार करनेवाले थे, भक्ति को व्यावहारिक क्षेत्र में स्वीकार कर लिया तो औरों की बात ही क्या। संत-संप्रदाय में भी, जहाँ निर्गुण की उपासना चलती है, भक्ति का संनिवेश पाया ही जाता है। निर्गुण ब्रह्म को वे लोग ज्ञेय न मानकर उपास्य मानते हैं। उपासना के लिए जिस आलंबन की आवश्यकता है वह गुण और आकारहीन में नहीं प्राप्त होती, इसलिए उन लोगों की सारी भक्ति निर्गुण से खिसककर गुरु में जा लगती है, जो निर्गुण की भाँति परमसाध्य न होकर उस साध्य का साधन मात्र है।

* चित्रण के कुछ अन्य उदाहरणों के लिए देखो जगद्विनोद, १८१, २२८, ४३६, ४६०, ५८०, ७१७ आदि; फुटकर, ३६।

भारत में भक्ति या उपासना ज्ञान के विरोध में खड़ी नहीं हुई, वरन् यह भी उसी प्रकार एक साधन के रूप में गृहीत हुई जिस प्रकार कर्म और ज्ञान माने गए थे।

यदि सांप्रदायिक विचारों की मीमांसा छोड़कर संसार के लोगों का विचार करें तो दो प्रकार के भक्त मोटे रूप से पाए जाते हैं। एक तो वे जो संसार का बखेड़ा छोड़कर ईश्वराराधन में लगते हैं और दूसरे वे जिनमें संसार की जटिलताओं के कारण समय-समय पर भक्ति का उद्रेक होता है। यदि कहना चाहें तो पहले प्रकार के भक्तों को विरागी और दूसरे प्रकार के भक्तों को संसारी कह सकते हैं। पहले प्रकार के भक्त जो भक्ति की बातें कहते हैं वे अपनी भावनाओं और वृत्तियों को दृढ़ करने के लिए। संसार की अनित्यता, उसका असत् स्वरूप आदि उनके निरूपण के विषय होते हैं। किंतु दूसरे प्रकार के व्यक्ति विशेषत: ऐसे विषयों को अपने सामने रखते हैं जो संसार के दु:खदायी स्वरूप, समाज की जटिलताओं और मानव जीवन की कठिनाइयों के कारण उपस्थित होते हैं। ऐसे लोगों के कथनों में अधिकतर पश्चात्ताप की मात्रा रहती है। 'पेट के फेर में सारे जीवन को नष्ट करना भ्रम था, शरीर के सँवारने में, विषय भोग में जीवन बहाया गया' इसी प्रकार की बातों को लेकर अपने विगत कार्यों की आलोचना इनके विषय होते हैं। दैन्य का प्रदर्शन दोनों ही करते हैं। ईश्वर के गुणों की महिमा दोनों ही गाते हैं, किंतु अंतर यही रहता है कि पहले प्रकार के लोग ईश्वर के गुणों का स्वीकारात्मक वर्णन करते हैं और दूसरे प्रकार के व्यक्ति अपने कृत्यों की ग्लानि को साथ-साथ कहते चलते हैं। दूसरे प्रकार के भक्त-कवियों में कुछ नक़ली लोग भी पाए जाते हैं। उनमें वस्तुत: भक्ति का उद्रेक नहीं होता, वे केवल अपनी कवित्वशक्ति या अपनी कहन का परिचय देने के लिए कुछ विलक्षण छंदों का निर्माण किया करते हैं। जैसे सेनापति की प्रसिद्ध उक्ति—

आपने करम करि हौं ही निबहौंगो तौऽब,
हौं ही करतार करतार तुम काहे के।

यहाँ तक तो कोई बात नहीं कि 'पावते न जो पै मो से अधम कहूँ जो राम कैसे तुम अधम-उधारन कहावते', पर अपने कर्मों को लेकर कर्तार बनने का हौसला भक्त कभी न करेगा। हिंदी में संत कवि तो विरागी भक्तों में से हैं और पद्माकर-ऐसे कवि संसारी भक्तों में से। तुलसीदास ऐसे लोगों को दोनों प्रकार का समझना चाहिए।

पद्माकर की भक्ति-विषयक कविता में संसार की जटिलताओं का ही कथन है, विकट परिस्थितियों के फेर में पड़कर उनके हृदय में जो भक्ति का उद्रेक हुआ है उसी को लेकर उनकी कविताएँ निर्मित हुई हैं। संसार की माया का निरूपण करने के फेर में वे अधिक नहीं पड़े। कहीं पेट की बेगार का निरूपण है, तो कहीं तृष्णा और वैर का वर्णन। संत कवियों का सा शरीर की नश्वरता का जहाँ-कहीं वर्णन मिलता भी है, वहाँ संसारी भावनाएँ भीतर बैठी हुई हैं। जैसे—

घोखा की धुजा है औ रुजा है महादोषन की,
मल की मँजूषी मोह-माया की निसानी है।
कहै 'पदमाकर' सु पानी-भरी खाल, ताके
खातिर खराब कत होत अभिमानी है॥
राखे रघुराज के रहै तौ रहै पानी,
न तौ जंगी जमराज ही के हाथनि बिकानी है।
जा ही लगि पानी तौ लौं देह सी दिखानी,
फेरि पानी गये खारिज पखाल ज्यों पुरानी है॥

इसमें 'पानी रहने' की भावना संसारी ही है। पद्माकर की इन कविताओं को देखने से जान पड़ता है कि वे जिस परिस्थिति में थे वे कठोर थीं, इसी से इनकी कविताओं में सजाने का उद्योग नहीं है, केवल शुद्ध भावनाएँ ही वर्णित है। जहाँ कहीं रूपक आदि का सहारा लिया

भी गया है वहाँ पुराने ही रूपक रखे गए हैं। जैसे जीवन-नौका का रूपक। पद्माकर के छंदों में एक ही बात कई स्थानों पर कुछ थोड़े उलट-फेर से कही गई है। इसका कारण भी उनकी भाव-प्रवणता ही है। जब किसी में स्वाभाविक भावोद्रेक होता है तो उसकी उक्तियों में इसी प्रकार की पुनरुक्ति होती है। हिंदी के संत कवियों के पदों को देखिए, सूरदास का सूरसागर देखिए, और तो और तुलसीदास के मुक्तक छंद-वाले ग्रंथों को पढ़िए, सभी जगह ऐसी ही पुनरुक्ति मिलेगी। इसे कुछ लोग कवि की कमजोरी समझते हैं। पर वस्तुतः यह कवि की तल्लीनता है जिसके कारण बरबस पुनरुक्ति हो ही जाती है। पद्माकर के छंदों में जो पुनरुक्ति पाई जाती है उसमें वैसी पुनरुक्ति नहीं है जैसी संत कवियों में। पद्माकर की कविता में जो पुनरुक्ति है उसमें कुछ न-कुछ नई बात कही अवश्य गई है। नींव भले ही पुरानी हो, पर दीवाल नई उठी है।

'प्रबोध-पचासा' के अतिरिक्त पद्माकर ने 'गंगालहरी' भी लिखी है, जिसे भक्ति-काव्य की ही रचना मानना चाहिए। उसे केवल देव-काव्य नहीं माना जा सकता। कवि की भक्ति भावना उसमें विशेषरूप से झलकती है, कहना यों चाहिए कि उसमें काव्य-कौशल के साथ गंगा की भक्ति का ही वर्णन है; उनकी महिमा, उनके गुण का ही निरूपण है। इस पुस्तक में भंगि-भणिति और व्याजस्तुति के आधार पर गंगा की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। पुस्तक में वर्ण्य विषय मोटे रूप में तीन हैं। एक तो गंगा की स्थिति, स्वरूप और प्रभाव का सौम्य वर्णन, जिसमें शृंखलामूलक सार आदि अलंकारों, संदेह, उल्लेख, मालोपमा आदि की सहायता ली गई है। दूसरे गंगा का नाम लेने, उसमें स्नान करने आदि से पापियों को पाप से छुटकारा मिल जाना और प्राणियों के जीवन का लेखा लिखनेवाले पुराणप्रसिद्ध मुंशी चित्रगुप्त की घबराहट तथा नरकों के राजा यमराज की चिंता एवं व्यग्रता का वर्णन है और तीसरे गंगा में मार्जन करने से शिवस्वरूप की प्राप्ति। पहले प्रकार के

वर्णनों में केवल आलंकारिक चमत्कार है। पर दूसरे और तीसरे प्रकार के वर्णनों में कवि ने कुछ विलक्षण प्रसंगों की कल्पना की है, जिससे स्वारस्य बहुत अधिक हो गया है। इस प्रकार पौराणिक बातों को लेकर बहुत दूर तक उन्हें घसीटना चाहे कुछ लोगों को भले ही खटकता हो, पर ऐसे वर्णनों को काव्यरीति के भीतर बराबर स्थान मिलता रहा है और मिलना भी चाहिए। कहीं तो चित्रगुप्त पापी के उद्धार का समाचार पाकर स्तब्ध हो जाते हैं और कहीं यमराज घबड़ाकर अपना आफिस ही तोड़े डाल रहे हैं। इसी प्रकार कोई व्यक्ति गंगास्नान के बाद पुराने बैल की सवारी पाकर हैरान है तो कोई अपने पाँच मुख और सर्पों के लिपट जाने से घबड़ा रहा है। कोई बेचारा स्नान करके घर को लौटने के विचार में था कि उसे बैल दूसरी ही ओर खींच ले चला।

पंडितराज जगन्नाथ की संस्कृत 'गंगालहरी' का प्रचलन समाज में खूब हुआ। उसी के आदर्श को लेकर पद्माकर ने अपनी गंगालहरी लिखी। बहुतों ने तो संस्कृत की उक्त पुस्तक का अनुवाद ही कर डाला, पर इन्होंने जितनी बातें लिखी हैं सब इनकी अपनी सूझ हैं, कहीं से इन्होंने संग्रह नहीं किया है। यही नहीं, पद्माकर ने पंडितराज की पद्धति एकदम नहीं ग्रहण की है। जगन्नाथजी ने अपनी शृंगारी मनोवृत्ति का परिचय भी अपनी पुस्तक में दिया है, पर इन्होंने इसका लेश भी इसमें नहीं आने दिया, यद्यपि पद्माकर स्वयं भी उन्हीं की तरह शृंगारी कवि थे। इन्होंने शृंगार का जहाँ वर्णन किया वहाँ उसकी तल्लीनता दिखाई और जहाँ भक्तिभाव या देवरति का वर्णन किया वहाँ उसकी तल्लीनता दिखाई। दोनों का संमिश्रण इन्होंने कहीं भी नहीं होने दिया। यह पद्माकर की एक विशेषता ही है कि उन्होंने विविध भावनाओं का बेमेल संकर कहीं भी नहीं रखा। यद्यपि केशव आदि की कृपा से हिंदी की परंपरा इसके विपरीत ही चल पड़ी थी और पद्माकर परंपरा का पालन करनेवालों के अग्रणी थे।

पद्माकर ने जिन-जिन देवताओं की स्तुति में कुछ लिखा है उसके देखने से ज्ञात होता है कि इनकी वृत्ति असांप्रदायिक थी, ये लौकिक दृष्टि से ही चलते थे। लोक में जिन-जिन देवों की वंदना अथवा पूजा होती थी, उनमें से जिनका वर्णन इन्होंने किया है, एक ही प्रकार के भक्ति-भाव से। एक ओर दृष्टि रखनेवाले प्रायः यह अवश्य कहते हैं कि अमुक देव में यह शक्ति नहीं, यह गुण नहीं, इसी देवता में यह बात पाई जाती है, पर पद्माकर ने ऐसा कहीं भी नहीं किया। जो लोग और कुछ नहीं कहते वे अपने इष्टदेव का व्यतिरेक तो दिखाते ही हैं अर्थात् इनके ऐसा और कोई नहीं। पद्माकर ने एकाध स्थान पर ऐसा लिखा है, पर उससे भी कोई तुलना का भाव प्रकट नहीं होता, जैसे—

का अस दीनदयाल भयो दसरत्थ के लाल से सूधे सुभायन।

भक्त को क्या करना चाहिए? क्या वह योग, जप आदि के फेर में पड़े? अथवा केवल भक्ति करे। पद्माकर भगवान् से प्रेम ही करने की सलाह देते हैं क्योंकि भगवान् का सान्निध्य प्रेम करनेवाले ने ही पाया है, योग, जपादि करनेवाले स्वर्गादि चाहे जो कुछ पा गए हों पर उन्होंने राम को नहीं पाया।

धारा धाये फिरत वृथा पै नेम-नीरधि में,
पाये जिन राम तिन प्रेम ही सों पाये हैं।

इसके साथ ही संसार में ये उसी भक्त को ज्ञानवान् समझते हैं 'आपने-सो सुख औ दुख दौरि जु और को देखै'। अपनी लघुता, दीनता, अपढर और निर्द्वंद्वता का वर्णन भी पद्माकर ने बड़ा हृदयग्राही किया है। जैसे—

सीता सी सती को तज्यो झूठोई कलंक सुनि,
सॉचोई कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे।

× × × ×

लंकगढ़ तोरिबे तें, रावन सों रोरिबे तें,
मोहिं भवबंधन तें छोरिबो कठिन है।

× × × ×

ब्याध हूँ लौं बाधिक बिराध-लौं बिरोधी राम,
एते पै न तारौ तौ हमारो कहा बस है।

× × × ×

राखत हैं राखैंगे रखैया रघुनाथ, जन
आपने की बात सदा राखतेई आये हैं।

पद्माकर ने समाज की बँधी हुई भावना के रूप में राम को विष्णु का अवतार माना है। इसीलिए राम, कृष्ण और विष्णु के संबंध में जितनी पौराणिक बातें प्रसिद्ध हैं, विशेषतः पतितोद्धार और भक्त-कल्याण की, उन्हें पद्माकर ने राम की प्रशंसा में निःसंकोच कहा है। सांप्रदायिक दृष्टि से उन्होंने राम को विधि, हरि और हर से ऊपर साकेतवासी नहीं माना है। सूर ने जिस रूप में कृष्ण का अवतार लिया है ठीक उसी प्रकार पद्माकर ने भी। तुलसीदास के राम इन सबसे भिन्न पड़ते हैं। वे 'विधि हरि संभु नचावनहारे' हैं। यद्यपि तुलसीदास ने राम के वर्णन में विष्णु-अवतार की बातों को भी ग्रहण किया है, पर कृष्ण के अवतार की बातें उन्होंने नहीं लीं। किंतु पद्माकर ने राम के वर्णन में कृष्णावतार के कृत्यों को भी राम का ही कृत्य माना है। यद्यपि राम को उन्होंने 'दसरथ का लाल' कहा है, पर राम की भावना सामान्य रूप से भगवान् के रूप में ही मानी है। तुलसी और सूर के काव्यों के प्रचार के अनंतर काव्य-क्षेत्र में भी राम, कृष्ण तथा विष्णु एकरूप माने जाने लगे थे। सामान्य रूप से 'भगवान्' की भावना व्याप्त हो गई थी, इसीलिए पद्माकर के पहले से ही कवि लोग इन अवतारों के पृथक् कार्यों को एक में ही निःसंकोच वर्णन कर दिया करते थे। पद्माकर की यह भावना उसी लगाव में चली आई है। यह भावना बराबर हिंदी के

पुराने ढँढ़े के कवियों में बहुत पीछे तक रही है। अब भी पुराने 'कवीश्वर' उसका पालन करते हैं।

पद्माकर का प्रभाव

सभी साहित्यों में कुछ ऐसे सुकवि हो जाते हैं जिनका अनुगमन आगे के लोग करके अपना भी एक स्थान बनाने की अभिलाषा करते हैं। जब तक परवर्ती लोग उनके सुगुणों को लेकर अपने प्रतिभाबल से उसमें नई-नई उद्भावनाएँ करते चलते हैं तब तक साहित्य के स्वरूप में किसी प्रकार की क्षति नहीं होती, उलटे उसका स्वरूप और निखरता चलता है, किंतु जब नकल करनेवाले केवल नकल करते हैं, उसमें अपनी शक्ति कुछ नहीं लगाते, शब्दांतर से ही पूर्ववर्ती के भावों को थोड़े हेर-फेर से रखने लगते हैं तो साहित्य का ह्रास होने लगता है। हिंदी के प्राचीन साहित्य में नायिका-भेद और अलंकार के बहुत-से ग्रंथ बने, किंतु अधिकांश ग्रंथों में एक ही प्रकार के उदाहरण दिखाई पड़ते हैं। जो कवि समर्थ थे उन्होंने अपने उदाहरण पृथक् रचे, पर साधारण कवियों ने पाँच सवारों में नाम लिखाने के हौसले से सुकवियों का अनुगमन मात्र किया। जब किसी कवि के गुण बहुत अच्छे और आदर्श बन जाते हैं तो उसके अनुगमन की परंपरा भी चल पड़ती है।

बिहारी की सतसई का अनुगमन करके कितने ही कवियों ने अपनी अलग सतसइयाँ निर्मित कीं, कुछ लोगों ने अपना पुरुषार्थ दिखाने के लिए नवसई, हजारा और ग्यारहसई भी बना डालीं। पद्माकर के पास अनुगमन करने योग्य कुछ थोड़े से भाव और मँजी हुई भाषा थी। इसके सिवा भाव और वस्तुवर्णन की कुछ शैलियाँ भी थीं, जैसे भाव-निरूपण में अनुभावों का विधान और रूप का स्वच्छ चित्रण। यह कला अथवा कौशल हिंदी में सबसे पहले बिहारी में बहुत स्पष्ट देख पड़ा। आगे चलकर पद्माकर ऐसे सिद्ध कवियों ने इसे पहचाना और स्वतंत्र रूप में

इसे ग्रहण भी किया। यही शैली आधुनिक काल के रससिद्ध कवि रत्नाकर में दिखाई पड़ी, जिनकी कविता बिहारी और पद्माकर दोनों से प्रभावित है। रत्नाकर ऐसे प्रवीण और भावुक कवि तो काव्य की सच्ची अभिव्यक्ति पहचान गए, किंतु जिन लोगों ने इसे नहीं पहचान पाया वे पद्माकर के भावों की ही नकल करने बैठ गए। ऐसे कवियों में प्रसिद्ध कवि ग्वाल, द्विजदेव और लछिराम भी हैं। ग्वाल ने तो मानों पद्माकर की डाँड़ामेंड़ी में ही अपनी रचनाएँ की हों। उनकी 'यमुनालहरी' पद्माकर की गंगालहरी की होड़ाहोड़ी में बनी और 'रसरंग' जगद्विनोद के अनुगमन पर निर्मित हुआ। इन कवियों में विषय की ही समानांतरता नहीं है, उपविषय, प्रसंग, भाव आदि ठीक आमने-सामने भिड़े बैठे हैं। बानगी के लिए यमुनालहरी को ही लीजिए। पद्माकर ने गंगालहरी में लिखा है—

सबन के बीच बीच-समै महानीच मुख,
गंगा मैया तेरे आजु रेनु-कन ह्वै गये।
कहै 'पद्माकर' दसा यों सुनो ता की वा की,
छबि की छटान सों त्यों छिति छोर छ्वै गये॥
दूत दबकाने चित्रगुप्त चुपकाने, औ
जकाने जमजाल पाप-पुंज लुंज ह्वै गये।
चारिमुख चारिभुज चाहि-चाहि रहे ताहि,
पंचन के देखत ही पंच मुख ह्वै गये॥

ग्वाल भी कहते हैं—

अविधि सुरापी घोर तापी नीच पापी-मुख,
रविजा तिहारी बूँद लघु अति ह्वै गई।
ताही छिन पल में अमल भल रूप भयो,
कुटिल कुढंग ताकी रेख-लेख ख्वै गई॥

'ग्वाल कवि' कीरति सुचीरति दिसान जाति,
दूतन की चित्र की चलाँकी-चित ख्वै गई।
चारमुख चंद्रधर चाहत चितौत ताहि,
चारन के देखत ही चार भुज ह्वै गई॥

कितना अधिक अनुकरण है! अनुकरण क्या, सब मसाला पद्माकर का ही है, उसी में यथेष्ट फेर-फार करके चार पैर खड़े कर लिए गए हैं। ऊपर से 'च्युतसंस्कृति दोष' भी आ धमका। 'चारभुजा ह्वै गई' क्या? कीर्ति। कीर्ति के चारभुज होने में तो कोई चमत्कार नहीं, कोई अर्थ नहीं। शायद कोई 'सुरापिनी' रही हो, तब तो उसे 'अष्टभुजा' होना चाहिए।

रसरंग के बहुत-से स्थल जगद्विनोद से मिलते हैं। कहीं कहीं तो केवल वही भाव उलट-पलट कर रखा गया है।

जब लौं घर को धनी आवै घरै तब लौं तो कहूँ चित दैबो करौ।
'पद्माकर' ये बछरा अपने बछरान के संग चरैबो करौ॥
अरु औरन के घर तें हम सों तुम दूनी दुहावनी लैबो करौ।
नित साँझ सवेरे हमारी हहा हरि! गैया भला दुहि जैबो करौ॥

—जगद्विनोद।

यह लात चलावनी हाय दैया हर एक को नाहिं छुहावनी है।
सुनी तेरी तरीफ मिलावनी की हित तेरे सुमाल पुहावनी है॥
'कवि ग्वाल' चराय लै आवनी ह्याँ फिर बाँधनी पौरि सुहावनी है।
मनभावनो दैहौं दुहावनी मैं यह गाय तुही पै दुहावनी है॥

—रसरंग।

पद्माकर के प्रसिद्ध कवित्त 'गुलगुली गिलमैं'* से ग्वाल का यह छंद मिलाइए—

* जगद्विनोद, छंद ३८१।

सोने की अँगीठिन में अगिन अधूम होय,
होय धूमधामहू तौ मृगमद आला की।
पौन को न गौन होय भरक्यौ सु भौन होय,
मेवन को खौन होय डब्बियाँ मसाला की॥
'ग्वाल कवि' कहै हूर परी से सुरंग वारीं,
नाचतीं उमंग सों तरंग तान ताला की।
बाला की बहार औ दुसाला की बहार आई,
पाला की बहार में बहार बड़ी प्याला की॥

ग्वाल ने न तो भावों के अनुकरण में सफलता पाई और न भाषा के अनुकरण में। बल्कि भाषा का अनुकरण तो और भी भद्दा हो गया है। भाषा की प्रकृति न पहचान सकने के कारण, भद्दे विदेशी शब्दों की भरती और गढंत से ग्वाल की भाषा बहुत ही बेठिकाने हो गई है।

लछिराम ने भी गंगालहरी की होड़ में 'सरयूलहरी' लिखी है। लछिराम में ग्वाल सा अनुकरण तो नहीं है, पर पद्माकर के विषयों से बाहर लछिराम भी नहीं जा सके हैं। पद्माकर के छंदों में पुनरुक्ति तो उतनी नहीं खटकती, क्योंकि उनमें कोई न कोई नई कहन अवश्य रहती है, पर लछिराम के छंदों को पढ़ते-पढ़ते पुनरुक्ति से जी ऊबने लगता है, क्योंकि वहाँ नवीनता का अभाव है। बाल-ब्रह्मघाती, पापी, सुरापी ऐसे विशेषण तक अधिकांश छंदों में यों ही बार-बार आए हैं।

गरल कपाल ब्याल ज्वाल जटाजूट गंग,
अरधंग वेष राममंत्रहि पढ़ावै है।
'लछिराम' रामगंग संग देव-देविन है,
डमरू त्रिसूल कर बिरद बढ़ावै है॥
सौहैं श्री अवध घोर पापिन सुरापिन को,
संकर बिरंचि बूढ़े बैल पै चढ़ावै है।

छोरि अंग अंबर अडंबर विभूति माल,
　　　　गजखाल कंवर बघंवर उढ़ावै है॥ *

लछिराम की भाषा में विदेशी मिलावट तो कम है, पर शब्द-संग्रह अच्छा नहीं है। पद्माकर की भाषा की नकल है अवश्य, पर लछिराम उसका तत्त्व नहीं पा सके। उदाहरण लीजिए—

छोरी में साँवरे को गहि कै बरजोरी सखी तिय-वेष बनाई।
भूषन-भार सँवारि भले हरी कंचुकी झालरैं मोतिन छाई॥
मंद हस्यौ 'लछिराम' तहीं चलि घाँघरे चूनरि की रुचिराई।
काजर दै कहो राधिका सों अवलोकिये नंद की छोहरी आई॥ †

ब्रज के प्रयोगों पर दृष्टि न रखने से पूर्वी प्रयोग इन कवियों में बहुत आ गए हैं, शब्दों तक तो कोई बात नहीं थी, क्रिया-पदों का विन्यास भी पूर्वी हो गया है। इसी सवैया में 'सखी तिय वेष बनाई' को ब्रज के अनुसार 'सखी तिय-वेष बनायो' होना चाहिए।

प्रसिद्ध कवि द्विजदेव ने पद्माकर का वैसा अनुकरण नहीं किया है जैसा ग्वाल और लछिराम ने। इनके पास प्रतिभा थी, काव्य-गुणों के पहिचाननेवाला हृदय था। पद्माकर की भाषा का मूलतत्त्व इन्होंने कुछ समझ पाया था और उसका अच्छा उपयोग भी किया। इनकी कुछ कविताएँ पद्माकर की जोड़-तोड़ में ही निर्मित हुई हैं। उदाहरण लीजिए—

औरै भाँति कोकिल चकोर ठौर-ठौर बोलैं,
　　　　औरै भाँति सबद पपीहन के ह्वै गये।
औरै भाँति पल्लव लिये हैं वृंद-वृंद तरु,
　　　　औरै छवि-पुंज कुंज कुंजन उने गये॥
औरै भाँति सीतल सुगंध मंद डोलै पौन,
　　　　'द्विजदेव' देखत न ऐसे पल द्वै गये।

---

* मिलाओ गंगालहरी, छंद १६।

† मिलाओ जगद्विनोद, छंद ५८०।

औरै रति औरै रंग औरै साज औरै संग,
औरै बन औरै छन औरै मन ह्वै गये ॥

इससे पद्माकर का "औरै भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर" प्रतीक-वाला छंद मिलाइए । *

दूसरा उदाहरण लीजिए—

साँझ ही तें आवत हिलावत कटारी कर,
पाइ कै कुसंगति कृसान दुखदाई का ।
निपट निसंक तैं तजी है कुलकानि, खानि
औगुन अनेक, कहूँ तुलै न बाप-भाई का ॥
एरे मतिमंद चंद आवत न लाज तोहि,
देत दुख बापुरे बियोगी-समुदाई को ।
ह्वै कै सुधाधाम काम बिष को बगारै मूढ़,
ह्वै कै द्विजराज काज करत कसाई को ॥

इससे मिलाइए पद्माकर का "सिंधु को सपूत सुत सिंधुतनया को बंधु" † ।

द्विजदेव की पद्माकर-शैली की भाषा का नमूना भी देख लीजिए—

जावक के भार पग धरति धरा पै मंद,
गंध भार कुचन परी हैं छूटि अलकैं ।
'द्विजदेव' तैसियै बिचित्र बरुनी के भार,
आधे-आधे दृगन परी हैं अधपलकैं ॥
ऐसी छबि देखि अंग-अंग की अपार
बार-बार लोल लोचन सु कौन के न ललकैं ।

---

* जगद्विनोद, छंद ३७१ ।
† जगद्विनोद, छंद ५३६ ।

पानिप के भारन सँभारति न गात,
लंक लचि-लचि जाति कचभारन के हलकें ॥ *

भाषा में कैसी स्निग्धता है !

पद्माकर को आदर्श रूप में ग्रहण करनेवाले रससिद्ध कवि रत्नाकर भी हैं। रत्नाकर ने भावों के लिए 'पद्माकर' का अनुकरण नहीं किया है। 'रत्नाकर' के पास भाव-रत्नों की कमी थी ही नहीं। होड़ में भी कुछ लिखने की उन्हें आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने पद्माकर की भाषा को अपना आदर्श बनाया है। उनके कवित्तों की भाषाशैली तो एकदम पद्माकर की सी है। काव्य-मर्मज्ञ और अध्ययनशील होने के कारण उन्होंने भाषा अच्छी लिखी है। बिहारी के प्रभाव से भाषा को बहुत चुस्त करने के कारण कहीं-कहीं गूढ़ता अवश्य आ गई है, पर रत्नाकर की भाषा का प्रवाह, सफाई और लोच अधिकांश उत्कृष्ट है। ब्रजभाषा में उनके ऐसा भाषा-मर्मज्ञ, कहना पड़ेगा, इधर बहुत दिनों से नहीं हुआ और न होने की संभावना है। मिलते वर्णनों को सामने रखने से पूर्वोक्त कथन स्पष्ट होगा—

विधि बरदायक की सुकृति-समृद्ध-वृद्धि,
संभु सुरनायक की सिद्धि की सुनाका है।
कहै 'रतनाकर' त्रिलोक-सोक नासन कौं,
अतुल त्रिबिक्रम के बिक्रम की साका है॥
जम-भय-भारी-तम तोम निरवारन कौं,
गंग यह रावरी तरंग तुंग राका है।
सगरकुमारनि के तारन की स्रेनी सुभ,
भूपति भगीरथ के पुन्य की पताका है॥
—रत्नाकर।

---

* मिलाओ जगद्विनोद, छंद १२।

बिधि के कमंडल की सिद्धि है प्रसिद्ध यही,
हरि-पद-पंकज प्रताप की लहर है।
कहै 'पद्माकर' गिरीस-सीस-मंडल के,
मुंडन की माल ततकाल अघहर है॥
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ,
जन्हु-जप-जोग-फल-फैल की फहर है।
छेम की छहर गंगा रावरी लहर,
कलि काल की कहर जम-जाल का जहर है॥

—पद्माकर।

दोनों को ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि इनकी शैली एक सी ही है।

पद्माकर की कविता का प्रचार बहुत था। पुराने ढंग का कोई परवर्ती कवि ऐसा न होगा जिसने इनकी कविता को पढ़ा या सुना न हो। पढ़ना और सुनना ही नहीं, उसका अनुगमन भी बहुतों ने किया है। शायद ही कोई परवर्ती कवि ऐसा हो जो पद्माकर के भावों की न सही, भाषा की सफाई की नकल करने न बैठा हो। भाषा के विचार से पद्माकर का हिंदी के पिछले खेवे के कवियों पर बहुत बड़ा प्रभाव है। उन कवियों की रचनाओं में जो पूर्वी प्रयोग मिल गए हैं, वह भाषाओं का स्वरूप ठीक-ठीक न पहचानने कारण।

भावाभिव्यंजन

(पद्माकर की कविता में युद्ध, प्रेम और भक्ति-भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।) इनकी युद्धवाली रचना में वीर रस के साथ-साथ बीभत्स, भय, रौद्र, भयानक और करुण सबके लिए जगह थी, पर इन्होंने युद्ध-वीरत्व का ही सच्चा निरूपण नहीं कर पाया, फिर अन्य रसों की चर्चा ही क्या। युद्ध के प्रसंग में जहाँ वीरों की काट का अवसर आया है

वहाँ सभी जगह तीर, बरछी, भाले आदि का नाम भर ले लिया है, उनकी काट का वर्णन करके रसात्मकता उत्पन्न करने की चेष्टा ही नहीं है, जहाँ चढ़ाई आदि का चित्रण करने की आवश्यकता थी वहाँ इन्हें नाम गिनाने से ही फ़ुरसत नहीं थी। जहाँ सेना के उपकरणों का वर्णन आया है, वहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा और परंपरा-पालन में ही लगे रहने से बाह्य स्वरूप तक मजे में नहीं झलकाया गया, आभ्यंतर की चर्चा ही क्या! केवल सबसुख-राय के पुत्र मांधाता की स्वामिभक्ति और उत्साहवर्धक वचनों के अतिरिक्त और कहीं भी कोई भाव-व्यंजना 'हिम्मतबहादुर-विरदावली' में काम की नहीं है। अन्य रसों का कोई वर्णन नहीं है, इधर-उधर जो फुटकर छंद मिलते भी हैं उनसे पता चलता है कि मुक्तक-रचनावाले कवि और कुछ न कर जो कल्पना का किला बाँधा करते थे, वह भी इनमें नहीं है, केवल कुछ गिनी गिनाई वस्तुओं का शाब्दिक झंकार के साथ कथन भर है। इसलिए प्रेम और भक्ति दो ही भाव इनकी कविता में विचार करने को रह जाते हैं।

इनकी भक्ति-भावना पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि ये संसारी भक्त थे। इसलिए ये उपास्य अथवा उपासना का रूप खड़ा करने के फेर में नहीं पड़े, केवल अपने आंतरिक पश्चात्ताप का ही कथन करते रह गए हैं। हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति होने से, चमत्कार की कुछ भी योजना न होने पर भी इनकी भक्ति की कविता में स्वारस्य पाया जाता है। प्रसंगों की योजना करके रसात्मकता उत्पन्न करने की परिपाटी भक्ति की कविता में पहले से ही नहीं थी, इसलिए पद्माकर ने ईश्वर की सामर्थ्य, शक्ति, पतितोद्धारकता, नाममहिमा, दयालुता, महानता आदि का सामान्य वर्णन भर किया है और जीव की मूढ़ता, माया की फँसावट आदि का उल्लेख करके फटकार, चेतावनी, भजन का उपदेश आदि दिया है। दो-चार छंदों में इनकी कहन अत्यंत मर्मस्पर्शी हो गई है—

भाग में रोग, वियोग सँयोग में, योग में काय-कलेस कमायो।
त्यों 'पद्माकर' वेद-पुरान पढ़्यो, पढ़ि कै बहु बाद बढ़ायो॥

दूनी दुरास में दास भयो, पै कहूँ विसराम को धाम न पायो।
कायो गमायो सु ऐस ही जीवन, हाय मैं राम का नाम न गायो॥

दुराशा का यह सोदाहरण वर्णन बड़ा मार्मिक है। संसार के कार्यों में लिप्त होने के बाद हम उसके इतने दास हो जाते हैं कि उसके छोड़ने में शरीर को कष्ट तो होता ही है, चित्त भी बेकाम हो जाता है। अशांति के कारण वृत्ति कहीं टिकती ही नहीं। संसार में सुख-भोग, तपश्चरण और विद्याध्ययन सभी झंझट के घर बन गए हैं, उन्हें हमने ऐसा ही भीषण बना रखा है। ईश्वर की सत्ता में आस्था रखकर चलने से कम-से-कम अपथ अथवा कुपथ से बचने का प्रयत्न तो हम करते ही रहेंगे। इसी प्रकार—

पेट के चेट बेगारहि में जब लौं जियना तब लौं सियना है।

× × ×

हौं तो न लोटतो लोभ-लपेट में पेट की जो पै चपेट न होती।

राम पर विश्वास और अपनी तुच्छता के उद्गार भी चुटीले हैं—

राखत हैं राखैंगे रखैया रघुनाथ, जन
आपने की बात सदा राखतेई आये हैं।

× × ×

अधम-उधारन हमारे रामचंद, तुम
साँचे बिरदैत या तें काँचे हम क्या पर।*

× × ×

एक यहै बर माँगत हौं बर दूजो बिरंचि न भूलि हू दीजौ।
राम को कोऊ गुलाम कहै, ता गुलाम को मोहिं तिलाम लिखीजौ॥

कहीं-कहीं अधमोद्धार की आड़ में कवि ने कुछ सूक्तियाँ भी कही हैं, जो व्यंग्यपूर्ण और बड़ी मधुर हैं—

---

* ऐसे ही कुछ अन्य स्थल—प्रबोध-पचासा, २५,२६,४६।

ब्याध हू लौं बधिक बिराध-लौं बिरोधी राम,
 एते पै न तारौ तौ हमारो कहा बस है।
+ + + +
सुनते ना अधम-उधारन तिहारो नाम,
 और को न जानै, पाप हम तो न करते।*

'गंगालहरी' में जो भक्ति की कविता है वह बाहरी चमत्कार से इतनी लदी है कि उसमें व्यंग्य के स्वच्छ मार्ग का पता बड़े फेर से चलता है। कहना यह चाहिए कि उसमें चमत्कार ही प्रधान है और कुछ सूक्तियाँ ही पाई जाती हैं, यमराज और चित्रगुप्त से कहीं छुट्टी मिली तो कवि पापी के शंकर-स्वरूप को लेकर उड़ने लगा। इससे यदि कहीं फुरसत मिली तो गंगा-गौरव का पौराणिक झगड़ा छेड़ बैठे। इसलिए पद्माकर के पूरे भक्तिकाव्य पर दृष्टि डालने से यह निष्कर्ष निकलता है कि भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति का इसमें अवसर ही नहीं आने दिया गया है, जो कुछ है वह सामान्य भक्ति-भाव की धारणा के आधार पर ही खड़ा है, कोई अधिक गहराई यहाँ नहीं है।

सच पूछा जाय तो प्रेम ही एक ऐसा है जो पद्माकर का प्रधान वर्ण्य-विषय था। प्रेम का जो क्षेत्र इन्होंने लिया वह बहुत संकुचित है। लक्षण-ग्रंथ के भीतर किसी भाव की अभिव्यक्ति खुलकर हो ही नहीं सकती, क्योंकि लक्ष्य को लक्षण के भीतर दबकर चलना पड़ता है, उसका प्रसार हो भी तो कैसे! प्रेम के भीतर इन्होंने केवल शृंगार ही लिया है और उसके दोनों पक्षों में से संयोग शृंगार का ही विशेष विस्तार है, विप्रलंभ का उतना नहीं। वियोग-पक्ष में ही प्रेम का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, वह राशीभूत हो जाता है,† पर पद्माकर

* साहित्य-समालोचक, पद्माकरांक।

† स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
 दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।—मेघदूत।

ऐसे शृंगारी कवियों को नवोढ़ाओं के हाव-भाव से ही अवकाश नहीं मिलता था, इसपर विचार कौन करता। यद्यपि विप्रलब्धा, उत्कंठिता आदि में भी विरह का हलका स्वरूप दिखाने की जगह रहती है, पर प्रियप्रवास से ही वियोग पक्ष का प्रकृत स्वरूप निखरता है। पद्माकर ने वियोग-पक्ष में ऊहात्मक पद्धति ग्रहण अवश्य की है, पर पुरानी लीक को छोड़कर जहाँ उन्होंने वियोग का मूल रूप सामने रखा है वहाँ रसात्मकता अवश्य आ गई है। मुग्धा के विरह का वर्णन देखिए—

मोंगि सिख नौ दिन की न्यौते गे गोबिंद,
तिय सौ दिन समान छिन मान अकुलावै है।
कहै 'पद्माकर' छपाकर छपाकर तें,
बदन-छपाकर मलीन मुरझावै है॥
बूझत जु कोऊ कै 'कहा री भयौ तोहिं,'
तब और ही को औरै कछू बेदन बतावै है।
आँसू सकै मोंचि न सँकोच-बस आलिन में,
उलही बिरह-बेलि दुलही दुरावै है॥

भरति उसासन, दृग भरति, करति गेह के काज।
पल-पल पर पीरी परति, परी लाज के राज॥

मुग्धा में लज्जा का आधिक्य होता है, इसलिए वह बेचारी अपने हृदय की बात किसी से कह नहीं सकती, पूछने पर भी बहाने कर देती है। विरह में पड़कर वह चुपचाप पड़ी भी नहीं रहती। घर के काम भी करती जाती है और एकांत में आहें भी भरती है, भरपूर रोती भी नहीं, केवल आँखों में आँसू भरकर रह जाती है। अपनी व्यथा छिपाने में वह सयत्न तो रहती है, पर देह का पीला पड़ना कैसे छिपाए।

प्रौढ़ा आदि में कवि लोग विरह का आधिक्य मानते हैं, पर उसके वर्णन में जो ऊहात्मक ढंग से उक्ति लिखते हैं, वे इस स्वाभाविक

भावचित्रण के सामने जँचेगी क्या, उलटे खेलवाड़ जान पड़ेगी—

बरसत मेह अछेह अति, अवनि रही जलपूरि।
पथिक तऊ तुव गेह तें, उठति भभूरनि धूरि॥

प्रवास-विरह तो था ही, जरा मानावसान के विरह की ज्वाला देखिए—

घन घमंड पावस-निसा, सरवर लग्यो सुखान।
परखि प्रानपति जानि गो, तज्यौ मानिनी मान॥ *

इस प्रकार के वर्णनों से कहीं अधिक स्वाभाविकता तो साधारण श्लेष के चमत्कार को लेकर लिखी गई इस उक्ति में है—

याही छिन याही सों न मोहन मिलौगे जो पै,
लगनि लगाइ एती अगिनि अबाती-सी।
रावरी दुहाई तौ बुझाई ना बुझैगी फेरि,
नेह-भरी नागरी की देह दिया-बाती-सी॥

इसमें अलंकारों की जो योजना है वह भाव तक पहुँचाने में पीछे नहीं है। प्रेमाधिक्य से वियोग के कारण जो विरहाधिक्य की व्यंजना है वह नायक को तत्पर करने में पूर्ण सहायक है। 'बुझाई ना बुझैगी' से दूती दिखाना चाहती है कि व्याधि बढ़ जाने पर हाथ ही मलना पड़ेगा, वह हाथ न लगेगी।

प्रिय-वियोग के कारण सुखद वस्तुएँ भी दुःखद हो जाती हैं, इसे लेकर कवि लोग बड़े-बड़े तूफान उठाया करते हैं। पद्माकर ने भी वस्तुओं को दुःखद रूप में लाक्षणिक ढंग से रखा है, पर 'सूधेपन' के कारण बात स्वाभाविक बनी है, तमाशा नहीं होने पाई है—

ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भलो,
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन-कुंज हैं।

---

* इसी शैली के अन्य वर्णनों के लिए देखो जगद्विनोद, ५४४, ५४५, ६६२ आदि।

किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं॥

× × × ×

ए ब्रजचंद चलौ किन वाँ ब्रज लूकैं बसंत की ऊकन लागीं।
कारी कुरूप कसाइनैं ये सु कुहू कुहू क्वैलिया कूकन लागीं॥

'लूकैं' और 'कसाइनैं' दोनों लाक्षणिक पद हृद्गत भाव की सिद्धि में प्रयोजनीय हैं। 'क्वैलिया' पद में तिरस्कार की अच्छी व्यंजना है।

उद्धव-प्रसंग का ही एक उदाहरण और लीजिए—

कंकालिनि कूबरी कलंकिनि कुरूप तैसी,
चेटकिनि चेरी ता के चित्त को चहा कियो।
राधिका की कहवत काहि दीजौ मोहन सों,
रसिक-सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियो॥ *

हम जिसपर प्रेम करते हैं, उससे यह आशा तो रखते ही हैं कि वह दूसरे से प्रेम न करने पाए; इसके अतिरिक्त यह भी चाहते हैं कि उसकी अकीर्ति भी न हो। यदि वह कोई बुरा काम कर बैठे तो हमारे चित्त में यह तुरत समा जाता है कि लोग कहने लगेंगे कि ये उनके संबंधी हैं। राधिका के कथन में आंतरिक भावना यही है कि 'राम राम! तुमने यह क्या किया, कूबरी से प्रेम करके तुमने वह रसिकता खो दी जो तुमने ब्रज में संचित की थी।'

अपने परदेशी पति के पास पत्नी जो पत्र लिखती है उसमें उसके पतिप्रेम की कैसी व्यंजना है! जिसे हम प्यार करते हैं, यदि उसका सांनिध्य हमें प्राप्त न हो तो हम उसके कुशल और रक्षा से ही अपने चित्त का संतोष कर लेते हैं। वह जहाँ रहे मजे में रहे। यही सामान्य भावना इस छंद में है—

---

* ऐसे ही अन्य स्थल—जगद्विनोद, ४९८, ६६०।

पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोबिँद कों,
　　"श्रीयुत सलोने स्याम सुखनि सने रहौ।
कहै 'पद्माकर' तिहारी छेम छिन-छिन
　　चाहियतु, प्यारे मन-मुदित घने रहौ॥
बिनती इती है कै हमेस हू मुहै तौ निज,
　　पाइन की पूरी परिचारका गने रहौ।
याही में मगन मनमोहन हमारो मन,
　　लगनि लगाइ लाल मगन बने रहौ"॥

चमत्कार उत्पन्न करने का कोई प्रयत्न न होने पर भी इस सीधी-सी सामान्य बात में कैसी भावुकता है, आर्यरमणियों का स्वच्छ चरित्र कितना साफ अंकित है।

घर से प्रिय के चले जाने पर लोग कहते हैं कि घर सूना हो गया, घर भाँय-भाँय करता है। कभी-कभी इस सूनेपन को प्रकट करने के लिए कहा जाता है कि सभी पदार्थ न जाने कैसे हो गए हैं या कुछ-के-कुछ हो गए हैं। इस प्रकार परिवर्तन का कारण न ढूंढ़ सकने में एक प्रकार की तीव्र वेदना छिपी रहती है। इसे ही निम्नलिखित छंद में बड़े सौम्य ढंग से कवि ने कहा है—

सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल-छंद से छ्वै गये हैं।
'पद्माकर' चाँदनी चंद हू के कछू औरहि डौरन च्वै गये हैं॥
मनमोहन सों बिछुरे इत ही बनि कै न अबै दिन द्वै गये हैं।
सखि वे हम वे तुम वेई बने पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं॥

अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं, पद्माकर ने जहाँ कहीं सीधी और सामान्य बातें रखी हैं, अपनी निरीक्षण और व्यंजना-शक्ति का परिचय दिया है।

संयोग शृंगार में पद्माकर ने आलंबनों के भेदों के जो उदाहरण

रखे हैं, उनमें उनका वर्णन ही प्रधान है, प्रसंग की योजना के द्वारा भावाभिव्यक्ति करने के अवसर उन्होंने कम रखे हैं। पहले कहा जा चुका है कि मुक्तक के क्षेत्र में भी प्रसंग का विधान किए बिना भाव-व्यंजना अच्छी हो नहीं सकती। लक्षण-ग्रंथ होने के कारण आलंबन के बाह्य स्वरूप पर ही अधिक दृष्टि रखने की आवश्यकता भी थी। इसीलिए पद्माकर के बहुत थोड़े पद ऐसे रह जाते हैं जो भावों की व्यंजना की दृष्टि से विचार करने योग्य हैं। बिहारी आदि स्वच्छंद कवियों में यह बात नहीं है, उन्हें लक्षणों की चिंता नहीं थी। प्रसंग की योजना करने में भी पद्माकर ने सीधी सामग्री ही चुनी है, बिहारी आदि की भाँति बीहड़ प्रसंगों के आक्षेप की गुंजाइश इनकी रचना में नहीं है। यदि पद्माकर ऐसा करने बैठ जाते तो इनकी पुस्तक दुरूह हो जाती और कोई उसे पढ़ता भी नहीं। होली आदि के प्रसिद्ध प्रसंगों को चुनकर ही इन्होंने अपना काम चलाया है। इनका सारा प्रयत्न हावों, चेष्टाओं और कार्य-व्यापारों में ही समाप्त हो गया है। भावों को जिस प्रवणता के साथ प्रस्तुत करना चाहिए था उधर इनकी दृष्टि ही कम गई। फिर भी ऐसे अवसर आए हैं और पद्माकर ने उनमें अपनी रसिकता का परिचय भी दिया है।

प्रेम के प्रभाव से कष्टदायक वस्तुएँ भी सुखद हो जाती हैं। प्रेम की प्राप्ति में कष्ट का होना और उस कष्ट को पार कर लेने पर अभीष्ट लाभ, इस धारणा के कारण लोगों ने प्रेम को विकट-प्रयत्न-साध्य कहा है। प्रेम-काव्यों में इसी प्रयत्न और कष्ट के वर्णन अधिक पाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में जो उन कष्टों को फूल समझता है वही सफल होता है। अभिसारिका के वर्णन में कष्टों को भी सुखद दिखाते हुए कवि लिखता है—

> कामद-सो कानन कपूर-ऐसी धूरि लगै,
> पट-सो पहार, नदी लागति है नल-सी।

घाम चाँदनी-सो लगै, चंद सो लगत रवि,
मग मखतूल-सो मही हू मखमल-सी॥

प्रेम की मग्नता में इस प्रकार के कष्टों को सामान्य समझना तक तो ठीक है, पर भाव-मग्नता को लेकर कभी-कभी काले नागों को कुचलते हुए जाना भी कवि लोग लिखते हैं। इस प्रकार प्रेम के प्रसंग में व्यर्थ ही नाग, बाघ, मगर, घड़ियाल का लाना एक प्रकार का भाव-विरोध ही है ; जैसे पद्माकर का यह उदाहरण—

कारी निसि कारी घटा, कचरति कारे नाग।
कारे कान्हर पै चली, अजब लगनि की लाग॥

'लगनि की अजब लाग' है, इसे माना, पर काले नागों का कुचलना कोई विशेषता उत्पन्न नहीं करता, परंपरायुक्त कथनों पर विचार करने की भी आवश्यकता होती है, उनका अंधानुसरण किस काम का।

पति के प्रेम के गर्व का एक छंद पद्माकर ने अच्छा दिया है। पत्नी को पति नैहर नहीं जाने देता, यद्यपि वहाँ के लोग नायिका के लिए दुःखी हैं—

मो बिन माइ न खाइ कछू, 'पद्माकर' त्यों भई भाभी अचेत है।
धीरन आये लिवाइबे कों तिनकी मृदुबानि हू मानि न लेत है॥
प्रीतम को समुझावति क्यों नहीं, ये सखी तू जु पै राखति हेत है।
और तो मोहिं सबै सुख री, दुख री यहै माइके जान न देत है॥

पति-प्रेम की व्यंजना इस सवैया से अच्छी होती है। नैहरवालों के कष्ट और प्रयत्न का कथन हो जाने से उन लोगों के प्यार की भी झलक मिल जाती है।

इस सवैया में वर्ण्य सामग्री साधारण जीवन से ली गई है। हिंदी में कवि लोग साधारण जीवन में कम घुसे हैं। उनके लिए वर्णन-सामग्री राधा-माधव की प्रेम-क्रीड़ा ही विशेष रही है, पद्माकर के भी अधिकांश

उदाहरण राधा-कन्हाई की ही प्रेमलीला को लेकर हैं, पर इन्होंने अपनी वर्णन-सामग्री सामान्य जीवन से भी चुनी है। जहाँ वर्णनात्मक प्रसंग लाने पड़े हैं वहाँ इन्होंने राजदरबारों की छटा ली है। सामान्य-जीवन का वर्णन जहाँ-जहाँ पद्माकर ने रखा है, उसमें अनोखापन अवश्य आ गया है। रूप के गर्व की व्यंजना का उदाहरण लीजिए—

है नहिं भाइको मेरी भटू यह सासुरो है सबकी सहिबो करौ।
त्यों 'पदमाकर' पाइ सोहाग सदा सखियान हु कों चहिबो करौ॥
नेह भरी बतियाँ कहि कै नित सौतिन की छतियाँ दहिबो करौ।
चंदमुखी कहै होती दुखी तौ न कोऊ कहैगो सुखी रहिबो करौ॥

प्रेम-लीला के बहुत से उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए जगह नहीं, प्रेम-मार्ग की बँधी परिपाटी का पद्माकर ने जो वर्णन किया है वह उसी संकुचित क्षेत्र के भीतर है जिसमें उनके पूर्ववर्ती कवि अपनी वाटिका लगाते आ रहे थे। पद्माकर ने अपनी उक्तियों को कुछ दूसरे प्रकार से व्यक्त किया है, केवल इतना ही भेद है। जब वे एक-से वर्णनों में कहन की सूरत पैदा कर लेते थे तो विषय-भेद होने पर ऐसा कर लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं। किंतु परिपाटी से अलग उन्होंने भावों की सीधी कहन में अपनी जैसी भावुकता दिखाई है वैसी अन्यत्र नहीं। एक ही प्रकार के वर्णनों और एक ही प्रकार की वर्ण्य सामग्री जब बहुत दिनों तक चलती रहती है तो फिर उसके सुनने में चित्त जमता भी नहीं, चाहे उसमें कहन की विशेषता उत्पन्न कर भी दी जाय, पर वह बासी ही जान पड़ती है। इसीलिए लोग चित्त को संतोष देने के लिए पुस्तक की प्रस्तावना में प्रायः इस प्रकार के वाक्य लिख दिया करते थे—"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई, न तु राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"

यहाँ पर थोड़ा-सा शैली के संबंध में भी विचार कर लेना चाहिए। भावों को व्यक्त करनेवाली और प्रकार की शैलियों का उल्लेख चिन्ता...

आदि के भीतर हो चुका है यहाँ संवाद और अलंकार योजनावाली शैलियों पर कुछ विचार कर लिया जाता है। संस्कृत के 'अमरुक शतक' की देखादेखी और उसी का आधार लेकर पद्माकर ने रसात्मकता उत्पन्न करने के लिए कुछ छंद उत्तर-प्रत्युत्तर अथवा संवाद की शैली-पर भी रखे हैं, इन छंदों में चमत्कारपूर्ण अन्य छंदों की अपेक्षा अधिक सरसता है और वह भी स्वाभाविकता को लिए हुए।

कहाँ आये ?, तेरे धाम ; कौन काम ?, घर जानि ;
तहाँ जाउ, कहाँ ?, जहाँ मन धरि आये हौ।

× × × ×

बोलत न काहे ए री ? पूछे बिन बोलौं कहा,
पूछति हौं कहा भई स्वेद-अधिकाई है ?।
कहै 'पद्माकर' सु मारग के गये-आये,
साँची कहु मो सों आज कहाँ गई-आई है ?॥
गई-आई हौं तो पास साँवरे के, कौन काज ?,
तेरे लिये ल्यावन सु तेरियै दुहाई है।
काहे तैं न ल्याई फिरि मोहन बिहारी जू कों ?,
कैसे वाहि ल्याऊँ ?, जैसे वाको मन ल्याई है॥*

इसमें 'मोहन बिहारी जू' में कैसी सार्थक व्यंजना है ? इन संवादों के अंतिम उत्तर में ही वास्तविक भाव प्रकट होने दिया गया है, अन्यथा इसके पूर्व तक कोई ऐसी बात नहीं कही गई है जिससे मूक भाव दूसरे पक्ष पर प्रकट हो जाय।

अलंकार भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने और भाव की अनुभूति

---

* अन्य संवादों के लिए देखो जगद्विनोद, ६२, २३७। इन्हें मिलाओ अमरुकशतक ५७ और ७१ से।

तीव्र कराने में सहायक होते हैं।† पद्माकर ने प्रायः साम्यमूलक अलंकारों—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि—से रूप ही ग्रहण कराया है।

बिंदु घने मेंहँदी के लसैं कर, ता पर यों रह्यो आनन आइ कै।
इंदु मनो अरविंद पै राजत इंद्रबधून के वृंद बिछाइ कै॥

सारूप्य और साधर्म्य दोनों के विचार से यहाँ उत्प्रेक्षित उपमान ठीक पड़ते हैं।

पद्माकर ने भीषण उत्प्रेक्षाएँ नहीं की हैं, केशव और बिहारी की भाँति रंगों का स्वरूप ग्रहण कराने के लिए ग्रह-मंडल से ही उपमान नहीं उतारे हैं, कल्पना के लोक में बहुत दूर तक नहीं भटके हैं। बेंदा के टटक कर गिरने पर कवि की उत्प्रेक्षा देखें—

नीलमनि-जटित सुबेंदा उच्च कुच पै, परयो है
टूटि ललित ललाट के मजेजे तें।
मानों गिर्‍यो हेमगिरि सृंग पै सुकेलि करि,
कढ़ि कै कलंक कलानिधि के करजे तें॥

भावों की अनुभूति तीव्र कराने में सहायता पहुँचानेवाली अलंकार-योजना पद्माकर में कम है। प्रेम की गंभीरता और जटिलता को लेकर यह रूपक रखा गया है—

प्रीति पयोनिधि में धँसि कै हँसि कै कढ़िबो हँसी-खेल नहीं फिर।

रूपक और उपमा के सहारे विरह की व्यंजना में कहा गया है—

याही दिन याही सों न मोहन मिलैगे जो पै,
लगनि लगाइ एती अगिनि अवाती-सी।
रावरी दुहाई तौ बुझाई न बुझैगी फेरि,
नेह-भरी नागरी की देह दिया बाती-सी॥

† आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल : [illegible], अलंकार-विधान।

रूप ग्रहण कराने और भावानुभूति तीव्र करानेवाले अलंकारों के अतिरिक्त पद्माकर ने शुद्ध चमत्कार उत्पन्न करनेवाले अलंकार भी रखे हैं। 'गंगालहरी' के कुछ छंदों में अच्छी 'वक्रोक्ति' है, जो अलंकार का विषय न रहकर यथास्थान व्यंग्य का विषय हो गई है, पर कुछ छंद शुद्ध चमत्कार उत्पन्न करनेवाले ही हैं। कहीं-कहीं भाषा में झंकार उत्पन्न करने के विचार से अनुप्रास की योजना पद्माकर ने अच्छी नहीं की है, अन्यथा केवल चमत्कारवाले अलंकारों का ग्रहण इनकी रचना में नहीं है। अलंकारों का विधान इनकी रचना में इसीलिए अच्छा ही कहा जायगा।

भाषा

भावों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा चाहे जो हो, पर चाहे जैसी हो यह नहीं कहा जा सकता। भावों को वहन करनेवाली और कवि एवं पाठक की अनुभूतियों के बीच संबंध-सूत्र स्थापित करनेवाली भाषा ही होती है। यदि भाषा उपयुक्त न होगी, तो अच्छे-अच्छे भावों को सामने रखकर, नाना प्रकार की अभिव्यंजन-शैलियों का उपयोग करके भी कवि सफलकृति नहीं हो सकता। हिंदी में प्राचीन कविता कुछ ऐसी भी पाई जाती है जिसमें भाषा के स्वरूप का ध्यान तो दूर रहा, व्याकरण तक का पूरा विचार नहीं है। शब्दों के मनमाने रूपों से भाषा की परंपरा भी चौपट कर दी गई है। तुलसी और बिहारी भाषा का जैसा स्वरूप सामने लाए, उसपर लोगों ने दृष्टि नहीं डाली। भाषा की सामर्थ्य, गठन और वाक्यों की बनावट तथा शब्द-संग्रह का विचार लोगों को कम था। केवल शब्दों को जोड़कर ही वे भाषा के संबंध में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे।

पद्माकर ने भाषा के संबंध में वैसी लापरवाही नहीं की है, जैसी भाव के संबंध में। इन्होंने भाषा का बाह्य और आभ्यंतर दोनों ठीक रखने का उद्योग किया है। बाह्य का तात्पर्य शब्दों की बनावट अथवा उनसे

उत्पन्न होनेवाली झंकार से है और आभ्यंतर से अभिप्राय उसकी अर्थगत रमणीयता अथवा शक्ति से है। साहित्यशास्त्र में वृत्तियों का स्वतंत्र रूप से, या अलंकार के भीतर अनुप्रास में, जो वर्णन मिलता है वह भाषा के सौष्ठव और उसकी भावानुकूलता को ही लेकर। एक प्रकार से भाषा के गठन को ही दृष्टि में रखकर इनका निरूपण किया गया है। भाषा का अलग विचार न कर उसे भावाभिव्यक्ति की शैली के भीतर ही आचार्यों ने दिखाया है। इनके अतिरिक्त गुणों का विधान भी भाषा की आंतरिक शोभा को लेकर ही होता है। इसलिए प्राचीनों के शब्दालंकार, वृत्ति और गुण वस्तुतः भाषा के ही निरूपण हैं। इनके अतिरिक्त लक्षणा वृत्ति के बहुत-से प्रयोग भाषा के भीतर आते हैं और उनका स्वरूप मुहावरों आदि में देखने को मिलता है। इन्हीं सबपर विचार करने से किसी कवि की भाषा की ठीक-ठीक मीमांसा हो सकेगी।

इस दृष्टि से भाषा का विचार सामान्य विचार हुआ। विशेष को दृष्टि में रखकर भाषा के कुल आदि का विचार भी किया जाता है। पद्माकर की भाषा कुल के विचार से ब्रजभाषा है और वह सामान्य काव्य-भाषा के रूप में गृहीत हुई है। भाषाओं के जो दो वर्ग भाषा-वैज्ञानिकों ने माने हैं, उनमें से ब्रजभाषा और खड़ीबोली पश्चिमी वर्ग की भाषाएँ हैं और बैसवाड़ी, अवधी आदि पूर्वी वर्ग की। ब्रजभाषा के भी दो भेद हैं। उन्हें भी पश्चिमी और पूर्वी कहा जाता है। पश्चिमी ब्रजभाषा वह है जैसी बिहारी, घनानंद आदि में मिलती है और पूर्वी वह जिसके अंतर्गत बुँदेली आदि का समावेश होता है। हिंदी में बहुत इधर के कवियों ने ऐसे पूर्वी प्रयोग और शब्द मिला दिए हैं जो ब्रजभाषा के उक्त पश्चिमी और पूर्वी भेदों से भिन्न हैं। पिछले कवि अधिकतर अवध प्रांत में हुए हैं, इसलिए उनके प्रयोग और शब्द आदि बहुत-से पूर्वी वर्ग के भी मिलते हैं, यद्यपि भाषा का सामान्य स्वरूप उन्होंने पश्चिमी वर्ग (ब्रजभाषा) का ही रखा है। तुलसीदास की ब्रजभाषा तक में शब्दों के स्वरूप आदि

पूर्वी ढंग के मिलते हैं। पद्माकर में पूर्वी प्रयोग नहीं हैं, पर ब्रज का पश्चिमी रूप इनमें सामान्य ब्रजभाषा के ग्रहण करने के ही कारण है। शब्द और उनके स्वरूप बहुत स्थलों पर पूर्वी ब्रज के हैं। इनकी आरंभिक कविता पर बुँदेली का प्रभाव है और पिछली कविता पर अंतर्वेदी का जो सीमा पर की बोली है। बुँदेली के शब्दों के साथ-साथ क्रियापद आदि भी लिए गए हैं, * पर अंतर्वेदी के बहुत कम क्रियापद रखे हैं, शब्द एवं बोलचाल ही को अधिक ग्रहण किया है।† ब्रज के पश्चिमी रूप में क्रिया का रूप खिंचा हुआ और यथास्थान व्यंजनांत रहता है, पर पूर्वी वर्ग की सीमा पर उसका रूप ढीला और स्वरांत होकर अवध प्रांत की भाषाओं से मिल जाता है। जैसे सामान्य भूतकाल का रूप पश्चिमी ब्रज में 'भयो गयो' आदि है, पर सीमा पर 'भयउ गयउ' आदि। पद्माकर ने दोनों रूपों का प्रयोग किया है। पूर्वकालिक क्रिया आदि में जो स्वरांत रूप मिलते हैं वे पुराने हैं। बिहारी ने भी 'खाय, आय, जाय' आदि ब्रज के प्रकृत स्वरूपों को छोड़कर 'खाइ, आइ, जाइ' रूप रखे हैं, जो पूर्वी न होकर प्राचीन हैं। पद्माकर ने ऐसे रूप प्राचीन परिपाटी के ही कारण रखे हैं।

पद्माकर की आरंभिक कविता में विभक्तियों का स्वरूप कुछ पुराने ढंग का है, पर आगे चलकर इन्होंने विभक्तियों का सामान्य रूप ही ग्रहण किया है; जैसे तृतीया के सौं के स्थान पर सों, चतुर्थी के कौं के स्थान पर कों या को; पंचमी के तैं के स्थान पर तें; सप्तमी के मैं के स्थान पर में। इसी प्रकार अव्ययों के भी औकारांत रूप ओकारांत ही रखे गए हैं—

---

* बुँदेली के कुछ शब्द एवं क्रियापद—सपटो, छूटा, खिक, कहुँचो, उलझारना उकटना, छिरकना, छियना।

† अंतर्वेदी के प्रयोग—उराउ, चापट करबो, घाल, खासे, खसबोइ, भनार; भभिरना, हिलगना, जुटना, लियाना, हौंगना आदि।

त्यौं, तौ का त्यों, तो। ब्रज में शब्दों के बहुवचनांत रूप 'न' लगाने से बनते हैं और विभक्तियों को प्रकट करने के लिए षष्ठी की 'हि' विभक्ति—जो वस्तुतः प्राचीन काल में सामान्यकारक के रूप में प्रयुक्त होती थी—लगाई जाती थी। यही 'हि' घिसकर 'इ' हो गई और अकारांत पुंलिंग शब्दों के रूप वचननि, तमालनि आदि हो गए। ब्रज में कहीं-कहीं प्रथमा एकवचन का 'उ' बहुवचन में भ्रम से लगकर 'दगनु' आदि रूप भी बनते हैं, पर आगे इनका प्रचलन नहीं हुआ। विचार करने से भी इन रूपों का ग्रहण भाषा की प्रकृत के अनुसार और व्याकरण की दृष्टि से भी उचित नहीं जान पड़ता। जिन 'इकारांत' रूपों का उल्लेख किया गया है, उनके आगे विभक्ति-चिह्न का फिर से लगाना, पुनरावर्तन था, पर लोगों ने आगे चलकर 'न' के स्थान पर 'नि' को भी बहुवचन का द्योतक शुद्ध प्रत्यय मान लिया, विभक्तिसिद्ध रूप नहीं। छानबीन से पता चला कि पद्माकर ने जहाँ विभक्ति-चिह्नों का प्रयोग किया है वहाँ नांत ही रूप रखे हैं, पर जहाँ विभक्ति-चिह्न नहीं है वहाँ विभक्ति का बोध कराने के लिए 'नि' रखा है, जो व्याकरण-सम्मत एवं समीचीन है। आगे के कवियों ने इसका विचार नहीं रखा है, उनके यहाँ सबका मेल है। अधिक विचार करने की जगह नहीं है, इसलिए भाषा के सामान्य गुणों पर दृष्टि डालनी चाहिए।

पद्माकर ने वर्णमैत्री के विचार से भाषा के तीन स्वरूप रखे हैं। शुद्ध वर्णनात्मक प्रसंगों में इनकी भाषा शब्द-झंकार या अनुप्रास से लदी है। इसका कारण यह है कि वर्णन-सामग्री की स्फुट-योजना में कोई रमणीयता न होने के कारण उन्होंने वर्णमैत्री के द्वारा ही उसमें कुछ चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास किया है, जैसी रीतिकाल के अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति थी। इनके ऋतुओं के वर्णन में इसी से सानुप्रास भाषा मिलती है। जहाँ किसी अनुवृत्त को लेकर वर्णन है, वहाँ की भाषा में सानुप्रास विश्रामवाले शब्द रखे गए हैं, जो वर्णमैत्री के स्वभाविक

विधान के बहुत प्रतिकूल नहीं पड़ते। जैसे—

जमपुर द्वारे लगे तिन में केवारे, कोऊ
हैं न रखवारे ऐसे बन के उजारे हैं।
कहै 'पद्माकर' तिहारे प्रनधारे तेउ,
करि अघ भारे सुरलोक को सिधारे हैं॥

सुजन सुखारे करे पुन्य उजियारे अति,
पतित-कतारे भवसिंधु तें उतारे हैं।
काहू ने न तारे तिन्हैं गंगा तुम तारे, और
जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं॥

इसके अतिरिक्त जहाँ किसी भाव या स्वरूप का चित्रण है वहाँ भाषा में, वैसी वर्णमैत्री एकदम नहीं है, बहुत स्वाभाविक और थोड़ी ही दूर तक चलनेवाले अनुप्रास हैं।

साँझ के सलोने घन सबुज सुरंगन सों,
कैसे कै अनंग अंग-अंगनि सताउतौ।
कहै 'पद्माकर' झकोर झिल्ली-सोरन को,
मोरन को महत न कोऊ मन ल्याउतौ॥

काहू बिरही की कही मानि लेतौ जो पै दई,
जग में दई तौ दयासागर कहाउतौ।
पावस बनायो तौ न बिरह बनाउतौ,
जौ बिरह बनायो तौ न पावस बनाउतौ॥

वृत्तियों के विचार से इनकी भाषा में उनकी योजना रस और भावानुकूल ही है। मोटे रूप में वृत्ति-विरोध कहीं नहीं है। पर कभी-कभी केवल वृत्ति का ही ध्यान रखने से तो काम नहीं चलता, उसकी सार्थकता के विचार से उसके परिमित प्रयोग की आवश्यकता भी होती है।

विशेष रूप से वीर रस के प्रसंग में पद्माकर की वृत्ति-योजना हद से अधिक हो गई है। संयुक्ताक्षरों या द्वित्व वर्णों का आधिक्य करके ही तो वीररसानुकूल वृत्ति की योजना हो नहीं सकती, यह भी विचारना चाहिए कि इस 'खड़बड़ाहट' में कहीं वर्ण्य-विषय का स्वरूप ही न छिप जाय या उधर ध्यान ही न दिया जाय। जैसे—

तुपकैं तड़कैं धड़कैं महा हैं,
भलै-चिलिलका-सी झड़कैं जहाँ हैं।
खड़कैं खरी बैरि - छाती भड़कैं,
सड़क गये सिंधु मज्जैं गड़कैं।

पूर्वार्ध में यदि कोई अलंकृत ध्वनि की दुहाई दे तो उसे उत्तरार्ध को भी देखना चाहिए। जहाँ इस वृत्ति के इस स्वाँग में वे नहीं फँसे हैं वहाँ भाषा बहुत ठिकाने की है—

जाही ओर सोर परे घोर घन ताही ओर,
जोर जंग जालिम को जाहिर दिखात है।
कहै 'पद्माकर' अरीन की अवाई पर,
साहब सवाई की ललाई लहरात है॥
परिघ प्रचंड चमू हरपित हाथी पर,
देखत बनत सिंह माधव को गात है।
उद्धत प्रसिद्ध जुद्ध-जीति ही के सौदा-हित
रौदा ठनकारि तन हौदा में न मात है॥

गुणों को लें तो इनकी रचना में वीर रस के प्रसंग में गढ़े हुए कुछ नकली शब्दों को छोड़कर और सर्वत्र प्रसाद पाया जाता है। ओज की बात तो परुषा वृत्ति के संबंध में आ चुकी। रहा माधुर्य। इन्होंने माधुर्य की योजना वैसी नहीं की है, केवल शब्दों के सहज स्वरूप से ही माधुर्य

उत्पन्न किया है। शास्त्रीय वर्ण-विधान को जहाँ उठाया भी है, वहाँ उसे बहुत दूर तक न ले जाकर थोड़े में ही काम चलाया है। एक उदाहरण लीजिए—

सजि ब्रजचंद पै चली यों मुखचंद जाको,
चंद-चाँदनी को मुख मंद सो करत जात।
कहै 'पद्माकर' त्यों सहज सुगंध ही के
पुंज बन-कुंजन में कंज से भरत जात॥
धरति जहाँई-जहाँ पग है पियारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही के माठ से ढरत जात।
वारन तें हीरा सेत सारी के किनारन तें,
हारन तें मुकता हजारन झरत जात॥

यहीं पर पद्माकर के कुछ लाक्षणिक रूढ़ प्रयोगों पर भी विचार कर लेना चाहिए। मुहावरे एक प्रकार के रूढ़ लाक्षणिक प्रयोग ही हैं। प्रयोजन को लेकर जो लाक्षणिक प्रयोग होते हैं, उन्हें चाहे कोई भाषा के घर से हटाकर भाव की संपत्ति कहे, पर रूढ़ प्रयोग तो भाषा का ही वैभव है। पद्माकर के ऐसे प्रयोग भाषा की कहन में ऐसे मिले हुए हैं कि उन्हें सहसा कोई लख भी नहीं सकता। तात्पर्य यह कि मुहावरों का प्रयोग इन्होंने बाहर से चिपकाया नहीं है, वे उसमें संश्लिष्ट हैं। अधिक कहने की जगह न होने से दो-चार उदाहरण दिए जाते हैं—

१—हेरयो हरे-हरे हरी चूरिन तें चाह्यो जौ लौं,
तौ लौं मन मेरो दौरि तेरे हाथ परि गो।
२—गेह में न नाथ रहै द्वारे ब्रजनाथ रहै,
कौ लौं मन हाथ रहै साथ रहै सब सों।
३—अधम - उधारन हमारे रामचंद तुम,
साँचे बिरदैत था तें काँचे हम क्यों परे।

४—खीझियो न मो पै मुख लागत भले ही राम,
नाम हूँ तिहारो जो हमारे मुख लाग्यो है।
५—जहाँ-जहाँ मैया तेरी धूरि उड़ि जाति गंगा,
तहाँ-तहाँ पापन की धूरि उड़ि जाति है।
६—आसन - अरघ देते-देत निसि - बासर,
बिचारे पाकसासन को साँस न मिलति है।

मुहावरों से अलग लोकोक्तियों का भी विचार भाषा के संबंध में होने लगा है। इन्हें अलंकारवादियों की भाँति अलंकार के भीतर ही दिखाने की अपेक्षा भाषा के भीतर दिखाना कहो समीचीन है। पद्माकर ने लोकोक्तियाँ बड़ी चलती और मार्मिक रखी हैं, काव्य-रचना में बरबस इन्हें दिखाने का स्वाँग नहीं किया है। हिंदी में 'ठाकुर' कवि लोकोक्तियों के प्रयोग के लिए विशेष प्रख्यात हैं, उसका कारण यह है कि ठाकुर की लोकोक्तियाँ प्रसंग में ऐसी चिपकी हैं कि उन्हें निकाल देने से कविता का हीर निकल जाता है। ऐसा ही पद्माकर में भी समझिए। कुछ उदाहरण लीजिए—

१-साँच हू ता को न होत भलो जो न मानत है कहीं चार जने की।
२-भूलि हू चूक परै जो कहूँ तिहि चूक की हूक न जाति हिये तें।
३-आपने हाथ सों आपने पायँ पै पाथर पारि परयो पछिताने।
४-एक जु कंजकली न खिली तौ कहा कहूँ भौंर को ठौर है नाहीं।
५-जो बिधि भाल में लीक लिखी सो बढ़ाई बढ़ै न घटै न घटाई।

लोकोक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जिनमें केवल नीति-वाक्य-से होते हैं, दूसरे वे जिनमें कोई संदर्भ निहित रहता है। पद्माकर ने पहले ढंग की ही लोकोक्तियाँ ली है।

इन सब प्रपंचों को छोड़कर पद्माकर की भाषा के उन गुणों की ओर आना चाहिए, जिनके कारण उनका अनुगमन होता रहा है और जिनके

कारण उनकी भाषा हिंदी के अधिकांश कवियों से पृथक् अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि पद्माकर की उत्तरकालीन रचनाओं में ही उनकी भाषा का निखरा रूप सामने आया है, प्रारंभिक में नहीं। पद्माकर की भाषा साहित्य-मर्मज्ञों के बीच सफाई, लोच, गठन और प्रवाह के लिए प्रसिद्ध रही है। यहाँ पर प्रत्येक का उदाहरण देने के प्रथम यह भी समझ लेना चाहिए कि इन शब्दों से वस्तुतः अभिप्राय क्या है। सफाई से तात्पर्य भाषा के उस रूप से है जिसमें शब्दों और शब्द-स्वरूपों की ऐसी योजना हो, जिससे कवि-कथित विषय पाठक या श्रोता के सामने तुरत उपस्थित हो जाय, यह नहीं कि एक ओर आगे बढ रहे हैं और दूसरी ओर भाषा के जंजाल के कारण विषय उलझा चला जाता है। जैसे—

ऐपन की ओप इंदु कुंदन की आभा चंपा,
केतकी को गाभा जोति-जोतिन सों जटियत।
जगर-मगर होति सहज जवाहर-से,
पतिही उजारे जब नैसुक उलटियत॥
वैसेई सुढार सुकुमार अंग सुंदरि के,
ललन तिहारे पास नेह खरे लटियत।
'देव' तेऽब गोरी के बिलात गात बात लगें,
ज्यों-ज्यों सीरे पानी पीरे पान-से पलटियत॥

भाव चाहे इसमें जैसा हो, पर भाषा की सफाई एकदम नहीं है; केवल रसविरुद्ध वर्ण ही नहीं, शब्दों का संग्रह (गाभा, पतिही, उजारे आदि) अच्छा नहीं। एक के बाद दूसरा शब्द ऐसा नहीं है कि वाक्य का संगठन उखड़ा न जाने पड़े—'जोति जोतिन सों जटियत, पतिही उजारे जब नैसुक उलटियत, तिहारे पास नेह खरे लटियत' भाषा को ऊबड़-खाबड़ बना रहे हैं। 'देव' की भाषा सवैयों में तो कुछ ठिकाने की

है, पर कवित्तों में उसका स्वरूप प्रायः टेढ़ा-मेढ़ा मिलता है। देव में तो भाषा का स्वरूप बहुत बेठिकाने नहीं है, पर हिंदी के पिछले खेवे के कवियों, जैसे पजनेस आदि, ने तो भाषा क्या लिखी है, खेलवाड़-सा किया है। वाक्य टेढ़े-मेढ़े, शब्द लँगड़े और क्रियाएँ कुचली हुई हैं। पर पद्माकर की भाषा ऐसी नहीं है, उसकी सफाई अनुकरणीय है। आरंभिक रचनाओं में भी सफाई है अवश्य, पर कम। उसका कारण शब्द झंकार की ओर झुकना है। वाक्यों की बनावट वैसी बेकिते नहीं हैं, जैसी पिछले कवि-राजाओं की। पद्माकर की पिछली रचनाएँ भाषा की सफाई के विचार से बहुत अच्छी हैं। एक साधारण उदाहरण लें—

जैसो तैं न मो सों कहूँ नेक हू डरात हुतो,
ऐसो अब हौं हूँ तो सों नेक हू न डरिहौं।
कहै 'पद्माकर' प्रचंड जौ परैगो तौ,
उमंड करि तो सों भुजदंड ठौंकि लरिहौं॥
चलो-चलु चलो-चलु बिचलु न बीच ही तें,
कीच-बीच नीच तो कुटुंब को कचरिहौं।
एरे दगादार मेरे पातक अपार, तोहि
गंगा की कछार में पछारि छार करिहौं॥

कहीं किसी प्रकार का कूड़ा नहीं है।

सफाई के बाद लोच को लीजिए। लोच से तात्पर्य शब्दों के ऐसे संग्रह से है जिसमें उतार चढ़ाव हो। भाषा मस्तानी गति से चले, सरपट न दौड़े। जैसे—

आम को कहत अमिली है, अमिली को आम,
आक ही अनारन को आँकिबो करति है।
कहै 'पद्माकर' तमालन को ताल कहै,
तालनि तमाल कहि ताकिबो करति है॥

'कान्है-कान्ह' कहूँ कहि कदली कदंबन को,
　　भेंटि परिरंभन में छाकिबो करति है।
साँवरेजू रावरे यों विरह बिकानी बाल,
　　बन-बन बावरी लौं थाकिबो करति है॥

अब रहा प्रवाह। हिंदी में बड़े-बड़े कवियों की भाषा का प्रवाह ठीक नहीं है। प्रवाह से तात्पर्य ऐसी शब्द-योजना से है जिसमें जीभ फिसलती चली जाय। टेढ़े शब्द रोड़ों की भाँति बीच में अड़ने न लगें। भूषण का एक उदाहरण लें—

एक प्रभुता को धाम, सजे तीनौ बेद काम,
　　रहैं पंच-आनन षड़ानन सरबदा।
सातौ बार आठौ जाम जाचक नेवाजे नव
　　अवतार थिर राजे कृपन हरि-गदा॥
सिवराज 'भूषन' अटल रहै तौ लौं,
　　जौ लौं त्रिदस भुवन सब गंग औ नरमदा।
साहितनै साहसिक भौंसिला सुरज-बंस,
　　दासरथि-राज जौ लौं सरजा थिर सदा॥

यों तो यह सारा-का-सारा छंद प्रवाह की दृष्टि से शिथिल है, किंतु दूसरे और चौथे चरणों का उत्तरार्ध तो बहुत ही बेठिकाने है। कवित्त की धारा के लिए इसपर बराबर विचार रखने की आवश्यकता रहती है कि कई लघु या दीर्घ वर्ण एक साथ एकत्र न हो जायँ। पुराने कवियों को छोड़कर इधर जितने भी कवि हुए उनमें इस प्रकार का शैथिल्य कहीं कम और कहीं अधिक बराबर पाया जाता है। पर पद्माकर की भाषा में ऐसी बात नहीं, इनकी भाषा का स्वरूप इतना सधा हुआ है कि आप छंद पढ़ते चले जाइए और शब्दावली आपके मुँह से झरती-सी चली जायगी। पहाड़

पर बहनेवाली छोटी नदी की भाँति रोड़ों से टकराकर इधर-उधर नहीं भटकेगी। एक साधारण छंद के लें—

देव नर किन्नर कितेक गुन गावत पै,
पावत न पार जा अनंत गुनपूरे को।
कहै 'पद्माकर' सुगाल के बजावत ही,
काज करि देत जन जाचक जरूरे को॥
चंद की छटान-जुत, पन्नग-फटान-जुत,
मुकुट बिराजै जटाजूटन के जूरे को।
देखौ त्रिपुरारि की उदारता अपार, जहाँ
पैये फल चारि फूल एक दै धतूरे को॥

कैसी स्फीत वाग्धारा है!

भाषा के संबंध में और भी कितनी ही विचारणीय बातें हैं, पर स्थल-संकोच से कुछ अधिक कहा नहीं जा सकता। यहाँ पर कुछ थोड़े से और संकेत कर दिए जाते हैं। जैसे, शब्दों को झंकार से वर्ण्य विषय के अनुकूल ध्वनि उत्पन्न करना, शब्दों की द्विरुक्ति से भावों को स्पष्ट करना, एक ही शब्द को रोचकता लाने के लिए दूर तक या सारे छंद में दोहराना, विधि-निषेधात्मक शब्दों से भाषा में चोज उत्पन्न करना, क्रियाओं के प्रयोग, बोलचाल का मेल आदि। दो-एक उदाहरण लीजिए—

जाति चली ब्रज-ठाकुर पै ठमका ठुमकी ठमकी ठकुराइन।

यहाँ शब्दों से नूपुर की ध्वनि उत्पन्न करने का सफल प्रयत्न है।

अधखुली कंचुकी उरोज अध-आधे खुले,
अधखुले वेप नख-रेखन के झलकैं।
कहै 'पद्माकर' नवीन अधनीवी खुली,
अधखुले छहरि छरा के छोर छलकैं॥
भोर जगि प्यारी अध-ऊरध इतै की ओर,
भाखी झिखि झिरकि उघारि-अध-पलकैं।

आँखैं अधखुलीं, अधखुली खिरकी है खुली,
अधखुले आनन पै अधखुली अलकैं ॥

इसमें 'अधखुले' शब्द के प्रयोग से रोचकता तो उत्पन्न ही की गई है, साथ ही शैथिल्य और अस्तव्यस्तता का भाव भी सुचारु रूप से व्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

पद्माकर की भाषा में कुछ दो-चार शब्द ऐसे बिगड़े हुए भी पाए जाते हैं जो भाषा की प्रकृति के अनुरूप नहीं पड़ते—जैसे दोत (दावात) मजाखैं (मजाक), गुपित्र (गुप्त) आदि। पर ऐसे बिगड़े शब्द कम हैं, जहाँ कहीं शब्द बेठिकाने बिगड़े हैं वहाँ उसका कारण प्रांतीय उच्चारण का अनुकरण और तुकांत का अनुरोध ही है, और वे ऐसे ढंग से रखे गए हैं कि उनका विकृत रूप भी मूल अर्थ को तुरत व्यक्त कर दे, यह नहीं कि पढ़नेवालों के लिए भूल-भुलैया बन जायँ। कहीं-कहीं 'सु' के अधिक प्रयोग और कहीं कहीं यमक को कुछ दूर तक ले चलने से भी भाषा का स्वरूप बिगड़ा है। पर वह भी यत्र-तत्र, सर्वत्र नहीं।

इन सब बातों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकला कि पद्माकर की भाषा ऐसी है जैसी हिंदी में किसी कवि की नहीं। भाव के विचार से पद्माकर को चाहे हम उतना प्रौढ़ काव्यकार न मानें, पर भाषा के विचार से उन्हें कुशल वाग्विधायक अवश्य मानना पड़ेगा। घनानंद आदि पुराने कवियों में पद-लालित्य चाहे हो, पर भाषा का वैसा सधा रूप उनमें भी नहीं है, जैसा पद्माकर में। फिर इधर के कवियों की चर्चा ही क्या! इधर के कवियों में स्वर्गीय रत्नाकर की भाषा ही अच्छी हुई है जो पद्माकर के टक्कर की है। यदि समास-पद्धतिवाले बिहारी के अनुकरण पर चुस्ती का यत्र तत्र आधिक्य न हो जाता तो रत्नाकर की स्वच्छ और चलती भाषा बड़े काम की होती। पद्माकर की भाषा बिहारी के प्रभाव से बची है और स्फीत एवं स्निग्ध है।

उपसंहार

पद्माकर की समस्त कविता का सिंहावलोकन कर जाने पर प्रकट हुआ कि इन्होंने सीधे-सादे भावों को प्रौढ़ भाषा में व्यक्त करके मुक्तक-रचना करनेवाले कवियों में एक स्थान बना लिया है। भावों की जटिलता, प्रसंगों की संकुलता और दूरारूढ़ बंधानों की विकटता से वे एकदम तटस्थ थे। भावों का संग्रह करने में वे दूसरों के मुखापेक्षी नहीं रहे। इसलिए मुक्तक-रचना में इन्हें एक सफल कवि कहने में संकोच नहीं होना चाहिए। शृंगार के भीतर ही पड़े रहने से और उसमें भी परंपराभुक्त बातों के ग्रहण करने से इन्हें अपनी प्रतिभा के दिग्दर्शन का अवसर नहीं मिला। भक्ति की कविता इन्होंने उस समय आरंभ की जब इनकी वृत्ति काव्य-कौशल से हटकर अपने जीवन के विषाद की अभिव्यक्ति में आ लगी थी। जो लोग भावों की उलझन और भरकम ढाँचे को ही काव्य की सच्ची व्यंजना समझते हैं उन्हें भले ही पद्माकर के काव्य में कुछ न मिले, पर भावों के सादे-पन और उनकी सौम्य कहन भी काव्य के प्रकृत स्वरूप से दूर नहीं है, प्रत्युत यदि किसी से इसी का ठीक-ठीक निर्वाह हो सके तो उसे ही समर्थ और सफल कवि कहना चाहिए। हाँ, प्रबंध की दृष्टि पद्मा-कर में नहीं थी। उसकी गहनता से ये कोसों दूर थे। पर प्रीति-पयो-निधि में ये धँसे हैं, कढ़ नहीं सके तो न सही! कढ़ना कोई हँसी-खेल है भी नहीं!

इसके साथ ही पद्माकर ने काव्य के प्रकृत आलंबन का ध्यान न कर काव्य को केवल राजाओं के रिझाने की ही वस्तु समझा, इसमें इन्हें बहुत बड़ा धोखा हुआ। सामयिक बवंडर में उड़ना इनके लिए घातक ही हुआ। यदि इस चक्र से ये दूर हटकर अपना काव्य करते रहते तो संभवतः इनका काव्य-सौंदर्य और निखर जाता। इसके

लिए इन्हें अंत में पश्चात्ताप ही करना पड़ा। उस समय लोग आप-आप के फेर में पड़े थे, किसी की सुनता ही कौन था!

'पद्माकर' हौं निज कथा, का सों कहौं बखान।
जाहि लखौं ताहे परी, अपनी-अपनी आन॥

ऐसे अवसर पर बरबस किसी को कुछ सुनाना, उसके सिर पर बोझ लादना ही था, अथवा किसी विशेष रस में पड़े हुए व्यक्ति में उसी रस-पान के अतिरेक के द्वारा प्रतिवर्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देना था। जिनकी प्रशंसा में इन्होंने अपनी वाग्विभूति को मुक्तहस्त लुटाया, उनके द्वारा इन्हें विषाद ही मिला। इनके इस छंद से यही लक्षित होता है—

ह्वै थिर मंदिर में न रह्यो गिरि-कंदर में न तप्यो तप जाई।
राज रिझाये न कै कविता रघुराज-कथा न यथामति गाई॥
यों पछितात कछू 'पद्माकर' का सों कहौं निज मूरखताई।
स्वारथ हू न कियो परमारथ यों ही अकारथ वैस विताई॥

पद्माकर का यह पश्चात्ताप ही इनके जीवन की समालोचना है। इन्होंने स्वयं समझ लिया था कि मेरी जिंदगी 'अकारथ' बीत गई। कविता पढ़ते पढ़ते जीभ घिस गई, पर महाराजाओं की टेढ़ी गर्दन सीधी हुई ही नहीं।

इतना सब होने पर भी पद्माकर अपना प्रभाव हिंदी में छोड़ गए हैं। यह प्रभाव केवल उन लोगों तक ही नहीं है, जो पद्माकर की कुछ चमत्कार-पूर्ण और वक्र कहनवाली कविताओं को रटकर सभा-समाजों में लोगों के मस्तकों को हिला डुला दिया करते हैं, वरन् उन लोगों के भी मुख-व्यादान में है जो काव्य की बारीकी के समझनेवाले हैं और जिनके मौन रहने में काव्य की अनुत्तमता की व्यंजना होती है। उनके चित्त को चुराने में भी पद्माकर की काव्य-कामिनी सफल-प्रयास है।

यदि पद्माकर में ऐसी कोई बात न होती तो इनकी कविता के पद-चिह्नों को लखते हुए अच्छे-अच्छे लोग क़दम-ब-क़दम चलने की भूल ही कैसे कर बैठते ! इसलिए जो लोग इनके इने-गिने छंदों की वर्ण-मैत्री से धोखा खाकर चटपट कह दिया करते हैं कि पद्माकर की कविता में कुछ नहीं है, उन्हें केवल आँख और कान लगाने की अपेक्षा समझ लगाने की भी आवश्यकता है। पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि जो लोग पद्माकर को महाकवि, सर्वश्रेष्ठ कवि आदि पदवियों से यों ही विभूषित कर दिया करते हैं, उन्हें लोग समझदारों का सिरताज समझ लें और चुपचाप आँखें मूँदकर उनकी बात को मान ही लें। पद्माकर महाकवि न हों, सर्वश्रेष्ठ कवि न हों, पर वे कवि नहीं थे, इसे मनाने के लिए विवश करनेवाले भगवती भारती की छाती पर पत्थर ही नहीं, पहाड़ उठाकर रख देना चाहते हैं। वे लोग आँखें चाहे न खोलें, आँखें बंद करके ही गोविंद की इस छवि का चित्रण सुन लें—

> देखु 'पद्माकर' गोविंद की अमित छबि,
> संकर-समेत बिधि आनँद सों बाढ़ो है।
> झिझिकत झूमत मुदित मुसुकात गहि,
> अंचल को छोर दोऊ हाथन सों आढ़ो है॥
> पटकत पाँव होत पैंजनी भुनुक रंच,
> नेक-नेक नैनन तें नीर-कन काढ़ो है।
> आगे नंदरानी के तनक पय पीवे काज,
> तीनि लोक ठाकुर सो ठुनुकत ठाढ़ो है॥

पद्माकर से निकले हुए ऐसे-ऐसे मोतियों की विभूति हिंदी-साहित्य-के भांडार की शोभा है, हिंदी के अनुरागियों के गर्व करने की वस्तु है। जब तक हिंदी-भाषा और साहित्य का अस्तित्व है, पद्माकर

भी अपनी तरंगों से हिंदी के क्षेत्र को आप्लावित करता रहेगा और उसमें स्नान करनेवाले कितने ही रसिकों का मनस्ताप दूर होता रहेगा। वीर, शृंगार, भक्ति, रमणीयता एवं चित्रण आदि का यह पंचामृत उनकी रसना को स्वादिष्ट और उनके हृदयों को संतुष्टि प्रदान करेगा, इसमें संदेह ही क्या है?

हरिशयनी, १९९२
 ब्रह्मनाल, काशी। } विश्वनाथप्रसाद मिश्र

पद्माकर-पंचामृत

१—घृत

हिम्मतबहादुर-बिरदावली

मंगलाचरण

(छप्पय)

जय जय जय ब्रज-जलधि-चंद आनंद-बढ़ावन ।
जय जय जय नँदनंद, जगत-दुख-दंद-घटावन ।।
जय जय केसी-कंस-अच्छ-बक-रच्छस-दंडन ।
जय जय गिरिबर-धरन, मान-मघवा-मन-खंडन ।।
जय 'पद्माकर' भारथ-समर, पारथ-सखय'रु सिद्ध धनि ।
नित नृप अनूप गिरि भूप कहँ, बिजय देहु जदुबंस-मनि ।। १ ।।

(हरिगीतिका)

नित देहु जय जदुबंस-मनि-अवतंस नौऊ खंड को ।
गिरिराज - इंद्र-नरिंद - नंदन, भवन तेज-अखंड को ।।
पृथु-रित्ति नित्त सुमित्त दै, जग जित्ति कित्ति अनूप की ।
बर बरनिये बिरदावली, हिम्मतबहादुर भूप की ।। २ ।।

(हाकल)

हिम्मतबहादुर भूप है, सुभ संभु-रूप अनूप है।
दिल-दान-बीर दयाल है, अरि-बर-निकर को काल है॥ ३॥
सुख-साहिबी अमरेस है, भुव-भार-धर भुजगेस है।
मन-मौज देत महेस है, गुन-ज्ञानवान गनेस है॥ ४॥
अरि-तोम-तम-तिमिरारि है, अरि-नगर-दग्ध-दमारि है।
जग-माँझ दीनदयाल है, तन महाबाहु बिसाल है॥ ५॥
धन ध्रुव-धरम को मूल है, अब हिंदु-लाज-दुकूल है।
दुति दिपति देह मनोज है, मन-मौज-देतनि भोज है॥ ६॥
सुभ-डील सील-समुद्र है, घमसान में जनु रुद्र है।
चौंसठि कलानि प्रबीन है, दुज-देवतानि अधीन है॥ ७॥
मुख-बोल कहत अडोल है, गज-बाजि देत अमोल है।
सुभ-सत्य जनु हरिचंद है, नित प्रजनि आनँद-कंद है॥८॥
दुख-दायकन को काल है, जग कीन्ह जिहि जस-जाल है।
अति दिपत निज-कुल-दीप है, बर-बिक्रमी अवनीप है॥ ९॥
कलि-सिंधु-पुन्य-जहाज है, करि देत सब के काज है।
कवि-कुल-कमल को भान है, परतीति-नीति-निधान है॥१०॥
गुन - ज्ञान - मान - सुचंद है, नित करत खल-मुख मंद है।
जग औतर्यौ जु अनूप है, महिपाल नवरस-रूप है॥११॥
निज नायिकनि जु सिँगार है, अरि लखत बीर अपार है।
लखि दीन करुना-बस्स है, खल-कतल में बीभत्स है॥१२॥
निज खिलवतिन में हास है, भय-रूप दुरजन-पास है।
हय चढ़त अद्भुत होत है, सर लेत रुद्र-उदोत है॥१३॥

सिव-भजन सांत सुजान है, जिहि की समान न आन है।
हिम्मतबहादुर नृप बली, जिहि सेन सत्रुन की दली ॥१४॥
दिग-विजय-काज महूम की, अरि-देस-देसनि धूम की।
गूजर-गालीम लगाइ कै, सु बुँदेलखंडहि आइ कै ॥१५॥
दतिया सु प्रथम दवा दई, खंडो सु मनमानी लई।
फिरि मुलुक नृप छत्रसाल को, दाबो प्रबल रिपु-जाल को ॥१६॥
जहँ अमल अर्जुन इक करै, नहिं बादसाहन कों डरै।
जिहि लूटि नृप बहुतै लये, बहु मारि-मारि भजा दये ॥१७॥
तिहि पै नृपति अति कोपि कै, आयो अटल पग रोपि कै।
सब मुलुक जयती करि लियौ, फिरि बाँटि फौजन को दियौ॥१८॥
इहि क्रम सु अर्जुन के निकट, आयौ नृपति अति ही विकट।
नद केन पै डेरा करे, तहँ जुद्ध कौं भे हरबरे ॥१९॥
सुभ जोतिषी सु बुलाइ कै, पूँछो सुदिन सिर नाइ कै।
अब कहौ जुद्ध कबै करैं, जब कहौ साइत तब लरैं ॥२०॥
यह सुनि हुकुम महाराज को, दिल खुसी जोतिषराज को।
सु सरूपसिंह सुनाम के, बोले वचन जय-काम के ॥२१॥
सुर सास्त्र सकल विचारि कै, सुभ दिन कह्यौ निरधारि कै।
संवत अठारह से सुनौ, उनचास अधिक हिये गुनौ॥२२॥
वैसाख बदि तिथि द्वादसी, बुधवार-जुत यह याद-सी।
यह सुभ दिवस है लरन को, है जुवा सुर नृप-बरन को ॥२३॥
यह अजैगढ़ बलहीन है, जहँ अरिन डेरा कीन है।
यह सुनि सुदिन सुख पाइ कै, डंका दियौ सिव ध्याइ कै ॥२४॥
सुभ संख सूरन के बजे, रनधीर बीर सबै सजे।
दुंदुभि - धुकारैं धुकहीं, अरि सुनत जित-तित लुकहीं॥२५॥

तहँ प्रबल दल-बल सज्जि कै, चढ़ि चल्यौ हरबर गज्जि कै।
रनधीर बीर पमार पै, जहँ अखौ अर्जुन रार पै ॥२६॥
सँग लिये छत्रिन की कुरीं, कबहूँ न जे रन में मुरीं।
चौहान चौदह आकरे, धंधेर धीरज-धाकरे ॥२७॥
बुंदेल विदित जहान में, जे लरत अति घमसान में।
बघरू बघेले करचुली, जिन की न बात कहूँ डुली ॥२८॥
रन रैकवारन के झला, जे करत अरि-दल पै हला।
गज्जत सुहरवारहु सजे, जुरि जंग जे न कहूँ भजे ॥२९॥
बर बैस वीर जुझार जे, झुकि झमकि झारत सार जे।
गौतम तमकि जे रन करैं, अरि काटि कटि-कटि कै लरैं॥३०॥
पड़िहार हार न मानहीं, जिन कौं हरष घमसानहीं।
उद्धत सुलंकी साहसी, जे करत रन में राह-सी ॥३१॥
रजपूत राना हैं सजे, जिन के खड़ग रन में जगे।
हरषे सु हाड़ा हिम्मती, जिन की जगत रन-क्रिम्मती ॥३२॥
राठौर दुर-ठौरनि गने, रिपु जियत नहिं जिन के हने।
रन-करकरे कछवाह हैं, जे लरत दिग्घ दुवाह हैं ॥३३॥
सँग लिये सूर सिसौदिया, जिन को जुरत फूलत हिया।
तहँ तौंर तीखन ताकिये, रन-बिरद जिन के बाँकिये ॥३४॥
सेंगर सपूती सों भरे, जे सुद्ध जुद्धन में लरे।
रन-अटल धीर इटौरिहा, जे रन जुरत सिरमौरिहा ॥३५॥
बिलकैत धीर बली चढ़े, सफजंग-रंग सदा मढ़े।
नदवान नाहर पिपरिहा, बलके बनाफर खिपरिहा ॥३६॥
सिरमौर गौर गराजि कै, सोभित सिलाहैं साजि कै।
बन-धीर धीर चँदेल हैं, जे लरत रन मगमेल हैं ॥३७॥

अब और दल कहँ लौं गनौ, सब ठाकुरन सों है सनौ ।
गज्जत अजैगढ़ के निकट, सब एक-एकन तें बिकट ॥३८॥
जहँ सूर संख बजावहीं, दिसि-दिसनि दिग्गज दावहीं ।
धुनि धीर दुंदुभि धुक्करैं, सुनि बीर हुक्कत हुक्करैं ॥३९॥
बज्जत सु गज्जत खाखरे, जे करत दिसि-दिसि साकरे।
धौंसा धुकारनि धसमसैं, धर के धरैया कसमसैं ॥४०॥
बज्जैं अरब्बो उमड़ि कै, गज्जैं मनो घन घुमड़ि कै।
बिरदावली कबिबर पढ़ैं, सुनि बीर हरषि हिये बढ़ैं ॥४१॥
जहँ जाँगरे करखा कहैं, अति उमँगि आनँद कों लहैं।
दल साजि यों अर्जुन बली, सजि खड़ो भो रन की थली॥४२॥
इत तें ठिल्यौ सु अनूप गिरि, यह कहत परने है अभिरि।
सब तोपखानो अग्र कर, जिहि को दिगंतन लौं असर॥४३॥
धुनि धीर दुंदुभि गज्जहीं, जे सुनत बारिद लज्जहीं ।
फहरे गयंद निसान है, जिन की जगत जग आन है॥४४॥

(छप्पय)

आन फिरत चहुँ चक्क, धाक-धक्कनि गढ़ धुक्कहिं ।
लुक्कहिं दुवन दिगंत, जाय जहँ-तहँ तन मुक्कहिं ॥
दुंदुभि-धुनि सुनि धीर, जलद मत-मद तजि लज्जहिं।
भज्जहिं खल-दल बिकल, सोक-सागर महँ मज्जहिं ॥
धनि राजइंद्र गिरि नृप-सुवन, उथपन-थप्पन जग जयउ ।
वर नृप अनूप गिरि भूप जब, सुभट-सेन सज्जत भयउ ॥४५॥

(हरिगीतिका)

नृप धीर बीर बली चढ्यौ, सजि सेन समर सुखेल को।
सुनि बंब बीरन के बढ़ो, हिय हौंस वर बगमेल को ॥

पृथु-रित्ति नित्त सुवित्त दै, जग जित्ति कित्ति अनूप की।
वर वरनिये विरदावली, हिम्मतबहादुर भूप की ॥४६॥

(ढिल्ला)

समर प्रबल दल दिग्घ उमंडिय,
दुंदुभि-धुनि दिग-मंडल मंडिय।
घर्घरात घन तें अति धुक्कनि,
भर्भरात अरि भजत सुलुक्कनि ॥४७॥
उनमद दुरद-घटनि छवि छज्जिय,
जौन जलद-पटलनि तकि तज्जिय।
उच्च निसान गगन महँ झुल्लहिं,
सुर-बिमान झकझोरनि भुल्लहिं ॥४८॥
झलमलात भूलनि छवि ठानिय,
बिज्जुल मनहु मेघ लपटानिय।
अड़त फेर ऐंडात उमंडत,
भूमत झुकत गजत धुनि मंडत ॥४९॥
उलहत मदनि समुद-मद गारत,
गिरिबर गरद मरद करि डारत।
सिंदूरनि सिर सुभग उमंडिय,
उदयाचल-रवि-छवि छिति खंडिय ॥५०॥
घनघनात गजघंट उमंगनि,
सनसनात सुर-श्रुति सुभ अंगनि।
घुमड़ि चलत घुम्मत घन घोरत,
सुंडनि नखत-भुंड झकझोरत ॥५१॥

चलत मतंगनि तक्कि तमंकिय,
पक्खरैत हय हुड़क हुमंकिय।
सिर झारत न सहत मृग-सोभनि,
कहुँ-कहुँ चलत छुवत छिति छोभनि ॥५२॥
उड़त अमित गति करि-करि ताछन,
जीतत जनु कुलटान-कटाछन।
थिरकत थिरकि चलत अँग-अंगनि,
जीतत जुमकि पौन-मग संगनि ॥५३॥
पच्छ-रहित जीतत उड़ि पच्छिय,
अंतरिच्छ-गति जिन अवलच्छिय।
दिननि अमोल लोल गति चल्लहिं,
विदित असोल गोल दलमल्लहिं ॥५४॥
बाग लेत अति लेत फलंगनि,
जिमि हनुमत किय समुद-उलंघनि।
जिन पर चढ़त सिंधु-ढिग लग्गहिं,
मंडल फिरि-फिरि उठत उमग्गहिं ॥५५॥
पवन प्रचंड चंड अति धावहिं,
तदपि न तिनहिं नेक छ्वै पावहिं।
तिन चढ़ि भट छबि-छटनि छलक्किय,
रन-उमंग अँग-अंग मलक्किय ॥५६॥
उमड़ि अग्रबर पैदर दिन्हउ,
जिन हठि प्रथम जुद्ध-ब्रत लिन्हउ।
बंदी-जन बिरदावलि बुल्लहिं,
सुनत सुभट-दृग-कमल प्रफुल्लहिं ॥५७॥

मानव सुरनि अलापत ठढ्ढिय,
वीर-उरनि रस वीर सु वढ्ढिय।
सार झलकि झलमल छवि उग्गिय,
मानहु अमित भानु भुव उग्गिय ॥५८॥
उमड़त दल छिति डग-डग डुल्लत,
कल्लोलनि वढ़ि समुद उछल्लत।
गढ़ धुक्कहिं गढ़पति-उर कंपहिं,
सत्रु सोक-सागर महँ झंपहिं ॥५९॥
धूरि - धुंध - मंडित रवि - मंडल,
अकचकात अलकेस अखंडल।
थंभि न सकत भूमिधर दिक्करि,
टुट्टत रह फटत नभ चिक्करि ॥६०॥

(छप्पय)

चिक्करि-चिक्करि उठहिं, दिक्क-दिक्करि करनिन-जुत।
खल-दल भज्जत लज्जि, तज्जि हय-गय दारा-सुत॥
संकत लंक अतंक, बंक हुंकनि हुड़कारत।
डग-डग डुल्लत गब्बि, सब्ब पब्बयनि सिघारत॥
तहँ 'पदमाकर' कवि बरन इमि, नृप अनूप गिरि जब चढ़यउ।
तब अमित अराबो अखिल दल, इक्क बार छुट्टत भयउ ॥६१॥

(हरिगीतिका)

छुट्टत भयउ इक बार जब, सब तोपखानो तड़कि कै।
टुट्टत भयउ गढ़-वृंद गढ़पति, भाजि गे सब सड़कि कै॥
पृथु-रित्ति नित्त सुवित्त दै, जग जित्ति कित्ति अनूप की।
बर बरनिये बिरदावली, हिम्मतबहादुर भूप की ॥६२॥

(भुजंगप्रयात)

तुपक्कैं तड़क्कैं धड़क्कैं महा हैं,
प्रलै-चिल्लिका-सी भड़क्कैं जहाँ हैं।
खड़क्कैं खरी वैरि-छाती भड़क्कैं,
सड़क्कैं गये सिंधु मज्जै गड़क्कैं ॥६३॥
चलै गोल-गोली अतोली सनक्कैं,
मनो भौंर-भीरैं उड़ातीं भनंकैं।
चढ़ी आसमानै छई बेप्रमानैं,
मनो मेघमाला गिलै भासमानैं ॥६४॥
गिरैं ते मही में जहीं भर्भरा कै,
मनो स्याम ओरे परैं भर्भरा कै।
चलैं रामचंगी धरा में धमंकैं,
सुने तें अवाजैं चली वैरि संकैं ॥६५॥
तमंचे तहाँ वीर-संचे छुड़ावैं,
कसे बंक बानै निसानै उड़ावैं।
छुटी एक कालैं बिसालैं जँजालैं,
जगी जामगी त्यों चलैं ऊँटनालैं ॥६६॥
गजैं गाज-सी छूटतीं त्यों गनालैं,
सुनैं लज्जतीं गज्जती मेघमालैं।
चलीं मूँगरी उच्च है आसमानै,
मनो फेरि स्वर्गैं चढ़े दिग्घ-दानै ॥६७॥
परी एक बारैं धमाधम धरा है,
मनो ये गिरी इंद्र हू की गदा है।

किधौं ये विमानन्न की चक्र मुंडैं,
परी टूटि हैं कै विराजैं भसुंडैं ॥६८।
छुटी है अचाका महावानवाली,
चढ़ी है मनो कोपि कै पन्नगाली।
खरी कुहकुहावी जुड़ाती नहीं हैं,
चली हैं अनंतैं दिगंतैं दही हैं ॥६९॥
चलीं चहरैं त्यों मचे हैं घड़ाके,
छड़ाके फड़ाके सड़ाके खड़ाके।
छुटे सेरवच्चे भजे बीर कच्चे,
तजैं बाल-अच्चे फिरैं खात दच्चे ॥७०॥
छुटे सव्व सिप्पे करैं दिग्घ टिप्पे,
सबै सत्रु छिप्पे कहूँ हैं न दिप्पे।
करावीन छुट्टैं करैं बीर चुट्टैं,
करी-कंघ टुट्टैं इतै-उत्त लुट्टैं ॥७१॥
चली तोप धाँ-धाँ-धधाँ-धाँइ जग्गी
धड़ाधड़-धड़ाधड़ धड़ा होन लग्गी।
भड़ामड़ भड़ा बीर बाँके छुड़ावैं,
भड़ाभड़-भड़ाभड़ भड़ा त्यों मचावैं ॥७२॥
दगो यों अरावो सबै एक वारै,
किधौं इंद्र कोप्यौ महावज्र डारै।
किधौं सिंधु सातौ सबै भर्भराने,
प्रलै-काल के मेघ कै घर्घराने ॥७३॥
सुनीं जो अवाजैं सबै वैरि भाजैं,
न लाजैं गहैं छोड़ि दीन्हीं समाजैं।

तजैं पुत्र-दारैं सम्हारैं न देहैं,
गिरैं दौरि उट्ठैं भजैं फेरि जेहैं ॥७४॥
उलत्थैं पलत्थैं कलत्थैं कराहैं,
न पावैं कहूँ सोक-सिंधून थाहैं।
तजैं सुंदरी त्यों दरी में धसे हैं,
तहाँ सिंह बग्घान हू ने ग्रसे हैं ॥७५॥

(छप्पय)

छिति अति छब्बिजय अत्र, छत्र-छाहन छवि छक्किय।
चहुँव चक्क धकपक्क, अरिन अकबक्क धरक्किय ॥
इक्क दुवन तजि धरनि, सरन तुव चरन सु तक्किय।
हय गय पयदल छोड़ि-छोड़ि सुख-सागर नक्किय ॥
जगमग प्रताप जग्यव उमगि, उथल-पथल जल-थल गयउ।
नृप-मनि अनूप गिरि भूप जब, निज दल-बल हंकव भयउ ॥७६॥

(हरिगीतिका)

हंकत भयउ निज दल सकल, ह्वै करि भटन की पिट्ठि पै।
हर हरषि भाषत तहाँ राखत, दिट्ठि अरि की डिट्ठि पै ॥
पृथु-रित्ति नित्त सुवित्त दै, जग जित्ति कित्ति अनूप की।
वर बरनिये बिरदावली, हिम्मतबहादुर भूप की ॥७७॥
हिम्मतबहादुर नृपति यों, करि कोप आगे को चल्यौ।
रन-धीर बीरनि संग लै, जिन मानमीरन को मल्यो ॥
जिरही सिलाही ओपची, उमड़े हथ्यारन कों लिये।
बनि बेस केसरिया अरिन कों, निरखि अति हरषे हिये ॥७८॥
तहँ बहु नगारे विदित भारे, भुव धुकारे गज्जहीं।
सुनि धुनि धमाके चहुँवधा के, घन धमाके लज्जहीं ॥

उमड़ो सु दल-बल प्रबल, जिमि घन-घोर जोर असाढ़ को।
तिहि निरखि प्रबल प्रमार-दल पर, परथौ वखत सु गाढ़ को ॥७९॥
तहँ रन उतंग मतंग, मानो उमड़ि बद्दल-से रहे।
चहुँ ओर धुरवा-से घुमड़ि, घर धूरि-धारन के थहे॥
झमझम झला-से बान बर, चपला चमक बरछीन की।
भननात गोलिन की भनक, जनु धुनि धुकार झिलीन की ॥८०॥
दिसि-दिसनि दादुर-से उमगि, सु नकीब दूँदि मचावहीं।
कल कीर कोकिल-से तहाँ, ढाढ़ो महाधुनि छावहीं॥
रन-रंग तुंग तुरंग-गन, सत्वर उड़त्त मयूर-से।
तहँ जगमगानी जामगी, जुगनून हू के पूर-से ॥८१॥
फहरे निसान दिसानि जाहिर, धवल दल बकपंत-से।
हद हियनि हर्षित बीरबर, फूले फिरत रतिकंत-से॥
बलके सवार सपूत अति, मजबूत नद-से उमड़ि कै।
अरि-ओर ओरे-सी परैं, घन-घोर गोलो घुमड़ि कै ॥८२॥
फर फिरत डोले अरि अडोले, परत गोले गाज-से।
कमनैत-करनि कमान-बृंद, सु इंद्रधनुष दराज-से॥
मदमत्त महत मतंग-मद, झर्झर सु निर्झर-से झिरैं।
धनि धीर धौंसा गजन पर, घन घोर गर्जत-से फिरैं ॥८३॥
इमि साजि दल हिम्मतबहादुर नृपति बीर हला कियो।
जहँ प्रबल बीर पमार अर्जुन सिंह हर्षित है हियो॥
अति कठिन भूमि मवास-ऊपर, अजैगढ़ सोहै किलो।
चहुँ ओर पर्वत वन सघन, तहँ आपु डीलनि नृप पिलो ॥८४॥
जहँ और फौजन को न सपने हु, चित्त जैबे को चलै।
तहँ नृपति बीर अनूप गिरि, पैठो हरषि हाँकत दलै॥

जिमि राम रघुवर दौरि कै, निरसंक लंका पर गयौ।
हिम्मतबहादुर वीर त्यों, रन-धीर धावत तहँ भयौ॥८५॥
तहँ मार खाव सुभाँति विहरी, प्रथम ऊपर किले की।
दूजे पहारन की प्रबल, तीजे जु संगर मिले की॥
इमि तोप तुपक जँजाल सिप्पे, बान पैरत नहिं रुको।
तब वीर अर्जुन को तहाँ, अनगन अराबो फिर धुको॥८६॥
अनगन अरावे के दगत, तहँ गिरे वीर कितेक हू।
हय-गय सभय ह्वै चिक्करत, नहिं टरत बीर सुचेत हू॥
तहँ हथनि ठेलाठेल पेलापेल करि बगमेल की।
जहँ होय अर्जुन चलौ तहँ, नहिं बेर है अब मेल की॥८७॥
दिन रहो थोरो दूर डेरो, फिर न कौन सलाह है।
पग परैं पीछे इहि बखत, रन में अजय की राह है॥
ता तें पमारहि प्रथम दौरि, निवास तें जु निकारिये।
निकसै न तौ तिवहीं जु चलि, मरिये कि ता कों मारिये॥८८॥
यह कहत कट-कट करि विकट, भट झपटि आगे कौं दबे।
मदमत्त हाथिन पर निसान, कृसान-से फहरत फबे॥
इक ओर तोपैं प्रलय रोपैं, नृपहि कोपैं घलि चलीं।
इक ओर बानन की जु अवली, अरि-थलिन तुरतहिं घलीं॥८९॥
तहँ परत गोलन पर जु गोले, अरि अडोले बगि उठे।
बर विदित बानन की कुहक, गज-तुरँग कंपत तन-पुठे॥
अति परी खलभल प्रबल दल पर, अखिल मुख मैले भये।
कर कँपत एकन के थकत, पद जौन कादरता ठये॥९०॥
इमि देखि व्याकुलता सु अर्जुन सिंह तहँ गज पर गयौ।
कर लै निसान कमान बान, सु भान-सम चहित भयौ॥

तब सेन तें तम-रूप भय अति, सभय तुरत बिलाइगो।
बरबीर ताको चाउ चित, इक बारहीं तहँ आयगो ॥९१॥
तब यह वचन बोलो पमार, विचार अब सब मिलि कहौ।
करिये पसर कित ह्वै जु कैसो, जौन भाँति बिजै लहौ ॥
यह सुनि वचन अर्जुन बली को, तब वचन एकनि कहौ।
अब निकसि संगर तें जु लरिबो, रन सलाह नहीं रहौ ॥९२॥
अब होय सो इत कीजिये, कढ़िये न बाहिर कोट तें।
लरिये जु मनमानो इहाँ, बचिये अरिन की चोट तें ॥
सब तोपखानो अग्र करि, धरि धीर इत रहि जाइये।
जब टूटि जाय कराल संगर, तब अरिन पर धाइये ॥९३॥
यह सुनि विचार पमार तुरतहिं, कोप करि बोलो तबै।
आजनम तें जु सुभाव मेरो, बीर हम जानत सबै ॥
तन-ओट के नाते जु कबहूँ, ढाल हम आड़ी नहीं।
भट-जोट दै तब अरिन कों, अब कोट-ओट कहाँ रही ॥९४॥
अब धन्य है हिम्मतबहादुर की जु हिम्मत को लखौ।
जिन तीस कोस कराल भूमि मझाइ कै रन अभिलखौ ॥
यह कस्त करि आये यहाँ, कै रन हथ्यारनि भेटबी।
रनधीर बीर पमार सों, लरि सुजस-बृंद समेटबी ॥९५॥
ता तें सलाह यही करौ, चलि कछुक आगे लीजिये।
हरषित हथ्यारन सों जु मिलि करि, रन हकाहक कीजिये ॥
जा कों बिजय प्रभु देइ सो, इत अनायासहि पावही।
घरि कोट संगर में जु घिरि कै, कुल कलंक चढ़ावही ॥९६॥
जिन की बदी है मीच अब, तिन की न इत-उत बचहिंगी।
जिन की नहीं है विधि रची, तिन के न तन कों तचहिंगी ॥

जग में जु जन्म बिबाह जीवन मरन रिन धन धाम ये।
जिहि कों जहाँ लिखि दियो प्रभु, तिहि कों तुरत तिहि ठाम ये॥९७॥
चढ़ि जाइ मेरु कुबेर-घर, गढ़ लंक हू में दुबि रहै।
फिर तल रसातल वितल पैठि, पताल फोरि अमी लहै॥
भेटै धनंतर-से जु बैद, सु यों अनेक बिधैं करै।
पर काल है जिहि को जहाँ, तिहि को तहाँ तें नहिं टरै॥९८॥
गिरि परहि अगिनि अपार, कूदहि जहर-कहर-दखाड में।
रन जाइ, खाइ हलाहलहि, परि जाइ केहरि-दाड में॥
चढ़ि जाइ हिम गिरि, हाँकि कै लपटाइ आसुर अजब सों।
ततकाल जो निज काल नहिं, तौ बचहि एते गजब सों॥९९॥
यह तत्वसार बिचारि मन, अब झारि समसेरहि कढ़ौ।
रिपु-सार-धार अपार पैरि, सु रारि करि जग जस मढ़ौ॥
निज भाग तें रन-समय या, जब कबहुँ छत्रिय पावहीं।
तिहि में जु कादरता करहिं, ते जगत जन्म नसावही॥१००॥
यह धर्म छत्रिन को प्रमान, पुरान-बेद सदा कहैं।
द्विज-गऊ पालहिं, रिपु दसालहिं, सस्त्र - घावहिं तन सहैं॥
जग जुवा जुद्ध हु को कबहुँ, सपने हु नहिं नाहीं करैं।
ऐसे परम रजपूत कों, रन गिरत बारंगन बरैं॥१०१॥
अब रन तजे जौ हूजिये, इत अजर-अमर जहान में।
तौ छोड़ि हथियारनि धरहिं, कह कढ़त है घमसान में॥
जग एक दिन मरने मुकर्रर, जनम पाइ सुनीजिये।
ता तें गलिन-दर-गलिन हू, जस वृथा मलिन न कीजिये॥१०२॥
निज आयु रच्छा करत तन की, आयु मर्म बचावही।
निज आयु सिंह-सपेट तें, सु बचाइ घर कों ल्यावही॥

निज आयु अन्न अमोघ देव, यहै विचारत गाजिये।
परिये न कबहूँ दीन अरिहि, न कबहुँ रन तें भाजिये ॥१०३॥
रन-धीर छत्रिय कौं जुरन में, दुहूँ भाँतिन है भली।
जीतै जु अरि-गन, जाइ तौ भोगै धरनि फूली-फली॥
जूझै जु सुद्ध त्रिसुद्ध तौ, स्वर्गापवर्गहिं पावही।
तहँ करै मन-माने बिहार, न कबहुँ इहि जग आवही ॥१०४॥
ये द्वै पुरुप जग में जु, सूरज को सुमंडल भेदहीं।
जे जोग-जुत आजनम तें, नहिं कबहुँ ल्यावत खेदहीं॥
अरु जे हिये हर्षित लरत, रन में जु सन्मुख जूझहीं।
इन के जु गुन गाये सुने, ते परमतत्वहिं बूझहीं ॥१०५॥
कहु कौन चिंता है नरनि, रन में जु तन कों परिहरैं।
जब मरन-कासी-धाम-सम, रन-मरन कवि-जन अनुहरैं॥
पर तऊ कासी के मरन तें, रन-मरन सु विसेष है।
काहे कि रन में मरन तें, जस जगजगात अलेख है ॥१०६॥
जिन के परत पग अग्र कों, अरि की जु सेना देखवें।
तिन को सु पग-पग पर मिलत, फल अधिक जज्ञ असेष तें॥
जिन की जु घाइन तें घुमड़ि, रन रुधिर की धारा गिरैं।
तिन की तरैं पैरी पचास, सुबास तें फिर नहिं फिरैं ॥१०७॥
कहँ हैं जु रघु, रावन कहाँ, कहँ राम, कहँ हरिचंद हैं।
कहँ पृथु भगीरथ मानधाता, कहँ करन कुरुनंद हैं॥
कहँ पंच-पंडव, द्रोन दुरजोधन जयद्रथ कहँ छये।
इन के जु जुद्ध प्रसिद्ध जस, जग देखियतु है रहि गये ॥१०८॥
पटि जात वापी कूप सर, कटि जात घन बन बाग है।
ढहि जात धाम'रु धौरहर, रहि जात कछु न अदाग है॥

मिटि जात तन धन एक दिन, पुर-नगर हू दहि जात है।
पर या जगत में अमर है, जस औ कुजस रहि जात है॥१०९॥
ता तें कुजस की गैल में, पग भूलि कबहुँ न धारिये।
यह गैल है बिन मैल जस की, हँसि हथ्यारनि झारिये॥
रजपूत को संपति यहै, पति सदा अपनी राखिये।
पति गये पतिनी आदरै नहिं, और की कह भाषिये॥११०॥
यह करि बिचार पमार अर्जुन सिंह हिय हर्षित भयौ।
सनमान करि द्विज-बरन को, तिन दान गौवन को दयौ॥
पहिरे गरे गुटिका कवच, रचि भागवत गीतान के।
करि पान गंगा-जल विमल, फिरि ठठे ठठ घमसान के॥१११॥
गुरदा, बगुरदा, छुरी, जमधर, दम, तमचे कटि कसे।
बर बिबिध तीरन सों भरे, तहँ द्वै तुनीर महा लसे॥
फिरि द्वै कमानैं बाँधि करि, किरवान करि कर में लई।
बहु बिधि बँदूखन के जु बूंदन की अमित आभा भई॥११२॥
छोटे - बड़े हथियार सब, धरि निकट हौदा में लये।
दल देखि भूप अनूप को, अतिप्रबल फल फूलत भये॥
मुच्छा उमैठत उमड़ि ऐंठत, कठिन रुर-कुहुँचान कों।
हँसि हूलि हाथी लिये साथी, चल्यौ इमि घमसान कों॥११३॥
तहँ होत पसर पमार की, बेकसर दिग्गज डगि उठे।
धँसि-धँसि धरनि धर के धरैया कहत जमकावर रुठे॥
उठि धूरि-धारा धरनि तें, नभ धाइ ध्रुव धामैं गई।
इक एक-एकन कों न देखैं, इमि अँध्यारी छिति छई॥११४॥
अति रन-अडोल पमार की वह गोल गोला-सी चली।
बर बान तीर तुपक, तोपन की भई जु चलाचली॥

दल तहाँ प्रलय - पयोधि-सो, उमड्यौ अपार रुकै नहीं।
जिहि के सु कोह-भरी किते्कौ, लोक लहरैं ऊमहीं ॥११५॥
लखि यों अवाई वीर की, रिपु-मीर में खलभल भई।
'आयौ पमार, पमार आयौ', यहै धुनि छिन इक छई॥
रन-धीर बीर अनूप गिरि, तकि ताहि हर्षित हिय भयौ।
करकरे वीरनि संग लै, उमड्यौ सुडीलनि तहँ गयौ ॥११६॥
फरके उदंड उमंडि कै, भुजदंड दोऊ लरन कौं।
तहँ फूलि तन तिगुनो भयौ, बढ़ि चल्यौ जब रन करन कौं॥
तिन चित चढ्यौ अति चाउ चौगुन, सौगुनो साहस भयौ।
लखगुनो लाल परयौ सु देखत, लोह कौं लपकत थयौ ॥११७॥
तहँ अति ललाई उमगि छाई, दृगन माँझ दिखात है।
जनु वीर रस तन पूरि करि, अँखियान ह्वै उफनात है॥
तन तेज बहु अरु ताउ तीछन, चाउ जिहि सोभनि सनो।
हिम्मतबहादुर को सु तन, रन मे सु देखत ही बनो ॥११८॥
तहँ जंत्र - मंत्र अनेक, दुर्गा भागवत गीतान के।
गुटिका गरे विच सोभहीं, जे करत जय घमसान के॥
कर सैहथी द्वै खग्ग खासे, कठिन कम्मर मैं लसैं।
जमधर छुरा सु बिलाइती, जिन को विलोकत जम त्रसैं ॥११९॥
सर - भरे तरकस, अरु कमान महान घोड़े सों लगी।
तिहि समय की वह आन-सान, दिसा-दिसान-विषै जगी॥
तहँ हरषि हर-हर, हरषि हर-हर, हरषि हर-हर करि पिल्यौ।
वह कहनि हर-हर की सु धुनि, सुनि जिगर सत्रुन को हिल्यौ ॥१२०॥
तव मानधाता मरद अति, सुत राय सत्रुसलराय को।
रजधान को धनि धनी धोर, सु भक्त नृप के पाय को॥

जग भानु कायथ-कुल-कमल को, भोज भिक्षुक-करम को।
सिरमौर बीरन को विदित, सरदार सागर सरम को ॥१२१॥
दिल खोल हरपि हरौल है, यह बोल भाषत तहँ ठयौ।
हमरे विलोकत नृपति कों, इतनो परिश्रम है भयौ॥
हिम्मतबहादुर ने हमैं, सुत तें अधिक जानो सदा।
इन के नमक तें ईसुरी, हम कों करै रन में अदा ॥१२२॥
हमरे जियत नृप - ओर, जो हथियार अरि को आइहै।
निज जनक सबसुखराय कों, फिरि बदन कौन दिखाइहै॥
घर में न पैठन पाइबी, अरु बात कहुँ कहिबी कहा।
मरिये कि अरि कों मारिये, अब यह बिचार हिये चहा ॥१२३॥
हिम्मतबहादुर ने हमैं, सब साहिबी घर की दई।
राई सु सबसुख की विदित, इन की बदौलत तें भई॥
इन की कमाई जनम तें, खाई खवाई और कों।
इन की कृपान'रु कृपा तें, पहुँचे नृपन के तौर को ॥१२४॥
हाथी तुरँग रथ पालकी, परगने इन बकसे सबै।
रन मारि समसेरैं उमड़ि, इन तें उरिन हूजै अबै॥
जहँ-जहँ नरिंद अनूपगिरि ने, जुद्ध उद्धत हैं करे।
तहँ-तहँ सु सबसुखराय, धाइ महीप के आगे लरे ॥१२५॥
अब कै हमारी ओसरी, निज भाग तें बिधि ने दई।
रन-बीर अर्जुन सिंह सों, जो इत लराई जुरि गई॥
यह कहि मरद अति मानधाता, उमड़ि बर बरछी लई।
मुख पै ललाई बीरता की, तिहि समै दूनी भई ॥१२६॥
तन तहाँ फूलत ही तुरत, उखरी सु बखतर की करी।
लखि जंग, अंग सिलाह में न समात, देखौ तिहि घरी॥

इहि विधि सु बीरनि संग लै, पैठो अलोही अनी में।
बहु हाँकि-हाँकि हथ्यार घालत, उमड़ि सेना घनी में ॥१२७॥
तहँ प्रथम रन घनघोर भो, अति कठिन बीती है वहाँ।
बर बीर अर्जुन मानधाता, समर मे जुरि गे जहाँ॥
तहँ सलि रहे तन, तीर भाला तुपक अरु बरछीन सों।
दोऊ तरफ के सुभट हाँकत, जुटि गये रिपु-सीन सों ॥१२८॥
एकै जु भाला साधि सुद्ध, सक्रुद्ध समसेरैं करैं।
अति हय कुदाइ चबाइ ओठ, सु जाइ गज-कुंभनि परैं॥
एकै जु बरछी सली तन तें, खैंचि कै अरि-उर धरैं।
एकै जु तीखन तीर पैरत, अरिन हैरत में करैं॥१२९॥
एकै न गोलिन को गनत, धँसि गोल गोला-से गये।
अरि कट्टि-कट्टि विकट्ट चट्ट, सु पट्टि भूतन को दये॥
घम-घम घमाघम झम झमाझम, धम धमाधम है ठई।
चम-चम चमाचम तम तमातम, छम छमाछम छिति छई ॥१३०॥
मारे हथ्यारन के कितेकौ, बीर रन में बिछि गये।
तिन पै तुरत भट पाउ दै-दै, करत जै-जै जुटि गये॥
बर धौंक करत निसौंक चुहँकि, सु हाँकि कै हरवरिन सों।
तहँ चलीं घोर छुरी बगुरदा, पेसकब्जैं अरिन सों ॥१३१॥
इहि भाँति भरद सु मानधाता, प्रथम निज डीलनि लर्यौ।
बरछी खड्ग जमधरनि घालि, सु अरि-कटक कटा कर्यौ॥
फिरि ह्वै जुदो जु तुरंग तें, पग रोपि प्यादे जुटि गयौ।
निज ढाल ढक्कन सों कितेकौ, भटन को जु हटा दयौ ॥१३२॥
तहँ हाथ पट्टे के झपट्टि-झपट्टि कै झुकि-झुकि करे।
तन स्वामि-कारज में समर्पत, स्वर्ग कौं भे हरबरे॥

हँसि हाँकि-हाँकि हथ्यार, अर्जुन के जु सन्मुख ह्वै सहे।
निज प्रान छूटे पर समर में, लरे वैसे बहबहे ॥१३३॥
इहि भाँति मरद सुमानधाता, झपटि जूझो समर में।
चढ़ि कै बिमान प्रनाम नृप कों करत, गो मिलि अमर में॥
तब प्रबल वीर पमार अर्जुन, हरषि आगे कों बढ़ो।
तिहि निरखि नृप के अंग-अंगनि कोप ओपन सों चढ़ो ॥१३४॥
तहँ नृपति गंगा गिरि, दिलावरजंग जंग बिचारि कै।
आयो सु अग्र उदग्र बरछी, बिदित कर उलछारि कै॥
यह कहत निज बीरनि सुनाइ, न काम जकिबे को रहो।
इक-एक बरछी घालि करि, लीजै बिजय अति डहडहो ॥१३५॥
याही दिना कौं नृपति ने, आजनम तें पालो हमैं।
निज भाग तें दिन मिलो सो, करिये कमी नहिं यहि समै॥
यह कहि तुरंग कुदाइ, आगे उकढ़ि अरि-गन में गयौ।
भुजदंड चंड उदंड करके, फूलि तन तिगुनो भयौ ॥१३६॥
मुख पर ललाई उमगि आई, सिंह-सम गरज्यौ जबै।
अति कर्षि-कर्षि हथ्यार घालत, हर्ष-जुत हाँकत सबै॥
तहँ मारि-मारि अरिंद, बरछी सों गिराये गयन तें।
झुकि झारि तरवारनि तहाँ, बहु सुभट ढाहे हयन तें ॥१३७॥
एकैं करे बिन हत्थ अरि, एकैं करे बिन मत्थ के।
एकै रिपुन के जुत्थ-जुत्थ, करे उलथि बिन अत्थ के॥
इहि बिधि सँहारे बैरि-बर, भुव की लपेटनि लपटि कै।
बहु दाबि डारे समर में, तुर में तुरंगहि दपटि कै ॥१३८॥
ऐसे घने घमसान में, हय घूमि घाइल ह्वै गयौ।
अरु आपु घाइल ह्वै समर में, उमड़ि हंकत हँसि ठयौ॥

इक ओर भूप जगतबहादुर, हाँकि पैठो अरिन में।
बरछी उछालत हरष सों, हँसि जाइ घालत करिन में ॥१३९॥
हुङ्कार हुंकत नहीं संकत, भिरत रन हनुमंत-सो।
अरि-ठट्ठ ठेलत खुसी खेलत, समर माँझ बसंत-सो॥
बहु ढाल-ढक्कन सों ढकेलि, अरिंद उसटाये भले।
बहु मारि समसेरनि गिराये, काटि करि तिन के गले ॥१४०॥
इक ओर हुंकत राज गिरि तहँ, गाज-सो ठाढ़ो भलो।
अति तेज तुंग तुरंग, दाबि गुमान गब्बिन को मलो॥
सोभित षड़ानन-सो तहाँ, कर सक्ति रक्त-भरी लिये।
चलि बीर अर्जुन सों जुरथौ, मीचहि चुनौती-सी दिये ॥१४१॥
घालत हथ्थार झपट्टि झुकि-झुकि, रुकत नहिं गज-ठेल सों।
अरिवर सिलाही बहु गिराये, सक्ति की जु उठेल सों॥
फिर खैंचि निज समसेर फेरत, सेर-सो सपटो तहाँ।
तकि वीर घालत गरजि कै, बर बीर अर्जुन है जहाँ ॥१४२॥
तहँ जुरि गई बहु अरिन सों, लखियतु लराई लोह की।
अति होत हुंक हकाहकी रन, राज गिरि सों कोह की॥
झारी तहाँ तरवार नृप, उमराव-गिरि-नंदन बली।
उमड़ात भूतल प्रतिभटन तें, रुधिर की धारा चली ॥१४३॥
ऐसे घने घमसान में, तकि बीर अर्जुन ताउ सों।
मारे महा सर राज गिरि के, अंग-अंगनि चाउ सों॥
अरु और अरि-बीरनि तहाँ, समसेर बरछी बहु हनीं।
तेऊ कुँवर ने फूल-सी, तन में लगत कछु नहिं गनीं ॥१४४॥
ज्यों-ज्यों लगें हथियार तन, त्यों चढ़त चौगुन चाउ है।
हाँकत हँसत समसेर झारत, करत अरि-सिर घाउ है॥

ऐसे घने घमसान में हय, घूमि घायल है गिरयौ ।
तहँ राज गिरि पग रोपि कै, सौगुन पयादे ह्वै भिरयौ ॥१४५॥
इक ओर उत्तम-गिरि-कुँवर, नरसिंह-सो गर्जत भयौ ।
तलवार बरछी हय कुदाइ, पमार के दल-बिच गयौ ॥
फरके उदंड प्रचंड अति, भुज-दंड भैरव-रारि में ।
दृग लाल दोऊ मुख बिसाल, कराल करि रिपु-धारि में ॥१४६॥
अघ अधर चव्वत नहीं दव्वत, फूलि फव्वत समर में ।
कौंचनि उमैठत हरषि पैठत, लोह की भर भ्रमर में ॥
तहँ घालि बरछी घोर बहु, अरि-गन गिराये गजन तें ।
मानो गिरे कंचन-कलस, अर्जुन-अजिर के छजन तें ॥१४७॥
तहँ कढ़ी कम्मर तें तुरत, समसेर दामिनि-सी दिपै ।
जिहि के परत रन-अग्र में, सु उदग्र अरि कों नहिं खिपै ॥
झुकि झार उत्तम-गिरि-कुमार, तहाँ करी तरवारि है ।
बिन मुंड के बहु करे अरि, तिर्पित कियौ त्रिपुरारि है ॥१४८॥
तहँ इकन की गिरवान गहि, पटके हयन तें समर में ।
गहि हत्थ एकन कों गिराये, मारि जमधर कमर में ॥
तहँ हने एकन कों जु मुठिका, हनी एकनि चनकटैं ।
भजि चले एकैं देखि क्रुद्धित कुँवर कों, इत-उत उटैं ॥१४९॥
इमि लरयौ उत्तम-गिरि-कुमार, बिड़ारि बैरिन कों दियौ ।
तहँ बीर अर्जुन के जु सन्मुख होइ, जुद्ध महा कियौ ॥
तिव निरखि प्रबल पमार ने, मारे महा सर तकि कै ।
तब ताकि या को ताउ तिगुनो, रहि गयौ छिन जकि कै ॥१५०॥
घन घाउ लागे पर कुँवर, तहँ लरयौ प्रबल पमार सों ।
झुकि झारि समसेरैं उमड़ि, नहिं टरयौ अरि की मार सों ॥

तब जुलफिकार नवाब धायौ, धनि धनी मेवाव को।
तरवारि मारत अरि विदारत, तजहिं रत्तन गात को ॥१५१॥
तिहिं विविध भाँतिन के तहाँ, हथियार घाले अरिन पै।
सफजंग तुंग तुरंग दावत, जुरयौ जा करि करिन पै॥
तहँ मारि तरवारनि पमारनि, टूक-टूक कियौ भलो।
सब धन्य - धन्य कहैं तबै, जब स्वर्ग कों हरपत चलो ॥१५२॥
इहिं भाँति जूझो जुलफिकार नवाब, सुभ संग्राम में।
तन स्वामि-कारज समरपित, करि कै गयौ सुरधाम में॥
तहँ सुभट सेंगर कंसराज, सपूत पूत पुकारि कै।
उमराव सिंह नृसिंह - सो, पैठो सु वीर विदारि कै ॥१५३॥
घन धाइ करि बरछीन के, अरि छीन करि डारे सबै।
उद्‌भट पमारन कों विलोड़त, गरजि बोलत नहिं दबै॥
तहँ सेर-सो बाँको लिये, समसेर सूरन में करै।
उमराव सिंह उराव करि, अरि-मुंड मुंडन कों हरै ॥१५४॥
इहिं विधि लरयौ जिय छोड़ि कै, तन ओढ़ि अस्त्र अरीन के।
हँसि हर्षि-हर्षि हकाहकी, काटे भसुंड करीन के॥
तहँ जुटे उद्‌भट विकट भट, तिन सों लड़ाई बहु करी।
घन घोर घाइन की घुमड़ि, सब देह लोहू सों भरी ॥१५५॥
तहँ धाइ सौंहे धाइ खाइ, गिरयौ गरजि रन-रंग में।
उमड़ै रुधिर के मिस मनो, वर बीर रस अँग-अँग में॥
इत रुंड रारि करै महा, उत मुंड हर के हार में।
तित बरयौ सुर-नारिन निरखि, लै गई स्वर्ग-विहार में ॥१५६॥
नृप नवल सिंह पमार बीर, भिरयौ गुलौली को धनी।
हँसि हरषि हथियारनि करत, अति लरत काटत अरि-अनी॥

अति तेज तुंग तुरंग दाबि, दबाइ दीन्हे रिपु-झला।
भाई बिरादर संग लै, कीन्हो सु अर्जुन पै हला ॥१५७॥
तहँ सिंह-सो जु नरिंद सिंह, पमार झपटो झमकि कै।
निज हय कुदाइ दबाइ रिपु, हथियार घालत बमकि कै॥
जग जगत जगमग जगत सिंह, पमार रार करी भली।
हलकार बर बरछीन सों भट, सेन अर्जुन की दली ॥१५८॥
समसेर झुकि मारी झमकि, तन तमकि ताउ करै महाँ।
अति बमकि बीरन के सु रुट्टि, कबंध उट्टत हैं जहाँ॥
रन बुद्ध सिंह सपूत सेँगर, लख्यौ हर्षि हकाहकी।
तहँ मारि हथियारनि, अरिन की करि दई जु थकाथकी ॥१५९॥
अति भिर्‌यौ कुँवर सरूप गिरि, अर्जुन बिकट बलवान सों।
असि खैंचि घाइल किये बहुतक, बहुत मारे जान सों॥
अति मुदित - मन मैदान में, नहिं मुर्‌यौ सत्रु-सपेट सों।
बहु दाबि डारे सुभट अरि, निज तुरँग दीह दपेट सों ॥१६०॥
अति बल प्रबल पड़िहार बीर, निधान सिंह महाबली।
निज सुभट बीरनि संग लै, सु दमानकैं घालीं भली॥
ठाढे गयंदन के सवार, बड़े - बड़े सरदार हैं।
फिरि झपटि समसेरैं करीं, नहिं रारि मानत हार हैं ॥१६१॥
तहँ भिरे स्वासा के धनी, जु बुँदेल बिदित जहान में।
सु दिमान दूलह जू दिमान, खुमान सिंह सु सान में॥
घालीं बिदित बरछी बहुत, समसेर मारीं झपकि कै।
तहँ कटा अर्जुन-सेन को, तिन कर्‌यौ लोहे लपकि कै ॥१६२॥
तहँ इकनि हाँकत हरष सों, अरु इकनि मारत खग्ग है।
तित इकनि डारत हयन तें, इमि जग्यौ उमड़ि उदग्ग है॥

लाला तहाँ हँसि हरषि, हीरालाल लाल परो भलो।
बर बीर अर्जुन सिंह को दल, लखत नृप के दलमलो ॥१६३॥
तहँ हरपि हिंदूपति पमार, सम्हार घर बरछी लिये।
धायो तुरंगहि झपटि कै, झुकि झपटि कोप महा किये॥
हिय सुमिरि पूरब बैर, अर्जुन सिंह के सनमुख भयौ।
काका भतीजे को तहाँ अति, जुद्ध बीरन जुरि गयौ ॥१६४॥
तहँ देखि हिंदूपतिहि, अर्जुन सिंह बोलो गज्जि कै।
यह बचन नहिं पावै कुँवर, इत भलो आयौ सज्जि कै॥
यह सुनत अर्जुन को बचन, तहँ बीर हिंदूपति चलो।
घाली उमगि तलवार बरछी, सुद्ध नागिन-सी चली ॥१६५॥
तहँ फोरि हौदा के बिकट, पटिया तुरत पारहि भई।
लखि जियत अर्जुन सिंह कों, असि खैंचि कम्मर तें लई॥
तित लग्यौ झारन झपटि कै, समसेर सेर-समान ह्वै।
तिहि समय अर्जुन बीर ने, मारे बदन में बान द्वै ॥१६६॥
तहँ लगत बीरन के तुरँग, चढ़ि चाउ चौगुन चित भयौ।
तन फूलि फरके फबो अति, बर बीरता की छबि छयौ॥
तब तानि-तानि कमान अर्जुन, बीर मरमन में हने।
ते लगत हिंदूपति पमार, जुझार ने तिन-सम गने ॥१६७॥
तहँ और अर्जुन के सुभट, धाये कुँवर पै कोपि कै।
तिन सों लस्यौ तलवार बरछिन, हिंदुपति पग रोपि कै॥
यहि समय हिंदूपति-कुँवर को कुँवर, कोप महा कियो।
रन में बहादुर सिंह बढ़ि, नरसिंह-सो उमगत हियो ॥१६८॥
आयौ उमड़ि तलवार नेजा, धाइ मारत अरिन कों।
सु हलाइ डारत हयन तें भट, हँसि-हँसि बिडारत करिन कों॥

अति मार माची रार-बिच, नहिं हार कोऊ मानहीं।
झटपट झपट्टि भिरे तहाँ, बर बीरताई आनहीं ॥१६९॥
इमि भर लराई में बहादुर सिंह, तन - घाइल भयौ।
तब बीर अर्जुन सिंह ने, गज हूलि आगे कों दयौ॥
इहि समै भट सिरमौर गौर, दिलीप सिंह उमाह सों।
धायो हरषि हँसि हूलि हाथी, लिये साथी चाह सों ॥१७०॥
इक ओर गौर निवाज सिंह, दराज रन उमड़ो भलो।
इक ओर दुरजन सिंह गौर, सुदौरि अरि सनमुख चलो॥
तहँ चली अति तरवार झार, पमार गौरन सों तहाँ।
रन रुंड मुंड भसुंड कटि-कटि, फैल फरकत हैं जहाँ ॥१७१॥
दल दौरि उत्तम सिंह गौर, गरज्जि किरवानैं करी।
मुच्छा उमैठत हरषि पैठत, सत्रु की सेना हरी॥
तहँ दल दबाइ दिलीप सिंह, सु हंक हाथी हूलि कै।
जुरि जुटि गयौ अर्जुन बली के, दुरद सों फर फूलि कै ॥१७२॥
तहँ चले हौदन पर हथ्यार, पमार अरु इत गौर के।
डगि उठे दिग्गज जुद्ध देखि, दुहूँ सुभट-सिरमौर के॥
इहि समै दोऊ दलनि घमकत, चल्यो अति हथियार है।
हिम्मतबहादुर इहि समै, आयौ तुरँग उलझार है ॥१७३॥
हाँकत अरिंदन कों दपटि, अति विकट बर बरछी लिये।
निज बाँह भरि सु उछाह सों जिन हनत, ते फिरि नहिं जिये॥
इहि भाँति अर्जुन के सुभट, रन ढाहि बरछी सों दिये।
जे भये सन्मुख नृपति के, तिन कों सु बिन प्राननि किये ॥१७४॥
मन तें जु आगे तन भयो, तन तें जु आगे घोड़ है।
मन तन तुरंग सु तेज की, मचि रही होड़ा-होड़ है॥

तहँ हय कन्हैया की फुरत, रन जुरत देखत ही वनी।
हिम्मतवहादुर चढ़्यो जिहि पै, हनत सत्रुन की अनी ॥१७५॥
तहँ हय कन्हैया कूदि कै, गज की कन्हैया पर पर्‍यौ।
तब घली छूटा नृपति की बरछी, सु भो अति भरभर्‍यौ ॥
गज-कुंभ फोरि महावती-तन फोरि हौदा फोरि कै।
कढ़ि गई वाहर घोर सक्ति, सु रक्त में तन बोरि कै ॥१७६॥
तहँ गिर्‍यौ महत महावती, रन-भूमि-बिच घन घूमि कै।
गज अजब अर्जुन सिंह को, झपटै झुकै झुकि भूमि कै ॥
रन-वीर प्रबल पमार तबहीं, कूदि हौदा तें पर्‍यौ।
कुंजर किलाये आइ करि तन, तमकि तरवारनि लर्‍यौ ॥१७७॥
हिम्मतवहादुर भूप की, इत कढ़ी सुभ समसेर है।
गज-सुंडदंडन पै परत रन, करत रिपु-गन ढेर है ॥
तहँ सुभट अर्जुन वीर के, जुरि भूप के सन्मुख गये।
तिन के सिरन पै अति उदग्ग, सु खग्ग नृप घालत भये ॥१७८॥
सिर कटहिं, सिर कटि धर कटहिं, धर कटि सु हय कटि जात हैं।
इमि एक-एकहि वार में, कटि भट भये विन गात हैं ॥
इत सुभट भूप अनूप गिरि के, उकढ़ि आये चाउ सों।
उत सुभट अर्जुन के विकट, फिरि लरि परे अति चाउ सों ॥१७९॥

(छप्पय)

जुद्धहिं सुभट त्रिसुद्ध सुद्ध, अति उद्धत क्रुद्धहिं।
वुद्धहिं निज-निज वैर, दौरि करि खल-दल रुद्धहिं ॥
हंकहिं हँसहिं हुमंकि हेरि, हरषहिं नहिं संकहिं।
झंकहिं झुकि-झुकि झपटि, लपटि लरि बमकि बमंकहिं ॥

तहँ 'पद्माकर' कवि बरन इमि, तमकि ताव दुहुँ दल भयउ।
नृप-मनि अनूप गिरि भूप जब, करत खग्ग रन जस वयउ ॥१८०॥

(हरिगीतिका)

करि खग्ग दग्ग उदग्ग अति, अरि-वग्ग आये उमड़ि कै।
गज-घटन माहिं महाबली, घालत हथ्यारनि घुमड़ि कै ॥
पृथु-रित्ति नित्त सुवित्त दै, जग जित्ति कित्ति अनूप की।
बर बरनिये बिरदावली, हिम्मतबहादुर भूप की ॥१८१॥

(त्रिभंगी)

तहँ दुहुँ दल उमड़े, घन-सम घुमड़े, झुकि-झुकि झुमड़े, जोर-भरे।
तकि तबल तमंके, हिम्मत हंके, वीर धमंके, रन उभरे ॥
बोलत रन करखा, बाढ़त हरषा, बाननि बरषा, होन लगी।
उलछारत सेलैं, अरि-गन ठेलैं, सीननि पेलैं, रारि जगी ॥१८२॥
बंदी-जन बुल्ले, रोसन खुल्ले, डग-डग डुल्ले, कादर हैं।
धौंसा-धुनि गज्जे, दुहुँ दिसि बज्जे, सुनि धुनि लज्जे, बादर हैं ॥
नीसान सु फहरैं, इत-उत छहरैं, पावक-लहरैं-सी लगतीं।
छुवती नकि नाका, मनहु सलाका, धुजा पताका, नभ जगतीं ॥१८३॥
कढ़ि कोटनवारे, वीर हँकारे, न्यारे-न्यारे, अभिरि परे।
किरवाननि झारैं, सुभट बिदारैं, नेकु न हारैं, रोष-भरे ॥
कानन लौं तानैं, गहि कम्मानैं, अरिन निसानैं, सिर घालैं।
सूधे अति पैठैं, मुच्छनि ऐठैं, भुजनि उमैठैं, गहि ढालैं ॥१८४॥
अत्रन की मूकैं, घालि न चूकैं, दै-दै कूकैं, कूदि परे।
गहि गरदन पटकैं, नेकु न भटकैं, झुकि-झुकि झटकैं, उमँग-भरे ॥
रन करत अड़ंगे, सुभट उमंगे, बैरिन वंगे, करि झपटैं।
सीसन की टक्कर, लेत उटक्कर, घालत छक्कर, लरि लपटैं ॥१८५॥

तहँ हत्था-हत्थी, मत्था-मत्थी, लत्था-पत्थी, माचि रही।
कार्टैं कर कट-कट, विकट सुभट-भट, का सों खटपट, जाति कही॥
गहि कठिन कटारी, पेलत न्यारी, रुधिर-पनारी, बमकि बहैं।
खंजर खिन खनकैं, ठेलत ठनकैं, तन सनि-सनि कै, हिलगि रहैं॥१८६॥
गहि-गहि पिसकब्जैं, मरमनि गब्जैं, तकि-तकि नब्जैं, काटत हैं।
कम्मर तें छूरे, काटत पूरे, रिपु-तन रूरे, काटत हैं॥
करि धक्का-धक्की हक्का-हक्की, ढक्का-ढक्की, मुदित मची।
घनघोर घुमंडी, रारि उमंडी, किलकत चंडी, निरखि नची॥१८७॥
एकै गहि भाले, करि मुख लाले, सुभट उताले, घालत हैं।
तोरत रिपु-ताले, आले-आले, रुधिर-पनाले, चालत हैं॥
झारत असि जुरि जे, बीरनि उर जे, पुरजे-पुरजे, कोटि करैं।
हथियारनि सूटैं, नेकु न हूटैं, खल-दल कूटैं, लपटि लरैं॥१८८॥
तहँ ढुक्का-ढुक्की, मुक्का-मुक्की, ढुक्का-ढुक्की, होन लगी।
रन झक्का-झक्की, झिक्का-झिक्की, फिक्का-फिक्की, जोर जगी॥
काटत चिलता हैं, इमि असि बाहैं, तिनहिं सराहैं, वीर बड़े।
टूटैं कटि झिलमैं, रिपु रन बिलमैं, सोचत दिल में, खड़े-खड़े॥१८९॥
ढालन के ढक्के, लागत पक्के, इत-उत थक्के, थरकत हैं।
इक-इक्कनि टक्के, बँधे झमक्के, तननि तमक्के, तरकत हैं॥
ललकत फिरि लपटे, छ्विन छपटे, करि अरि चपटे, पेरत हैं।
भट भुजनि उखारत, छिति पर डारत, हँसि हुङ्कारत, हेरत हैं॥१९०॥
ठोंकत भुजदंडनि, उमड़ि उदंडनि, प्रबल प्रचंडनि, चाउ-भरे।
करि खल-दल खंडन, बैरि बिहंडन, नौऊ खंडन, सुजस करे॥
दस्ताने करि-करि, धीरज धरि-धरि, जुद्ध उभरि भरि, हंकत हैं।
पैठत दुरदन में, रोषित रन में, नेकु न मन में, संकत हैं॥१९१॥

निकसीं तहँ खग्गैं, उमड़ि उमग्गैं, जगमग जग्गैं, दुहुँ दल मैं।
भाँतिन-भाँतिन की, बहु जातिन की, अरि-पाँतिन की, करि कलमैं॥
तह कढ़ीं मगरबी, अरि-गन चरबी, चापट करबी-सी काटैं।
जगि जोर जुनब्बै, फहरत फब्बैं, मुंडनि गब्बैं, फर पाटैं ॥१९२॥
बिज्जुल-सी चमकैं, धाइन धमकैं, तीखन तमकैं, बंदरकी।
बंदरी सु खग्गैं, जगमग जग्गैं, लपकत लग्गैं, नहिं बरकी॥
सोहैं सुभ सुरती, घलत न मुरती, रन में फुरती, बीरन कों।
लीलम तरवारैं, झुकि-झुकि झारैं, तकि-तकि मारैं, धीरन कों॥१९३॥
गजकुंभ बिदारैं, सु लहरदारैं, लहरनि धारैं, बिधि-बिधि की।
लखि तालूवारैं, रिपु-गन हारैं, मोल बिचारैं, नव निधि की॥
तहँ खुरासानी, जग की जानी, घलैं कृपानी, चकचौंधैं।
निब्वाज-हु-खानी, दलनिधिखानी, बिज्जु-समानी, रन कौंधैं ॥१९४॥
असिबर नादौटैं, घलत न लौटैं, मुंडनि मौटैं, काटि करैं।
बर मानासाहीं, भटनि दुबाहीं, झिलमनि बाहीं, नहीं झरैं॥
सुभ समर सिरोही, जगमग जोही, निकसत सोही, नागिन-सी।
कर-करी सुकत्ती तीखन तत्ती, हनि रिपु-छत्ती, नहिं बिनसी ॥१९५॥
गज्जत गज दुरदा, सहित बगुरदा, गालिब गुरदा, देखि परे।
तुरकन के तेगा, तोरन तेगा, सकल सुबेगा, रुधिर-भरे॥
जगजगी जिहाजी, मंजुल माजी, सरैन साजी, सोभि रहीं।
दिपती दरियाई, दोनौं धाई, भटनि चलाई, अति चमहीं॥१९६॥
तहँ सु अलेमानी, और न सानी, सहित निसानी, घलन लगीं।
सु जुनेद-हु-खानी, पूरित पानी, दिपति दिखानी, जगा-जगी॥
दोनौं दिसि निसरी, लखत न बिसरी, मंजुल मिसरी, तरवारैं।
बन तोरन रुपती, गालिब गुपती, झक-झक झुपती, झुकि मारैं॥१९७॥

हेरी जु हलव्वी, सुंडनि गव्वी, सीस हलव्वी-सी चमकैं।
तहँ करत झपट्टे, वीर सुभट्टे, चहुँ दिसि पट्टे, धम-धमकैं॥
घालत अति चाँड़े, गहि-गहि गाडे, रिपु-सिर भाँड़े-से जुहरैं।
करि-करि चित चोपैं, रन पग रोपैं, धरि-धरि धोपैं, घूम फरैं॥१९८॥
जिन ते अति भारे, बखतर फारे, दलनि दुधारे, बहु निकसे।
तहँ सु बरदमानी, खड़ग पिहानी, हर बरदानी, हेरि हँसे॥
चरखी जिन चावी, दवहिं न दाबी, दिपति दुताबी, देखि परैं।
सुरि सुरत कहूँ ना, उत्तम ऊना, सब तें दूना, काट करैं॥१९९॥
छीलत जे काँचैं, रन में नाचैं, सुदम तमाचैं, ओप धरैं।
रंजित रन-भूमी, सु खड़ग रूमी, रिपु-सिर तूमी-सी कवरैं॥
असिवर अँगरेजैं, घलि-घलि तेजैं, अरि-गन भेजैं, सुरपुर को।
लखि फरुँकसाहीं, बीरन बाहीं, खल भजि जाहीं, दुर-दुर को॥२००॥
रिपु-झलनि झकोरैं, मुख नहिं मोरैं, बखतर तोरैं, तकव्वरी।
इक-एकनि मारैं, धरि ललकारैं, गहि तरवारैं, अकव्वरी॥
इमि बहु तरवारैं, काढ़ि अपारैं, सुचित बिचारैं, नहिं आवैं।
तिन के बहु खनके, झिलमनि झनके, ठनकत ठनके, तन तावैं॥२०१॥
बकचकैं चलावैं, दुहुँ दिसि धावैं, हयनि कुदावैं, फूल-भरे।
गजदंत उपाटैं, हौदा काटैं, बाँधि सपाटैं, अति उभरे॥
हत्थिन सों हत्थी, मत्था-मत्थी, रारि अकत्थी, करन लगे।
जंजीरनि घालैं, सुंड उछालैं, बाँधत फालैं, फर उमगे॥२०२॥
गहि-गहि हय झटकैं, दिसि-दिसि फटकैं, भू पर पटकैं, नहिं लटकैं।
पायनि सों पीसैं, अरिगन मीसैं, जम से दीसैं, नहिं भटकैं॥
प्रति गजनि चठेलैं, दंतनि ठेलैं, ह्वै भट-भेलैं, जोर करैं।
जुत्थन सों जूटैं, नेकु न हूटैं, फिरि-फिरि छूटैं, फेरि लरैं॥२०३॥

करि-करि इमि टक्कर, हटत न थक्कर, तन तकि तक्कर, तोरत हैं ।
मारे रन गुंडनि, भाले झुंडनि, तऊ न सुंडनि, मोरत हैं ॥
इमि कुंजर लपटैं, दुहुँ दल दपटैं, झुकि-झुकि झपटैं, झूमत हैं ।
अरि-पटल पटा-से, फारत खासे, सु घन-घटा-से, घूमते हैं ॥२०४॥
तहँ अर्जुन बंका, करि-करि हंका, दुरद निसंका, हूलत हैं ।
बैठौ जु किलाएँ, मुच्छनि ताएँ, रन-छवि छाएँ, फूलत हैं ॥
झारत हथियारन, मारत बारन, तन तरवारन, लगत हँसैं ।
पैरत भालन कों, सर-जालन कों, असि घालन कों, धमकि धँसैं॥२०५॥
तहँ मची हकाहक, भई जकाजक, छिनक थकाथक, होइ रही ।
तब नृप अनूप गिरि, सुभट सिंधु तिरि, अर्जुन सों भिरि, खड्ग गही ॥
हय दाबि कन्हैया, सुमिरि कन्हैया, सु गज-कन्हैया पर पहुँचौ ।
झारत तरवारै, तकि-तकि मारै, प्रबल पमारै, गहि कहुँचौ ॥२०६॥
पटक्यौ गज पर तें, उमड़ि उभर तें, अरि-सिर धर तें, काटि लियौ ।
रिपु-रुंड धरा को, अरपत ताको, हरहि हरा को, मुंड दियौ ॥
लहि अर्जुन-मत्था, गिरिजा-नत्था, अमित अकत्था, नचत भयौ ।
डम डमरु बजावै, बिरदनि गावै, भूउ नचावै, छबिन छयौ ॥२०७॥
किल किलकत चंडी, लहि निज खंडी, उमड़ि उमंडी, हरषति है ।
सँग लै बैतालनि, दै-दै तालनि, मज्जा-जालनि, करषति है ॥
जुग्गिननि जमातीं, हिय हरषातीं, खद-खद खातीं, माँसन कों ।
रुधिरन सों भरि-भरि, खप्पर धरि-धरि, नचतीं करि-करि, हासन कों२०८
बज्जत जय-डंका, गज्जत बंका, भज्जत लंका, लौं अरि गे ।
मन मानि अतंका, करि सत संका, सिंधु सपंका, तरि-तरि गे ॥
नृप करि इमि रारनि, लरि तरवारनि, मारि पमारनि, फते लई ।
लूटे बहु हय-गय, देत खलनि भय, जग में जय-जय, सुधुनि भई ॥२०९

(छप्पय)

जय जय जय धुनि, धन्य-धन्य गज्जिय छिति छज्जिय ।
फहरत सुजस-निसान, सान जय-दुंदुभि वज्जिय ॥
सोभहिं सुभट सपूत, खाइ तन घाइ अतुल्ले ।
बिमल बसंतहि पाइ, मनहु कल किंसुक फुल्ले ॥
तहँ 'पद्माकर' कवि बरन इमि, रन-उमंग सफजंग किय ।
नृप-मनि अनूप गिरि भूप जहँ, सुख-समूह सु फतूह लिय ॥२१०॥

(हरिगीतिका)

सुभ सुख-समूह फतूह लिय, हिय मंजु मोदन सों भरै ।
काली कपाली निस-दिना, नित नृपति की रक्षा करै ॥
पृथु-रित्ति नित्त सुवित्त दै, जग जित्ति कित्ति अनूप की ।
बर बरनिये बिरदावली, हिम्मतबहादुर भूप की ॥२११॥

इति कविपद्माकरविरचिता नृपहिम्मतबहादुरस्य विरुदावली समाप्ता

॥ शुभम् ॥

पद्माकर-पंचामृत

२—दधि

अथ उपमा अलंकार को लक्षण

उपमेय हु उपमान को, इक-सम धरम जु होइ ।
उपमा-वाचक पद मिलें, उपमा कहिये सोइ ॥ ७ ॥

पूर्णोपमा

उपमान'रु वाचक धरम, उपमेय हु जो कोइ ।
ये चारहु परसिद्ध जहँ, पूरन-उपमा सोइ ॥ ८ ॥

यथा—

सुभग सुधाधर-तुल्य मुख, मधुर सुधा-से बैन ।
कुच कठोर श्रीफल-सरिस, अरुन कमल-से नैन ॥ ९ ॥

लुप्तोपमा

इक द्वै तीन'रु चार को, जहाँ लोप पहिचान ।
यों सु पंचदस-भेद-जुत, लुप्तोपमा प्रमान ॥१०॥
वाचकलुप्ता यों समुझि, झख चख चंचल चारु ।
कही धर्मलुप्ता सु यों, ससि-सो वदन निहारु ॥११॥
सु उपमानलुप्ता गनहु, गज-सम गमन सुमंद ।
उपमेय - हु - लुप्ता यहै, अति उत्तम ज्यों चंद ॥१२॥
सु धरमवाचकलुप्त है, कंज-दृगनि लखि लेहु ।
उपमान'रु उपमेय बिन, सुक-सी सुंदर येहु ॥१३॥
उपमान'रु वाचक लुपत, मधुर कोकिला-तान ।
उपमेय हु अरु धर्म बिन, कंचन - लता - समान ॥१४॥
वाचक अरु उपमेय लुप, चपल चंचला देखु ।
उपमान हु अरु धर्म बिन, गज-सो गति अवरेखु ॥१५॥
उपमान'रु वाचक-धरम-रहित, सुनहु पिक-बान ।
उपमेय हु वाचक-धरम लुप्त, चंचला मान ॥१६॥

वाचक अरु उपमेय हु, उपमान हु को लोप।
समुझि मधुर मृदु कैलिया, कीन्हो तिहि पै कोप ॥१७॥
उपमेय हु उपमान अरु धर्म लुपत, इक जान।
किय अनार उन पै जु रिस, समुझी आप-समान ॥१८॥
पूरनलुमा है तहाँ, जहाँ चहुन को लोप।
जाहि निरखि सुक मंद हुव, ताहि लखहु करि चोप ॥१९॥

उपमा के भेद

सो श्रौती सब्दहि सुनत, जहँ वाचक को ज्ञान।
अर्थ निरूपै आरथी, द्वै बिधि उपमा जान ॥२०॥

आर्थी, यथा—

कमल-चोर दृग, तुव अधर बिद्रुम-रिपु निरधार।
कुच कोकन के बंधु हैं, तम के बादी बार ॥२१॥

मालोपमा

मालोपम उपमेय इक, ताके बहु उपमान।
ऊख-पियूष-मयूख-सो, इक तुव वचन-बिधान ॥२२॥

पुनर्यथा—

घन-से तम-से तार-से, अंजन की अनुहार।
अलि-से मावस-रैन-से, बाला तेरे बार ॥२३॥

रशनोपमा

रसनोपम उपमेय जहँ, होत जात उपमान।
सुभ सरूप के सम सुमति, सुमति-सरिस गुन-ज्ञान ॥२४॥

पुनर्यथा—

सुगुन-ज्ञान-सम उद्यम हु, उद्यम-सम फल जान।
फल-समान पुनि दान है, दान-सरिस सनमान ॥२५॥

अथ अनन्वय

सु अनन्वय इक बस्तुहीं, उपमेय हु उपमान।
तुम-से तुम, हम-से हमहिं, प्रभु-से प्रभु, नहि आन ॥२६॥

अथ उपमेयोपमा

उपमेयोपम परसपर, उपमेय हु उपमान।
बचन अमृत-सो अति मधुर, अमृत हु बचन-समान ॥२७॥

अथ पंचप्रतीप

सो प्रतीप उपमान कों, जहँ कीजै उपमेय।
मुख-सो सोभित सरद-ससि, कमल सुलोचन-सेय ॥२८॥

दूजो प्रतीप

अनआदर उपमान तें, जु उपमेय को होत।
नैन तजहु तुम निज गरब, यों वहु खंजन-गोत ॥२९॥

तीजो प्रतीप

उपमान हु उपमेय तें, आदर जबै लहै न।
सुछबि-गरब मति करु कमल, यों बनितन के नैन ॥३०॥

चतुर्थ प्रतीप

जु उपमान, उपमेय की समता - जोग न होत।
तुव सुंदर मुख-सो ससिहिं, क्यों भाषै कबि-गोत ॥३१॥

पंचम प्रतीप

लखि उपमेयहि को जहाँ, वृथा होत उपमान।
कछु न कंज लखि वदन, यों पंचप्रतीप प्रमान ॥३२॥

अथ रूपक

उपमेय'रु उपमान कों, इक करि कहत जु रूप।
सो रूपक द्वै भाँति को, मिलि अभेद - तद्रूप ॥३३॥

अधिक अभेद रूपक

अधिक न्यून सम दुहुन के, तीनहि तीन प्रकार ।
रूप धरें राजत लखौ, यहै जु रस-सिंगार ॥३४॥

न्यून तथा सम अभेद रूपक, यथा—

तुव दृग खंजन हैं सही, उड़ि न सकत तजि थान ।
तु ही उर-वसी उरबसी, राजत रूप-निधान ॥३५॥

अधिक तथा न्यून तद्रूप रूपक, यथा—

कर-सुरतरु सुर-वृच्छ तें अति, बिन माँगें देत ।
यह तिय बिय कंचन-लता, नहिं दृढ़-मूल-समेत ॥३६॥

सम तद्रूप रूपक, यथा—

सुधा-सहित मुख-ससि लख्यो, वृथा सरद को चंद ।
या बिधि तें रूपक दुवौ, कहे छ भाँति अमंद ॥३७॥

सावयव रूपक

अंग - अंग अनुरूपियतु, जहँ रूपक को रूप ।
वहै सावयव मानिये, रूपक नाम अनूप ॥३८॥

यथा—

चख-मख, बार-सिवार, मुख-सरसिज, गमन-मराल ।
छबि-तरंग, पानिप-सलिल, बाल - मानसर - ताल ॥३९॥

अथ परिणाम

सु परिनाम जहँ ह्वै बिषय, काज करै उपमान ।
वर बीरन के कर-कमल, वाहत वान-कृपान ॥४०॥

अथ द्विविध उल्लेख

द्वि उल्लेख इक कों जु वहु, वहु विधि समुझै जत्र ।
बिषय-भेद सों इकहि इक, वरनै वहु विधि तत्र ॥४१॥

यथा—

मल्लनि जम, कंस हु कहर, तियनि सु जान्यो काम ।
रिस में सिव, रस में रसिक, छबि में ससि, इक स्याम ॥४२॥

अथ स्मरण, भ्रांति, संदेह

स्मरन भ्रांति संदेह तिहुँ, लच्छन इनके नाम ।
आवति खबरि सु भौंह की, निरखि सरासन वाम ॥४३॥
नाचत मोर गयंद पै, निज मन समुझि पहार ।
मावस-निसि, कै सघन घन, कैधों सुगज - कुमार ॥४४॥

अथ शुद्धापह्नुति

सुद्धापन्हुति जहँ थपै, सुद्ध वस्तु छपि जात ।
यह न ससी, तौ है कहा ?, नभगंगा - जलजात ॥४५॥

पुनर्यथा—

सुद्धापन्हुति लै धरम, इक को अनत अरोप ।
यह न दवानल तौ कहा ?, जग-नासक सिव-कोप ॥४६॥

अथ हेत्वपह्नुति

हेतु अपन्हुति जुक्ति सों, इक को धरम छिपाय ।
और-विषै आरोपिये, यों बरनत कबिराय ॥४७॥

यथा—

ये नहिं फूल गुलाब के, दाहत हिय जु हमार ।
बिन घनस्याम अराम में, लागी दुसह दवार ॥४८॥

अथ पर्यस्तापह्नुति

पर्यस्त जु धर्मी - धरम, लै थपि औरै ठाम ।
है न सुधा सो सुधा, लै सुधा राम को नाम ॥४९॥

अथ भ्रांत्यपह्नुति

बच सों भ्रम पर को नसै, भ्रांति-अपन्हुति जान ।
दहत प्रान तन, बिष कहा ?, नहिं सखि बिरह-कृसान ॥५०॥

अथ छेकापह्नुति

साँच दुरावै जुक्ति सो, छेकापन्हुति पंथ ।
मोहि हलावत आपु हलि, कहा मीत ?, नहिं मंथ ॥५१॥

अथ कैतवापह्नुति

जहाँ और के ब्याज तें, करै जु कारज और ।
ताहि कैतवापन्हुती, बरनत कबि-सिरमौर ॥५२॥

यथा—

बजत बीन डफ बाँसुरी, रह्यो छाइ रस-राग ।
मिस गुलाल के तियन पै, पिय बरसत अनुराग ॥५३॥

अथ उत्प्रेक्षा

कीजे जहँ संभावना, बस्तु हेतु फल माह ।
उतप्रेक्षा ता सों कहत, जे सुकबिन के नाह ॥५४॥
द्विबिध बस्तु-उतप्रेक्ष गनु, प्रथम उक्तबिषयाहि ।
पुनि अनुक्तबिषया कही, दूजी जानहु ताहि ॥५५॥
द्वै-द्वै बिधि त्यों हेतु-फल, उतप्रेक्षा हिय ल्याहि ।
प्रथम सिद्धबिषया कही, पुनि असिद्धबिषयाहि ॥५६॥

उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा, अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा, यथा—

लसत चंद-बिच अंक, जनु नभ-सर-जलज सभृंग ।
सरद-ससी बरसत मनो, घन घनसार अभंग ॥५७॥

सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा, असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा, यथा—

समुझि पियहि जनु आन-रत, ता तें भौंहैं बंक।
तुव मुख-सो या कमल को, बैरी मनहु मृगांक ॥५८॥

सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा, असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा, यथा—

किये पीन कुच बिधि मनो, लंक लचहि के हेत।
सुभ मुख चहि जनु मेरु की, ससि प्रदच्छिना देत ॥५९॥

गम्योत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा-द्योतक जु पद, जहाँ कह्यो नहिं होइ।
अरथ करत में ल्याइये, गम्योत्प्रेक्षा सोइ ॥६०॥

यथा—

सुख समेटियतु भेटियतु, भली भाँति गुन-ज्ञान।
पैयतु है पारस परयौ, तहँ जहँ मिलत सुजान ॥६१॥

अथ रूपकातिशयोक्ति

उपमेयहि कों कहत जहँ, तजि सु-अर्थ उपमान।
अतिसयोक्ति-रूपक तहाँ, भाषत सुकवि सुजान ॥६२॥

यथा—

कनक-थली ऊपर लसै, कंचन-कलस बिसाल।
तहँ देखे द्वै द्वैज के चंद, बिराजत लाल ॥६३॥

अथ सापह्नवातिशयोक्ति

यहै अपन्हव-जुत जहाँ, सापन्हवा सु मान।
सु अलि कमल तेरे तनहिं, उर में कहत अजान ॥६४॥

अथ भेदकातिशयोक्ति

अतिसयोक्ति-भेदक, जु पद औरै बिहि स्तुति-काज।
यह कविता औरै जु सुनि, घूमत सुघर-समाज ॥६५॥

अथ संबंधातिशयोक्ति—(चौपाई)

संबंधातिसयोक्ति सु जानौ । जहँ अजोग में जोग बखानौ ॥
फबि फहरैं अति उच्च निसाना । जिन महँ अटकत बिबुध-बिमाना ॥६६॥

दूजी संबंधातिशयोक्ति

दूजी ताहि कहत कवि-लोगू । जहँहि जोग में भनत अजोगू ॥
अति सुंदर लखि मुख तिय तेरो । आदर हम न करत ससि केरो ॥६७॥

अथ अक्रमातिशयोक्ति—(दोहा)

अतिसयोक्ति अक्रम, जु सँग कारन-काज-बखान ।
कढ़त साथ ही म्यान तें असि, रिपु-तन तें प्रान ॥६८॥

अथ चपलातिशयोक्ति—(चौपाई)

यों चपलातिसयोकति छाजै । हेतु-प्रसंगहि तें सिधि काजै ॥
सुनत पयान-मुहूरत पी को । दरक्यो मुकत-हार तचि ती को ॥६९॥

अथ अत्यंतातिशयोक्ति

अत्यंतातिसयोकति चीतौ । जहँ पूरब-पर क्रम बिपरीतौ ॥
पहिलेई प्रभु आइ उबार्‌यो । पीछू गज हरि-नाम पुकार्‌यो ॥७०॥

अथ चतुर्विध तुल्ययोगिता

तुल्ययोगिता चौविध हेई । बर्न्यन को जहँ धर्म इकेई ॥
कमल गुलाब चकन की सैना । होत प्रफुल्लित नव तिय नैना ॥७१॥

दूजी तुल्ययोगिता

धर्म इकै जु अवर्न्यन केरौ । दूजी तुल्ययोगिता हेरौ ॥
मंजु मधुर वच सुनि तिहि ती के । दाख अमृत मधु लागहिं फीके ॥

तीजी तुल्ययोगिता

हित हु अहित महँ सम व्यवहारू । तुल्ययोगिता त्रिविध निहारू ॥७२॥

यथा—(दोहा)

हौं जानी वीसहु-बिसे, तो-बस भये गुपाल।
सौतिन कों अरु सखिन कों, देत देखियतु साल ॥७३॥

पुनर्यथा—

जो सींचत काटत जु है, जो पेरत जन कोइ।
जो रच्छत तिन सबन कों, ऊख मीठियै होइ ॥७४॥

चौथी तुल्ययोगिता,—(चौपाई)

बहुत बड़ेनि-सँग बर्न्येहु आनौ। चौथी तुल्ययोगिता जानौ॥
प्रबल सुरेस रमेस महेसा। सेस गनेस हु तुम हु नरेसा ॥७५॥

अथ दीपक—(दोहा)

दीपक बर्न्य अबर्न्य को, धर्म इकै जु लखाइ।
कमलन सों सर सोभिजै, तिय-तन जोवन पाइ ॥७६॥

अथ त्रिविध आवृत्ति-दीपक

दीपक की आवृत्ति में, आवृति-दीपक होत।
सो वह तीन प्रकार को, भाषत है कवि-गोत ॥७७॥

(चौपाई)

आवृत्ति-दीपक तीन प्रकारू। आवृति पद की प्रथम निहारू॥
दूजे आवृति अर्थहि केरी। त्रितिय दुहुन की आवृत्ति हेरी ॥७८॥

यथा—

पल कलपै कलपै पिय प्यारो। सोभित घन, बन लसत विहारो॥
धव प्रफुलित प्रफुलित कचनारौ। भ्रमत भ्रमर, मन भ्रमत हमारौ॥७९॥

अथ प्रतिवस्तूपमा—(दोहा)

उपमान'रु उपमेय पर, वाक्य दोय को जत्र।
धर्म इकै पद जुदेन महँ, प्रतिवस्तुपमा तत्र ॥८०॥

यथा—

राजत मुख मृदु बानि सों, लसत सुधा सों चंद ।
निर्झर सों नीको सु गिरि, मद सों भलो गयंद ॥८१॥

अथ दृष्टांत

जहाँ बिंब-प्रतिबिंब-सम, दुहूँ वाक्य को धर्म ।
ताहि कहत दृष्टांत हैं, जे कवि कविता-मर्म ॥८२॥

यथा—

निरखि रूप नँदलाल को, दृगनि रुचै नहिं आन ।
तजि पियूष कोऊ करत, कटु औषधि को पान ? ॥८३॥

पुनर्यथा—

रति इक रस की खानि है, तू ही कला-निधान ।
या बिधि और उदाहरन, लीज्यो समुझि सुजान ॥८४॥

अथ निदर्शना

जु सम-वाक्य जुग अरथ को, करत एकतारोप ।
सो सो पदनि निदर्सना, ताहि कहत करि चोप ॥८५॥

यथा—

जो मृदु बच दातार को, सु पुरट माँह सुवास ।
ससि में लसत जु जोन्ह-छबि, नर में सुमति-प्रकास ॥८६॥

दूजी निदर्शना

वर्न्य-धर्म जु अवर्न्य में, धरै जु वर्न्यहु माहि ।
धर्मो अवर्न्य हु को कहत, बिय निदर्सना ताहि ॥८७॥

यथा—

तुव बचनन की मधुरता, रही सुधा महँ छाइ ।
चारु चमक चल मीन की, नैननि गही बनाइ ॥८८॥

जु निज अवस्था सों करै, भलो-बुरो फल-बोध ।
सो सदर्थ-असदर्थ-जुत, यों निदर्सना-सोध ॥८९॥

सदर्थ निदर्सना, यथा—

दै सु फूल-फल-दल जु द्रुम, यह उपदेसत ज्ञान ।
लहि सुख-संपत्ति कीजिये, आये को सनमान ॥९०॥

असदर्थ निदर्सना, यथा—

दीप-जोति सिर धुनि धुमुकि, पौनहि सों घर होइ ।
यह उपदेसत सबन कों, कुस को हितू न कोइ ॥९१॥

पुनर्यथा—

घर-घर जाचक भीख-हित, कर ओड़त कछु देहु ।
यों धनिकन कों बोधहीं, न दिये को फल येहु ॥९२॥

अथ व्यतिरेक

जहँ अवर्न्य अरु बर्न्य में कछु बिसेष, व्यतिरेक ।
अधिक न्यून सम भेद सों, त्रिविध कहत कवि नेक ॥९३॥

अधिक, यथा—

खंजन-से दृग लसत पै, धरे बिसेष बिलास ।
तू रंभा-सी पै लह्यो, उहि सुरपुर में बास ॥९४॥

सम, यथा—

रस अनुराग-भरे दुहूँ, दुहुँ प्रफुलित दरसात ।
सब ही कों नीके लगत, लोचन अरु जलजात ॥९५॥

अथ सहोक्ति

सो सहोक्ति बहु-सँग भनै, जनरंजन के काज ।
हरिहि निरखि इक सँग छुटै, लोकलाज कुललाज ॥९६॥

अथ विनोक्ति

प्रस्तुत कछु विन हीन, कै कछु बिन छबि अधिकाइ ।
यों विनोक्ति द्वै बिधि कहत, 'पद्माकर' चित लाइ ।।९७।।

यथा—

विमल बिपुल सर सलिल-जुत, विन पंकज सोहै न ।
भली प्रीति बिन कपट की, देत सबनि चित-चैन ।।९८।।

अथ समासोक्ति

समासोक्ति प्रस्तुत-विषै, अप्रस्तुत को ज्ञान ।
कर पसारि ससि मालतिहि, परसत कला-निधान ।।९९।।

अथ परिकर

सो परिकर आसय-सहित, जहाँ बिसेषन ठान ।
आइ उबारहु बेगि मोहि, खग-वाहन भगवान ।।१००।।

अथ परिकरांकुर

साभिप्राय विसेष्य, तहँ परिकर-अंकुर होइ ।
देत अष्ट हू सिधिन कों, अष्टभुजो जो कोइ ।।१०१।।

अथ श्लेष

उपजत अर्थ अनेक जहँ, स्लेष कहावै सोइ ।
वर्न्य अवर्न्य'रु दुहून मिलि, तीन भाँति को होइ ।।१०२।।

अनेक-वर्ण्य श्लेष, यथा—

द्विज - तिय - तारक, पूतनामारन में अति धीर ।
काकोदर को दरप-हर, जय जदुपति रघुबीर ।।१०३।।

अनेक-अवर्ण्य श्लेष, यथा—

सगुन सभूषन सुभ सरस, सुचरन सुपद सराग ।
इमि कविता अरु कामिनी, लहै जु सो बड़भाग ।।१०४।।

अनेक-वर्ण्यावर्ण्य श्लेष, यथा—

भूमि धरै पावन प्रवल, नाग रहै ढिग वेस।
बड़े धीरधर सुरन महँ, सेस सुरेस व्रजेस ॥१०५॥

पुनर्यथा—

लियें सुचाल विसाल वर, समद सुरंग अवैन।
लोग कहैं वरने तुरग, मैं वरने तुव नैन ॥१०६॥

अथ अप्रस्तुतप्रशंसा

अप्रस्तुत विरतांत महँ, जहँ प्रस्तुत को ज्ञान।
अप्रस्तुतपरसंस सो, पंच प्रकार प्रमान ॥१०७॥
इक सारूप्य-निवंधना, विय सामान्य - निवंध।
बहुरि विसेष-निवंधना, कहि कवि रचत प्रवंध ॥१०८॥
चौथी हेतु-निवंधना, काज - निवंधन आन।
या विधि पंच प्रकार सों, ताहि कहत मतिवान ॥१०९॥

सारूप्य-निवंधना

प्रस्तुत अप्रस्तुत हु को, है जहँ धर्म समान।
सो सारूप्य-निवंधना, 'पद्माकर' ठिकठान ॥११०॥

यथा—

धन्य गनीजतु खगन महँ, चातक धरै सुधीर।
सक्र सिवाय सु और सों, नहिं जाचत है नीर ॥१११॥

पुनर्यथा—

भूख-विवस कृस-तन परयो, जद्यपि थकित-अवाज।
तदपि मत्त गजराज बिन, हनत न तृन मृगराज ॥११२॥

पुनर्यथा—

सूँड़ि बाँधि किय स्याम तन, ताही की अनुहार।
क्यों रासभ लै चलहिगो, गुरु गयंद को भार ॥११३॥

सामान्य-निबंधना

अप्रस्तुत सामान्य तें, प्रस्तुत फुरै बिसेष।
सो सामान्य-निबंधना, 'पद्माकर' अवरेख ॥११४॥

यथा—

बड़े प्रबल सों बैर करि, करत न सोच-विचार।
ते सोवत बारूद पर, पट में बाँधि अँगार ॥११५॥

विशेष-निबंधना

अप्रस्तुत सु बिसेष तें, जहँ सामान्य फुरैहि।
ताहि बिसेष-निबंधना, कविजन भाषत हैहि ॥११६॥

यथा—

काटि लेत तरु बाढ़ई, सूधे-सूधे जोइ।
बन में बाँके बृच्छ कों, काटत है नहिं कोइ ॥११७॥

कारण-निबंधना

अप्रस्तुत कारन हु तें, फुरै जु प्रस्तुत काज।
यों कारन - सु - निबंधना, भाषत हैं कबिराज ॥११८॥

यथा—

तुव अधरन के हित सुरनि, मथि लिय अमृत जु सार।
सु यह दुसह दुख सों अहै, अब लगि सिंधु सखार ॥११९॥

कार्य-निबंधना

अप्रस्तुत कारज हु तें, प्रस्तुत कारन-ज्ञान।
ता कों काज-निबंधना, 'पदमाकर' उर आन ॥१२०॥

यथा—

जो या तिय की गति निरखि, हंस हु तज्यो गुमान।
जा अँग की सुकुमारता, मालति होहि पखान ॥१२१॥

अथ प्रस्तुतांकुर

प्रस्तुत करि प्रस्तुत फुरै, प्रस्तुत-अंकुर होइ।
तजि कमलिनि अलि अनत कहुँ, तू आयो निसि खोइ ॥१२२॥

अथ द्विविध पर्यायोक्ति

पर्यायोक्ति सुगम्य जहँ, फुरै बचन रचनान।
साधत मिसि करि काज को, यों द्वै बिधि उर आन ॥१२३॥

यथा—

चातक की धुनि कै रही, मिलहु ताहि तित जाइ।
चलत पाहुनी को जु हरि, छींकि लई समुहाइ ॥१२४॥

अथ त्रिविध व्याजस्तुति

निंदा में स्तुति है जहाँ, स्तुति में निंदा अत्र।
अन्य-स्तुति में अन्य की, स्तुति भाषत हैं तत्र ॥१२५॥
या विधि तीन प्रकार की, व्याजस्तुति पहिचान।
तिन के कहत उदाहरन, 'पद्माकर' ठिकठान ॥१२६॥

निंदा में स्तुति, यथा—

भसम जटा विष अहि सहित, गंग कियो तैं मोहि।
भोगी तें जोगी कियो, कहा कहौं अब तोहि ॥१२७॥

स्तुति में निंदा, यथा—

हितू न तो-सी और तिय, पियहि मनावन जाइ।
सहे जु तू मो-हित सखी, नख-दंतन के घाइ ॥१२८॥

अन्य-स्तुति में अन्य-स्तुति, यथा—

या वृंदावन - बिपिन में, बड़भागी मम कान।
जिन मुरली की तान सुनि, किय हरषित अँग आन ॥१२९॥

अथ व्याजनिंदा

जहँ इक की निंदा कियें, निंद्य और हू होत।
कहत व्याजनिंदा तहाँ, जे कवियन के गोत ॥१३०॥

यथा—

जु हरि हमारो जीव निजु, ताहि लै चल्यो दूर।
क्रूर सु जिहि इहि क्रूर को, नाम धस्यो अक्रूर ॥१३१॥

अथ त्रिविध आक्षेप

करब निषेध सुउक्ति को, यहै प्रथम आक्षेप।
निहनहु बिधु अथवा अहै, इत चंदन को लेप ॥१३२॥

दूजो आक्षेप

झुठ निषेध-आछेप भन, वहै निषेधाभास।
हौं न सखी, पै तुम बिना भरति भावती स्वास ॥१३३॥

तीजो आक्षेप

सु आछेप जहँ बिधि प्रगट, दुस्यो निषेध बखान।
करहु तितहि सुख, आइ इत दुखनि देहु दुखियान ॥१३४॥

अथ विरोधाभास

कहत विरोधाभास तहँ, झूठो जहाँ विरोध।
जहँ असोक तहँ सोक-वस, है न सियहि निज बोध ॥१३५॥

पुनर्यथा—

बैन सुन्यो जब तें मधुर, तब तें सुनत न बैन।
नैन लगे जब तें लखो, तब तें लगत न नैन ॥१३६॥

अथ षट्विध विभावना—(सोरठा)

सो विभावना जान, कारन बिन कारज जहाँ।
बिन हु सु अंजन-दान, कजरारे दृग देखियतु ॥१३७॥

दूजी विभावना—(दोहा)

काज हेतु असमर्थ तें, बिय विभावना अंक।
लहि सरोज के अंकुरनि, सौतिन कियहु ससंक ॥१३८॥

तीजी विभावना

प्रतिबंधक के होत हू काज, बिभावन सोइ।
तदपि ताप सरसत, जदपि दृग बरसत है तोइ ॥१३९॥

चौथी विभावना

काज अकारन तें जहाँ, सो बिभावना होइ।
कनक-लता तें ऊपजे, श्रीफल के फल दोइ ॥१४०॥

पाँचवीं विभावना

कारज हेतु विरुद्ध तें, सु बिभावना बिचार।
सिय-हिय सीतल भो, लगें जरत लंक की झार ॥१४१॥

छठी विभावना

होत जु कारन काज तें, सु विभावना गनाउ।
सुदृग - सरोजन तें भयो, छबि-पानिप-दरियाउ ॥१४२॥

अथ विशेषोक्ति

बिसेषोक्ति कारन प्रबल, ता तें काज जहाँ न।
निरखि आन-रत कान्ह कों, तदपि न तिय किय मान ॥१४३॥

अथ असंभव

सु असंभव, जु असंभवित कारज भयो दिखाइ।
यह को जानत हो जु, कपि ऐहै लंका लाइ ॥१४४॥

अथ त्रिविध असंगति

सु असंगति कारन कहूँ, कारज औरै ठाहिं।
तिय उरजनि नख-छत लगे, विथा सौति-उर माहिं ॥१४५॥

दूजी असंगति

काज अनत को अनत जहँ, यहौ असंगति जान।
दिय अंजन अधरान कत, दृगनि खवाये पान ॥१४६॥

तीजी असंगति

जु कछु कियो आरंभ तहँ, ता विरुद्ध किय काज।
यहौ असंगति तीसरी, 'पद्माकर' अनदाज ॥१४७॥

यथा—

यह ऊलट का सों कहौं, निकट सुनाइ कहै न।
आये जीवन दैन घन, लगे सु जीवन लैन ॥१४८॥

अथ त्रिविध विषम

सु विषम अनमिल दोय को, जहँ बरनन दरसात।
कहाँ नाम श्रीराम को, कहाँ काम की बात ॥१४९॥

दूजो विषम

विषम जु उपजै हेतु तें, काज और ही रंग।
गोरे रँग ओरे सु दृग, भये अरुन अनभंग ॥१५०॥

तीजो विषम

विषम भले उद्योग तें, जहाँ बुरो फल होत।
छिरकत नीर गुलाब को, हुव तन-ताप-उदोत ॥१५१॥

अथ त्रिविध सम

जथाजोग-सम बरनिवो, सम भाषत कवि लोग।
कुबजा को कूबर मधुप, यहै त्रिभंगिहि जोग ॥१५२॥

दूजो सम

कारन को गुन-काज में, जहँ पैये सम सोइ।
सिय जु दुसह दुख सहि लियो, सुता भूमि की होइ ॥१५३॥

तीजो सम

सम श्रम बिनु सिधि काज की, जतन करत है जाइ।
जाहि मिलन सिय सजि चली, मिल्यो सु आपुहि आइ॥१५४॥

अथ विचित्र

सो विचित्र फल चहि जु कछु, जतन करै विपरीत।
अमर होन कौं समर में, जूझत पुरुष पुनीत॥१५५॥

अथ द्विविध अधिक

अधिक सु अधिक अधार तें, जु आधेय अधिकाय।
अष्टादस पटचारि में, हरि-चरित्र न समाय॥१५६॥

दूजो अधिक

अधिक अधिक आधेय तें, जहाँ अधिक आधार।
है त्रिभुवन जा मे, सु प्रभु सोवत सिंधु-मझार॥१५७॥

अथ द्विविध अल्प

अलप अलप आधेय तें, जु लघु अधार लखाइ।
छला छिगुनिया-छोर को, भो भुज-भूषन जाइ॥१५८॥

दूजो अल्प

अलप अलप आधार तें, जहँ आधेय बखान।
अति सूछम जो मन तहाँ, ता हू तें लघु मान॥१५९॥

अथ त्रिविध अन्योन्य

सो अन्योन्य जु परसपर, करै जु भल उपकार।
सेना सों सोभित नृपति, नृप सों सैन अपार॥१६०॥

दूजो अन्योन्य

अन्योन्य हू अपकार जहँ, अन्योन्य अवलोक।
तिय जु हनत ही जाहि, सो तिय कों दहत असोक॥१६१॥

तीजो अन्योन्य

रहै जु दुहुँ दुहुँ में, तहाँ सो अन्योन्य-बिलास।
तिय को मन नँदलाल में, तिय मन में नँदलाल ॥१६२॥

अथ त्रिविध विशेष

जहँ जाहिर आधार बिन है आधेय, बिसेष।
अलप जु कटि, तहँ किंकिनी करत सुधुनि अवरेख ॥१६३॥

दूजो विशेष

बिय बिसेष इक बस्तु जहँ, बहु थल बरनी जाति।
घर - बाहिर अध-ऊरध हु, वहै तिया दरसाति ॥१६४॥

तीजो विशेष

लघुहि अरंभ अलभ्य को लाभ, बिसेष बखान।
पाइ चुके फल चारि हू, करत गंग - जल पान ॥१६५॥

अथ द्विविध व्याघात

सु व्याघात करता जु जस, सु विरुधकारी होइ।
बरषत जु ससि पियूष, सो विष बरषत मोहि जोइ ॥१६६॥

पुनर्यथा—

दृग सों जर्‌यो जु काम, तिहि दृग सों ज्यावत जोइ।
सिव हू की जितवार तिय, ताहि भजौ सब कोइ ॥१६७॥

दूजो व्याघात

हेतु कौन हू तें जु कछु, कोऊ थपै जु बात।
और जु ता तें जहँ बिरुध, साधै तहँ व्याघात ॥१६८॥

यथा—

दुख - दरिद्र की संक सों, लोभी सुधन न देत।
दात हु ताही संक सों, सरबस देत सहेत ॥१६९॥

अथ द्विविध कारणमाला

हुव जु हेतु तें काज सो, अन्य काज को हेतु।
यहि क्रम गुंफन है जहाँ, कारनमाला चेतु ॥१७०॥

यथा—

सतसँग तें बैराग है, ता तें मन-संतोष।
संतोषहि तें ज्ञा है, होव ज्ञान तें मोष ॥१७१॥

दूजी कारणमाला

प्रथम काज पुनि हेतु सो, काज और को जत्र।
या क्रम सों गुंफन, सु बिय कारणमाला तत्र ॥१७२॥

यथा—

अन्नमूल घन, घनन को मूल, जज्ञ अभिराम।
ताको धन, धन को धरम, धरम-मूल हरि-नाम ॥१७३॥

पुनर्यथा—

है सुख-संपत्ति सुमति तें, सुमति पढ़े तें होइ।
पढ़व होत अभ्यास तें, ताहि तजहु मति कोइ ॥१७४॥

अथ एकावली

गह्य तजव अर्थालि को जहँ, एकावलि सोय।
गिरि पै वृप, वृष पै जु सिव, सिव पै सुरसरि-तोय ॥१७५॥

दूजो लक्षण

पूरव गहहि जु उत्तरहि, उत्तर तजि पूरव्व।
गहै पदारथ और यों, एकावलि कहि सव्व ॥१७६॥

यथा—

कान्ह कहा अधरान में, तिय-मुख लाग्यो ठीक।
तिय-मुख में लागे पलक, पलकनि लागी पीक ॥१७७॥

अथ मालादीपक

मिलि दीपक एकावली, मालादीपक होत।
मनि-मंदिर में तिय लसै, तिय में सु छबि-उदोत ॥१७८॥

अथ त्रिविध सार

गुन ही सों कै दोष सों, कै दुहुँ सों जिहि थान।
एक-एक तें अधिक मनि, त्रिविध सार यों जान ॥१७९॥

गुण सों, यथा—

मखमल तें कोमल महा, कदलि-गरभ को पात।
ता हू तें कोमल अधिक, प्यारी तेरो गात ॥१८०॥

दोष सों, यथा—

बहु आयुध के घात तें, दुसह बज्र को पात।
ता के पात हु तें दुसह, खल-मुख-निकसी बात ॥१८१॥

गुण अरु दोष दोउन सों, यथा—

कठिन काठ तें अति कठिन, या जग में पाषान।
पाषान हु तें कठिन ये, तेरे उरज सुजान ॥१८२॥

अथ यथासंख्य

जहँ क्रम सों वर्नितन को, क्रम सो अन्वय घाल।
यथासंख्य कच कुच नयन, कुटिल कठोर बिसाल ॥१८३॥

अथ द्विविध पर्याय

सु पर्याय क्रम सों जु इक, आश्रय धरै अनेक।
हय तें उतरि गयंद पै, चढ्यो लरहि भट एक ॥१८४॥

दूजो पर्याय

बिय पर्याय, अनेक को क्रम सों आश्रय एक।
जा हिय में अबिवेक तो, छायो तहाँ बिवेक ॥१८५॥

अथ द्विविध परिवृत्ति

दै थोरो लिय अधिक जहँ, तहँ परिवृत्ति उचार।
इक धतूर-फल दै सिवहिं, लिय अमोघ फल चार ॥१८६॥

दूजी परिवृत्ति

दै बहु थोरो लेत जहँ, परिवृत्ति कहिये ताहि।
तन मन धन दै, पीक की ल्याये लीक बिसाहि ॥१८७॥

अथ परिसंख्या

करि निषेध इक वस्तु को, थपै जु इक थल माह।
परिसंख्या ता सों कहत, जे सुकविन के नाह ॥१८८॥

यथा—

नृपति राम के राज में, है न सूल दुख-मूल।
लखियतु चित्रन में लिख्यो, संकर के कर सूल ॥१८९॥

पुनर्यथा—

केसन ही में कुटिलई, संचारिन में संक।
लखौ राम के राज में, इक ससि माहिं कलंक ॥१९०॥

अथ विकल्प

द्वै सम बलजुत को बिरुध, जहँ सु विकल्प बखान।
रे रावन गहु राम को सरनो, कै धनु - बान ॥१९१॥

पुनर्यथा—

करु सुकेलि खुलि कै भटू, कै तजि बैठु बिलास।
द्वै-द्वै सधैं न, मीत सों प्रीति, सास की त्रास ॥१९२॥

अथ द्विविध समुच्चय

सु समुच्चय बहु भाव जहँ, इकहि भजत इक ठाहिं।
तुहि लखि सब के चख चलहिं, चकहिं सकहिं ललचाहिं॥१९३॥

पुनर्यथा—

हे हरि तुम बिन राधिका, सेज परी अकुलाति।
तरफराति तमकति तचति, सुसुकति सूखति जाति ॥१९४॥

दूजो समुच्चय

बहु मिलि बहसि करै जु इक काज, समुच्चय जान।
कुमति कुसंगति काम-केलि, ये बौरावत प्रान ॥१९५॥

अथ कारकदीपक

क्रम सो इक में बहु क्रिया, कारकदीपक मान।
उलटति सुलटति करन सों, पट सों पोंछति पान ॥१९६॥

अथ समाधि

और हेतु मिलि सुकर जहँ काज, समाधि बखान।
तियहिं मनावन पिय लग्यो, तब ही घन घहरान ॥१९७॥

अथ प्रत्यनीक

प्रत्यनीक दुख देत जहँ, सु अरि-पच्छ को कोइ।
जीते घन गिरिधर जु तुम, ते दाहत मोहिं जोइ ॥१९८॥

अथ काव्यार्थापत्ति

वह जु कियो तौ यह कहा, यों काव्यार्थापत्ति।
जु हर-धनुष तोर्‍यो, तुमहिं कहा लंक रघुपत्ति ॥१९९॥

अथ काव्यलिंग

अर्थ समर्थहि जोग जो, करै समर्थन तास।
काव्यलिंग ता सों कहत, जिन के सुमति-प्रकास ॥२००॥

दूजो लक्षण

हेतु पदारथ लहि कहूँ, कहुँ वाक्यारथ पाइ।
करै समर्थन अर्थ को, काव्यलिंग सो आइ ॥२०१॥

पदार्थ-हेतुक, यथा—

बृथा बिरस बातैं करति, लेति न हरि को नाम।
यह न आचरज है कछू, रसना तेरो नाम ॥२०२॥

काव्यार्थ-हेतुक, यथा—

अब न मोहि डर बिघन को, करत कौन हू काज।
गन-नायक गौरी-तनय, भयो सहायक आज ॥२०३॥

अथ द्विविध अर्थांतरन्यास

जहँ सामान्य बिसेष को, करै समर्थन अर्थ।
है अर्थारन्यास कहि, अर्थहि उलटि समर्थ ॥२०४॥

यथा—

हरि ल्यायो हरि कलपतरु, जीति इंद्र के ताहिं।
यह न आचरज, बड़ेन को है दुर्लभ कछु नाहिं ॥२०५॥

पुनर्यथा—

नृप बलि बामन को दियो, तन त्रिलोक के ताहिं।
अति दुरलभ जग में तिनहिं, है अदेय कछु नाहिं ॥२०६॥

दूजो, यथा—

अति लघु हू सतसंग तें, लहत उच्च पदवीस।
कीटासु लहि सँग सुमन को, चढ़त ईस के सीस ॥२०७॥

पुनर्यथा—

जे छोड़त कुल आपनो, ते पावत बहु खेद।
लखहु बंस तजि बासुरिन, लहै लोह सों छेद ॥२०८॥

अथ विकस्वर

प्रथम बिसेप बखान करि, पुनि सामान्य उचार।
फिरि बिसेप सुसमर्थिबे, सुविकस्वर उर धार ॥२०९॥

बड़ी बिपति पंडवसुतनि, खोई हारि सुवाम।
दुख न गनत कछु सतपुरुष, ज्यों हरिचँद नल राम ॥२१०॥

अथ प्रौढ़ोक्ति

जु न कारन उतकर्ष को, कियो सु कलपित हेतु।
'पद्माकर' कवि कहत इमि, प्रौढ़ोकति है चेतु ॥२११॥

यथा—

ईस सीस के चंद सों, अमल आठ हू जाम।
सुरसरि-तट के बरफ तें, धवल सुजस तुव राम ॥२१२॥

अथ संभावना

जु यों होइ तो होइ यों, यह संभावन जान।
लहतो जु मुख अनंत तौ, कहतो अमित पुरान ॥२१३॥

पुनर्यथा—

जु कहुँ पावतो आप में, द्वै अरविंद अमंद।
तौ तेरे मुखचंद की, उपमा लहतो चंद ॥२१४॥

अथ मिथ्याध्यवसिति

मिथ्याध्यवसिति अनृत-सिधि-हित, भनि मिथ्या आन।
जो आँजै नभ-कुसुम-रस, लखै सु अहि के कान ॥२१५॥

अथ ललित

कहहि जोग प्रस्तुत-विषै जु कछु, कहै नहिं जाहि।
कहै तासु प्रतिबिंब कछु, ललित कहीजतु ताहि ॥२१६॥

यथा—

तब न सीख मानी भटू, कियो विचार न कोइ।
चह्यो चहत फल अमृत को, विष-बीजन कों बोइ ॥२१७॥

अथ त्रिविध प्रहर्षण

वंछित-फल-सिधि जतन बिन, प्रथम प्रहर्षन होइ ।
चल्यहु परोसी कान्ह कों, सौंपि चितचही जोइ ॥२१८॥

दूजो प्रहर्षण

सु प्रहर्षन सिधि अर्थ की, वंछित तें अधिकारि ।
इक फल चहि पूजत सिवहिं, तुरत लहे फल चारि ॥२१९॥

तीजो प्रहर्षण

जा हित जतन सु ताहि तें मिलै, प्रहर्षन गाइ ।
मंत्र वसीकर बूझतहि, सुवस भयो पिय आइ ॥२२०॥

अथ विषाद

जु विपरीत चित-चाह तें, ताको मिलब जहाँहिं ।
कहत विषादन नाम को, अलंकार तिहि ठाहिं ॥२२१॥

यथा—

हौं सोई सखि सुपन में, मनभावन के पास ।
छोर छरा को छुवत ही, आनि जगायो सास ॥२२२॥

अथ उल्लास

जु गुन-दोष तें और के, थपै अनत गुन-दोष ।
ताहि कहत उल्लास कवि, पाइ हिये संतोष ॥२२३॥

गुण तें गुण, यथा—

ये सखि सुंदर स्याम की, लखि मुख-सोभा-साज ।
दीरघताई को जु फल, दृगनि लह्योई आज ॥२२४॥

दोष तें दोष, यथा—

मनमोहन कों आवतहि, कियो सुभग सनमान ।
लखि अंजन अधरान में, गोरी गह्यो गुमान ॥२२५॥

दोष तें गुण, यथा—

जाचक लाभ लह्यो यहै, क्रूर कटक में जाइ।
पोइस-धक्का धूलि तें, आयो प्रान बचाइ ॥२२६॥

गुण तें दोष, यथा—

जिन चाख्यो तिय-अधर, तिन पाई सुधा अपार।
बृथा मूढ़ देवनि मथ्यो, श्रम-हित पारावार ॥२२७॥

पुनर्यथा—

जिन न आदर्यो तुहि, गुनी ! वेई मूढ़ महान।
सभा सज्जनन की जहाँ, तेरोई सनमान ॥२२८॥

अथ अवज्ञा

जु गुन-दोष कछु और को, औरै जहाँ न होय।
सु अवज्ञा सर-सिंधु में, चातक लहत न तोय ॥२२९॥

दूजो, यथा—

डारन में जु करील को, उलहत इको न पात।
ता को दोष बसंत को, कछु न कह्योई जात ॥२३०॥

अथ अनुज्ञा

दोष चहै मन मानि गुन, सु अनुज्ञा ठहराइ।
होइ कलंक, निसंक तौ मिलहुँ मोहनै जाइ ॥२३१॥

अथ द्विविध लेश

लेस-अलंकृति दोइ विधि, है जहँ गुन में दोष।
दोषहि में गुन होत यों, कहत सुकवि लहि तोष ॥२३२॥

यथा—

कैद होत सुक-सारिका, मधुरी बानि उचारि।
कागा परत न बंध में, श्रुति-कटु सबद पुकारि ॥२३३॥

अथ मुद्रा

प्रकृत अरथ पर-पद जहाँ, सूच्य अरथ के ताहिं ।
सूचन करै सु होत है, मुद्राभरन तहाँहि ॥२३४॥

यथा—

तो सों रूसि रह्यो जु हो, ब्रजरसिकन को राय ।
हौं दोहा कहि वेग ही, ल्याई ताहि मनाय ॥२३५॥

अथ रत्नावली

रत्नावलि क्रम सों कहव, प्रकृत पदारथ - वृंद ।
रवि-ससि-कुज-बुध-गुरु-गुननि लै, विधि रच्यो नरिंद ।२३६॥

अथ तद्गुण

तजि निज गुन गुन और को गहै जु, तद्गुन सोइ ।
माल मालती की हिये, सोनजुही-दुति होइ ॥२३७॥

अथ द्विविध पूर्वरूप

पूरवरूप गयो सु गुन, फेरि लहै कर लेत ।
हीरा भो मानिक-बरन, हँसतहि भयो सु सेत ॥२३८॥

दूजो पूर्वरूप

वस्तु नसे हु पिछिली दसा, दुजो सु पूरवरूप ।
अथये हू ससि, हँसनि की छाई जोन्ह अनूप ॥२३९॥

अथ अतद्गुण

गहै न संगति के गुनहिं, सु अतद्गुन ठहराइ ।
विष-विहीन पन्नग न हुव, विषहर-मनि-सँग पाइ ॥२४०॥

अथ अनुगुण

संगति तें पूरव जु गुन, बढ़ै सु अनुगुन आइ ।
मानिक-मनि करतल परसि, अति ही अरुन लखाइ ॥२४१॥

अथ मीलित

सो मीलत सादस्य तें, भेद न जान्यो जाइ।
अरुन अधर में पीक की लीक, न परति लखाइ ॥२४२॥

अथ सामान्य

सु सामान्य सादस्य तें, समुझि विसेष परै न।
दुरी चित्रपुतरीन में तिय, पिय ताहि लहै न ॥२४३॥

अथ उन्मीलित

भेद फुरै मीलित-बिषै, उन्मीलित चित चेप।
समझो परत सुगंध तें, तन केसर को लेप ॥२४४॥

अथ विशेषक

सु विसेपक सामान्य तें, जहँ बिसेष को ज्ञान।
कागन में मृदुबानि तें, मैं पिक लियो पिछान ॥२४५॥

अथ गूढ़ोत्तर

गूढ़ोत्तर उत्तर जहाँ, साभिप्राय उचार।
बसौ पथिक इत आजु ही, आगे नगर उजार ॥२४६॥

अथ द्विविध चित्र

चित्र वचन जो प्रश्न को, उत्तर वहै प्रकास।
को कहिये निसि में दुखी ?, कौन नौल तिय-श्वास ?॥२४७॥

दूजो चित्र

उत्तर इक बहु प्रश्न को चित्र, कहौ को स्याम ?
कौन जु रिपु छत्रियन को ?, मूसलधर को ? राम ॥२४८॥

अथ सूक्ष्म

सूछम समुझि परासयहि, ईहा साभिप्राय।
कर जोरत लखि हरिहि तिय, लिय कज्जल दृग लाय ॥२४९॥

अथ पिहित

पिहित समुझि पर-वृत्त जहँ, समुझावै करि काज।
लखि भोरहि पिय कों जु तिय, मुकुर दिखायो आज ॥२५०॥

अथ व्याजोक्ति

व्याजोकति आकार जहँ दुरै, हेतु करि आन।
भली न घर केतकि लगै, उर कंटक अंगान ॥२५१॥

अथ गूढ़ोक्ति

गूढ़ोकति मिस और के, औरहि देइ जनाइ।
घर सूनो डर चोर को, करिये लाल सहाइ ॥२५२॥

अथ विवृतोक्ति

विवृतोकति प्रगटै जु कवि, अरथ स्लेप सों गूढ़।
तजि बिषाद कंपादि गुरु, भजु हरि-पद मन मूढ़ ॥२५३॥

पुनर्यथा—

चलि देखहु इक गोप की नारी, विकल सिवाइ।
यों कहि सखि तिय-ढिग हरिहि, ल्याईं वैद बनाइ ॥२५४॥

पुनर्यथा—

तजहु निकुंजनि इत कढ़त, जब कब स्याह भुजंग।
यों कहि सखि सिख दै सबनि, रखी चतुर तिय-संग ॥२५५॥

अथ युक्ति

जुक्ति क्रिया करि जुक्ति की, मरम दुरावै कोय।
प्रिय लखि पुलकी सखिन में, लगी सु छिरकन तोय ॥२५६॥

अथ लोकोक्ति

लोकोकति, जहँ लोक की कहनावति ठहराउ।
राजा करै सु न्याउ है, पासा परै सु दाउ ॥२५७॥

अथ छेकोक्ति

छेकोकति, लोकोक्ति में गर्भित अरथ जु आन।
जूठो खात सु मीठ कों, यहै बात ठिकठान ॥२५८॥

अथ वक्रोक्ति

स्लेषहि सों कै काकु सों, और अरथ के ताहिं।
कलपन कीन्हें होत है, बक्रोकति ही ठाहिं ॥२५९॥

श्लेष सों, यथा—

ननदी ढिग, जु नदी नहीं, बड़ी बावरी बेस।
हौं न बावरी, को कहत, है न बावरी, देस ॥२६०॥

काकु सों, यथा—

गने जात हौ साँवरे, सब साधुन मे साधु।
सौहैं सौहैं खात कस, तुम न कियो अपराध ॥२६१॥

अथ स्वभावोक्ति

स्वभावोक्ति बरनत जहाँ, केवल जाति-सुभाव।
फरकत फाँदत फिरत फिरि, तुव तुरंग रघुराव ॥२६२॥

अथ भाविक

भाविक भूत भविष्य जहँ, करि परतच्छ बखान।
नृपहि सीम के समर में, फते दई भगवान ॥२६३॥

भूत, यथा—

दलनि दबाई ही जु तुम, हनहि दसानन-गोत।
लखहु राम वह आज लौं, धकधक धरवो होत ॥२६४॥

भविष्य, यथा—

गहन विपिन गिरि गैल के, जे गढ़ दृढ़ भरपूर।
राम रावरो दल चलत, हौं देखत चकचूर ॥२६५॥

अथ द्विविध उदात्त

अति उत्तम कछु वस्तु, सो है काहू को अंग।
कै समृद्धि अँग आन की, द्विविध उदात अभंग ॥२६६॥

प्रथम, यथा—

करत भये जा के तरे, राधा-कृस्न-विहार।
सो न होइ क्यों तरुन को वंसीवट सिंगार ॥२६७॥

दूजो, यथा—

मनिमय-दर्पन महल में, थल-थल परी लखाइ।
विप्र सुदामा तत्व तें जानी जोइ, बखाइ ॥२६८॥

अथ अत्युक्ति

जहँ उदारता-सूरतादिक को करै बखान।
अदभुत झूठ लिये तहाँ, सो अत्युक्ति पहिचान ॥२६९॥

यथा—

गनत न कछु पारस पदम, चिंतामनि के ताहिं।
निदरत मेरु कुबेर कों, तुव जाचक महि माहिं ॥२७०॥

दूजो, यथा—

इते उच्च सैलनि चढ़े, तुव डर अरि सकलत्र।
तोरत कंपित करन सों, मुकता समुझि नछत्र ॥२७१॥

अथ निरुक्ति

जहाँ नाम के जोग तें, कियो अरथ कछु आन।
तहाँ निरुक्ति बखानहीं, कवि पंडित मतिमान ॥२७२॥

यथा—

रखत न हित कहुँ काहु सों, बन-बन करत विहार।
यहै समुझि विधि ने कियो, मोहन नाम तुम्हार ॥२७३॥

अथ प्रतिषेध

जो प्रसिद्ध प्रतिषेध है, ता को बहुरि निषेध।
अभिप्राय - हित ठानिबो, यहै समुझ प्रतिषेध ॥२७४॥

यथा—

छुटी न गाँठि जु राम सों, तियनि कह्यो तिहि ठाहिं।
सिय-कंकन को छोरिबो, धनुष तोरिबो नाहिं ॥२७५॥

पुनर्यथा—

अंगद कहि दसबदन सों, यह न चोरिबो नारि।
बर बानर सों राम-सँग, प्रान-हरनि है रारि ॥२७६॥

पुनर्यथा—

रच्यो न मधु-मिश्री हु तें, सु पुनि सुधा तें नाहिं।
लै अधरन तें मधुरता, भरी सु अधरन माहिं ॥२७७॥

अथ विधि

विधि जु सिद्ध अर्थहि बहुरि, सिद्ध कीजियतु जित्त।
मंद सु मंद सभान में, पंडित सो पंडित्त ॥२७८॥

अथ द्विविध हेतु

हेतु, हेतुमत साथ ही हेतु कह्यो जिहि ठाम।
जगत जियावन कों नये, ये उनये घनस्याम ॥२७९॥

दूजो हेतु

इकता कारज हेतु की, हेतु कहत सु कविंद।
परम पदारथ चार हू, श्रीराधा - गोविंद ॥२८०॥

इति श्रीपद्माभरणे अर्थालंकारप्रकरणं समाप्तम्।

अथ पंचदश अलंकार-प्रकरण

(दोहा)

इक रसवत पुनि प्रेय गनि, ऊर्जस्वित ठहराउ।
बहुरि समाहित, चार ये अलंकार चित ल्याउ ॥२८१॥
भावोदय पुनि भावसँधि, भावसबलता और।
अलंकार ये तीन हू, बरनत कवि-सिरमौर ॥२८२॥
जग प्रमान जे आठ हैं, तेऊ भूषन जान।
कहि प्रतच्छ अनुमान पुनि, पुनि उपमान बखान ॥२८३॥
सबद'रु अर्थापत्ति पुनि, अनुपलब्धि चित देहु।
पुनि ऐतिह्य'रु संभव हु, इन हू कों गनि लेहु ॥२८४॥
इहि विधि पंद्रह और ये, अलंकार सब ठौर।
कविन बखाने बेस हैं, निज-निज मति की दौर ॥२८५॥
इनके लच्छन लच्छ सब, जुदे-जुदे समुझाइ।
'पद्माकर' कवि कहत है, गुरु गनेस कों ध्याइ ॥२८६॥

अथ रसवत

घर बिभाव अनुभाव अरु, संचारिन सों जत्र।
व्यंजत थाई भाव जो, रस कहियतु है तत्र ॥२८७॥
सो रस जहँ अँग और को, है रसवत तिहि ठाम।
अरि प्रचंड दसमुख हन्यो, रे मन सुमिरु सु राम ॥२८८॥

यहाँ राम-विषयिनी रति,-भाव को अंग रौद्र रस भयो अर जहाँ काहू रस को अंग कौन हू रस होइ तहाँ रसवत।

यथा—

जिहि राखी ब्रजमंडली, जु गिरि सुकर पर छाइ।
तजि गुमान ता सों भटू, मिलौ हिये हरषाइ ॥२८९॥

यहाँ दयावीर रस श्रृंगार को अंग भयो यों और हू जानिये।

अथ प्रेयस

भाव अंग रस-भाव को जहँ, तहँ प्रेयस ठान।
कब लखिहौं इन दृगन सों, वा मुख की मुसक्यान ॥२९०॥
यहाँ शृंगार रस को चिंता व्यभिचारी भाव अंग भयो।

भाव को भाव अंग, यथा—

प्रभु-पद-सौंह करें कहत, वाहि तुच्छ इक तीर।
लखत इंद्रजित कों हनहुँ, तौ मैं लछमन बीर ॥२९१॥
यहाँ गर्व व्यभिचारी भाव क्रोध स्थायी भाव को अंग भयो।

अथ ऊर्जस्वित

अनुचित कर्महि तें जहाँ काज, सु रस को भाव।
रसाभास सो प्रथम, विय भाव सु वस रस गाव ॥२९२॥

रसाभास

रसाभास अनुचित करम, करब अजोग्य-बिलास।
हास्य करब गुरु निगम को, सुत पितु सों रन नास ॥२९३॥

भावभास

जु रिपु सराहै सुरिपु कों, लज्जा गनिकनि माहिं।
कवि पंडित वर्नन करत, भावाभास तहाँहि ॥२९४॥
ये दुहुँ जहँ अँग और के, सु ऊर्जस्वि पहिचान।
'पद्माकर' कवि कहत है, या विधि सुनहु सुजान ॥२९५॥

रसाभास तें ऊर्जस्वित, यथा—

सुनि रन महँ तुव धनुष-रव, गे रिपु सागर-पार।
रिपु-रानी वन-वन फिरतिं, तिन सों रमत गँवार ॥२९६॥
यहाँ गँवार-निष्ट शृंगार रसाभास दैन्य संचारी भाव को अंग भयो।

भावाभास तें ऊर्जस्वित, यथा—

ताहि अनूप बखानहीं, सकल कबिन के गोत।
मुख-सरोज जा को निरखि, सौति-नयन अलि होत ॥२९७॥

यहाँ सपत्नी-निष्ठ भावाभास शृंगार-रस को अंग भयो।

अथ समाहित

होत भाव जहँ समित तहँ, भावसांति उर आन।
सो अँग है जहँ और को, वहै समाहित जान ॥२९८॥

यथा—

आयो भ्रात लिवाइबे, निरखि उठी हरषाइ।
सुनि धुनि चातक की तबहिं, चली भाजि अकुलाइ ॥२९९॥

यहाँ हर्ष-रूप भावसांति त्रास-रूप भाव को अंग भयो।

अथ भावोदय

उदित होत ही भाव के, भावोदय पहिचान।
सो अँग हुव जहँ और को, अलंकार वह मान ॥३००॥

यथा—

तन मृगमद की बास तें, समुझि अँधेरे माँह।
तियहि लाइ लिय हिय हरषि, ब्रजरसिकन के नाँह ॥३०१॥

यहाँ विबोध-रूप भावोदय हर्ष-रूप भाव को अंग भयो।

अथ भावसंधि

विरुध-भाव द्वै की यहस, भावसंधि उर आन।
होत सु अँग जहँ और को, अलंकार वहँ मान ॥३०२॥

यथा—

रही धीर धरि लखि पियहि, रिस उर में न समाति।
भरि दृग आँसुन ही कह्यो, रमे कहाँ तुम राति ॥३०३॥

यहाँ परस्पर बिरोधी धृति अरु अमर्ष-रूप भावसंधि बिषाद-रूप संचारी भाव को अंग भयो अथवा शृंगार-रस को अंग भयो।

अथ भावशाबल्य

पूरब पूरब के मरहिं, होत जहाँ बहु भाव।
भावसबलता सो जु अँग पर को, भूषन गाव ॥२०४॥

यथा—

धिक मोहि जु न पिय सों मिली, वह बिहार को चोप।
हाय कहाऽब करौं सखी, गयो न उर तें कोप ॥२०५॥

यहाँ निर्वेद-स्मृति-विषाद-चिंता-रूप भावसबलता अमर्ष-रूप संचारी भावको अंग भयो अथवा अमर्ष-सहित भावसबलता विप्रलंभ-शृंगार-रस को अंग भयो।

अथ अष्टप्रमाणालंकारेषु, प्रत्यक्षालंकार-लक्षण

(दोहा)

पंच ज्ञान-इंद्रियन तें, जहाँ वस्तु को ज्ञान।
तहँ प्रत्यक्ष-प्रमान, सो अलंकार उर आन ॥२०६॥

यथा—

कर-सरसिज अधरा मधुर, मृदु बच सुखद सुवास।
कुच कठोर जाके सु यह, मिली तिया तजि त्रास ॥२०७॥

नेत्रन सों, यथा—

हौं देखहुँ देखत सबै, इकटक दृगनि सदाहिं।
साँचहु सुंदर साँवरो, लखहि जोग ब्रज माहिं ॥२०८॥

त्वचा सों, यथा—

तुव तन की सुकुमारता, परसि नंद को लाल।
है कठोर सब सों कहत, जु ही जुही की माल ॥२०९।

घ्राण सों, यथा—

सहज-स्वास-परिमल लह्यो, जब ही तें जु गुविंद।
राधा-मुख-अरविंद को, तब तें भयहु मिलिंद ॥३१०॥

श्रवण सों, यथा—

ए सखि सुभ-सारँग-सहित, मृदु मलार की तान।
सुनि मुरली की धन्य धुनि, सफल भये मो कान ॥३११॥

रसना सों, यथा—

तुव अधरन की मधुरई, जब तें लही सुजान।
तब तें हरि नहिं आदरत, सुभग सुधा को पान ॥३१२॥

अथ अनुमानालंकार

सत्य हेतु के ज्ञान तें, पच्छ माहिं जिहि थान।
अलख साध्य को ज्ञान तहँ, है अनुमान-प्रमान ॥३१३॥

यथा—

उर बिन गुन के हार तें, ए हो नंदकुमार।
हौं जानत बीस-हु-बिसै, तुम कहुँ कियो बिहार ॥३१४॥

अथ उपमानालंकार

जु सादृस्य के ज्ञान तें, अलख जु उपमिति-ज्ञान।
होत जहाँ तहँ जानिये, यह उपमान - प्रमान ॥३१५॥

यथा—

इंदीवर-सो बर बरन, मुख ससि की अनुहार।
धरे तड़ित-सम पीतपट, ऐसो नंदकुमार ॥३१६॥

अथ शब्दप्रमाणालंकार

जहाँ सब्द के ज्ञान तें, सब्द-बोध है जात।
सब्द-प्रमान सु जानिये, अलंकार अवदात ॥३१७॥

श्रुति-बच सुमृति-पुरान-बच, आगम-बच आचार ।
आतम-तुष्टि बखानहीं, सब्दहि में धर धार ॥३१८॥

श्रुतिवाक्य सों शब्दप्रमाण, यथा—

बिन दृग देखत सबन कों, सुनत सबै बिन कान ।
बिन पग सब थल संचरत, सु परमातमा जान ॥३१९॥

स्मृतिवाक्य सों शब्दप्रमाण, यथा—

तारा अरु मंदोदरि हु, कुंती द्रुपद - सुता हु ।
सु अहिल्या के सुमिरतहि, पातक नसत महा हु ॥३२०॥

आगम सों शब्दप्रमाण, यथा—

नवल बाल नंदलाल-सँग, निज बिवाह के ताहिं ।
आगम की बिधि सों उमहि, पूजति मंदिर माहिं ॥३२१॥

आचार सों शब्दप्रमाण, यथा—

रीति यहै आगे हु तें, चलि आई अभिराम ।
तिय कों लैन कह्यो नहीं, अपने पिय को नाम ॥३२२॥

आत्मतुष्टि सों शब्दप्रमाण, यथा—

फरकि वामदृग बामभुज, कहत यहै अलि आज ।
निरखि बसंत बिदेस तें, हैं आवत ब्रजराज ॥३२३॥

अथ अर्थापत्ति—(चौपाई)

जिहि बिन जहँ कछु सिद्धि न होई । ताकी सिधि-हित कल्पन कोई ॥
करहि सु अरथापत्ति उचारो । अलंकार निज उर महँ धारो ॥३२४॥

यथा—

देवदत्त यह बहुत सुटानो । खात न दिन महँ एक हु दानो ॥३२५॥

मोटो रहत है यहै असिद्ध होइ कै राति-भोजन करत है यहि अरथ को ठहरायो, राति कों न खातो होइ तौ मोटो न होइ ।

अथ अनुपलब्धि

जहँ अभाव के ज्ञानहि माँही। होत विसेष जु ज्ञान तहाँ ही॥
अनुपलब्धि तहँ या विधि जानो। कवि बरनत यों करि अनुमानो ३२६

यथा—(दोहा)

नहिं तेरे कटि, सब कहत, कुच-थिति बिन आधार।
इंद्रजाल यह काम को, लोक करत निरधार॥३२७॥

कटि नहीं है, कटि अभाव तें देखिवे में नाहीं आवति है यह विसेष ज्ञान भयो, ऐसे और हू जानिये।

अथ ऐतिह्यालंकार—(चौपाई)

जानै नहिं यह किनकी कही। चली आईं जे बातैं सही॥
बक्ता जबहिं न जान्यो जाय। सो ऐतिह्य कहत कविराय॥३२८॥

यथा—(दोहा)

पिय बिदेस तें आइहैं, जिय जनि धरै बिषाद।
नर जीवत सो सुख लहै, ऐसो लोक - प्रवाद॥३२९॥

वार्ता

जो जीवत है सो सुख पावत है या बात को प्रथम बक्ता नहीं जान्यो जात है, लोक-प्रवाद कहैं लोक की कहनावत है, ऐसी जगह लोकोक्ति न जानिये।

अथ संभवालंकार—(चौपाई)

अधिक वस्तु में करत जहाँई। थोरे को ठहराव तहाँई॥
भाषत हैं संभव सो ऐसे। कवि-पंडितनि बखानी जैसे॥३३०॥

यथा—

लखि तुव लोचन जन-उर माहीं। कबहुँ काम-सर लागत नाहीं॥
ह्वैहै यों जड़-जीव महा ही। या ही बिपुल जगत के माही॥३३१॥

औरै रति औरै रंग औरै साज औरै संग,
औरै बन औरै छन औरै मन ह्वै गये॥

इससे पद्माकर का "औरै भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर" प्रतीक-वाला छंद मिलाइए। *

दूसरा उदाहरण लीजिए—

साँझ ही तें आवत हिलावत कटारी कर,
पाइ कै कुसंगति कलान दुखदाई का।
निपट निसंक तैं तजी है कुलकानि, खानि
औगुन अनेक, कहूँ तुलै न बाप-भाई का॥
परे मतिमंद चंद आवत न लाज तोहिं,
देत दुख बापुरे बियोगी-समुदाई को।
ह्वै कै सुधाधाम काम बिष को बगारै मूढ़,
ह्वै कै द्विजराज काज करत कसाई को॥

इससे मिलाइए पद्माकर का "सिंधु को सपूत सुत सिंधुतनया को बंधु" †।

द्विजदेव की पद्माकर-शैली की भाषा का नमूना भी देख लीजिए—

जावक के भार पग धरति धरा पै मंद,
गंध भार कुचन परी हैं छूटि अलकैं।
'द्विजदेव' तैसियै बिचित्र बरुनी के भार,
आधे-आधे दृगन परी हैं अधपलकैं॥
ऐसी छबि देखि अंग-अंग की अपार
बार-बार लोल लोचन सु कौन के न ललकैं।

* जगद्विनोद, छंद २७९।
† जगद्विनोद, छंद ५३९।

पानिप के भारन सँभारति न गात,
लंक लचि-लचि जाति कचभारन के हलकें ॥ *

भाषा में कैसी स्निग्धता है !

पद्माकर को आदर्श रूप में ग्रहण करनेवाले रससिद्ध कवि रत्नाकर भी हैं। रत्नाकर ने भावों के लिए 'पद्माकर' का अनुकरण नहीं किया है। 'रत्नाकर' के पास भाव-रत्नों की कमी थी ही नहीं। होड़ में भी कुछ लिखने की उन्हें आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने पद्माकर की भाषा को अपना आदर्श बनाया है। उनके कवित्तों की भाषाशैली तो एकदम पद्माकर की सी है। काव्य-मर्मज्ञ और अध्ययनशील होने के कारण उन्होंने भाषा अच्छी लिखी है। बिहारी के प्रभाव से भाषा को बहुत चुस्त करने के कारण कहीं-कहीं गूढ़ता अवश्य आ गई है, पर रत्नाकर की भाषा का प्रवाह, सफाई और लोच अधिकांश उत्कृष्ट है। व्रजभाषा में उनके ऐसा भाषा-मर्मज्ञ, कहना पड़ेगा, इधर बहुत दिनों से नहीं हुआ और न होने की संभावना है। मिलते वर्णनों को सामने रखने से पूर्वोक्त कथन स्पष्ट होगा—

बिधि बरदायक की सुकृति-समृद्ध-वृद्धि,
संभु सुरनायक की सिद्धि की सुनाका है।
कहै 'रतनाकर' त्रिलोक-सोक नासन कौं,
अतुल त्रिबिक्रम के बिक्रम कौ साका है॥
जम-भय-भारी-तम तोम निरवारन कौं,
गंग यह रावरी तरंग तुंग राका है।
सगरकुमारनि के तारन की सेनी सुभ,
भूपति भगीरथ के पुन्य की पताका है॥
—रत्नाकर।

* मिलाओ जगद्विनोद, छंद १२।

बिधि के कमंडल की सिद्धि है प्रसिद्ध यही,
हरि-पद-पंकज प्रताप की लहर है।
कहै 'पद्माकर' गिरीस-सीस-मंडल के,
मुंडन की माल ततकाल अघहर है॥
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ,
जन्हु-जप-जोग-फल-फैल की फहर है।
छेम की छहर गंगा रावरी लहर,
कलि काल की कहर जम जाल को जहर है॥
—पद्माकर।

दोनों को ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि इनकी शैली एक सी ही है।

पद्माकर की कविता का प्रचार बहुत था। पुराने ढंग का कोई परवर्ती कवि ऐसा न होगा जिसने इनकी कविता को पढ़ा या सुना न हो। पढ़ना और सुनना ही नहीं, उसका अनुगमन भी बहुतों ने किया है। शायद ही कोई परवर्ती कवि ऐसा हो जो पद्माकर के भावों की न सही, भाषा की सफाई की नकल करने न बैठा हो। भाषा के विचार से पद्माकर का हिंदी के पिछले खेवे के कवियों पर बहुत बड़ा प्रभाव है। इन कवियों की रचनाओं में जो पूर्वी प्रयोग मिल गए हैं, वह भाषाओं का स्वरूप ठीक-ठीक न पहचानने कारण।

भावाभिव्यंजन

पद्माकर की कविता में युद्ध, प्रेम और भक्ति-भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इनकी युद्धवाली रचना में वीर रस के साथ-साथ बीभत्स, भय, रौद्र, भयानक और करुण सबके लिए जगह थी, पर इन्होंने युद्ध-वीरत्व का ही सच्चा निरूपण नहीं कर पाया, फिर अन्य रसों की चर्चा ही क्या। युद्ध के प्रसंग में जहाँ वीरों की काट का अवसर आया है

यहाँ सभी जगह तीर, बरछी, भाले आदि का नाम भर ले लिया है, उनकी काट का वर्णन करके रसात्मकता उत्पन्न करने की चेष्टा ही नहीं है, जहाँ चढ़ाई आदि का चित्रण करने की आवश्यकता थी वहाँ इन्हें नाम गिनाने से ही फुरसत नहीं थी। जहाँ सेना के उपकरणों का वर्णन आया है, वहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा और परंपरा-पालन में ही लगे रहने से बाह्य स्वरूप तक मजे में नहीं झलकाया गया, आभ्यंतर की चर्चा ही क्या! केवल सबसुख-राय के पुत्र मांधाता की स्वामिभक्ति और उत्साहवर्धक वचनों के अतिरिक्त और कहीं भी कोई भाव-व्यंजना 'हिम्मतबहादुर-विरदावली' में काम की नहीं है। अन्य रसों का कोई वर्णन नहीं है, इधर-उधर जो फुटकर छंद मिलते भी हैं उनसे पता चलता है कि मुक्तक-रचनावाले कवि और कुछ न कर जो कल्पना का किला बाँधा करते थे, वह भी इनमें नहीं है, केवल कुछ गिनी गिनाई वस्तुओं का शाब्दिक झंकार के साथ कथन भर है। इसलिए प्रेम और भक्ति दो ही भाव इनकी कविता में विचार करने को रह जाते हैं।

इनकी भक्ति-भावना पर विचार करते हुए कहा जा चुका है कि ये संसारी भक्त थे। इसलिए ये उपास्य अथवा उपासना का रूप खड़ा करने के फेर में नहीं पड़े, केवल अपने आंतरिक पश्चात्ताप का ही कथन करते रह गए हैं। हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति होने से, चमत्कार की कुछ भी योजना न होने पर भी इनकी भक्ति की कविता में स्वारस्य पाया जाता है। प्रसंगों की योजना करके रसात्मकता उत्पन्न करने की परिपाटी भक्ति की कविता में पहले से ही नहीं थी, इसलिए पद्माकर ने ईश्वर की सामर्थ्य, शक्ति, पतितोद्धारकता, नाममहिमा, दयालुता, महानता आदि का सामान्य वर्णन भर किया है और जीव की मूढ़ता, माया की फँसावट आदि का उल्लेख करके फटकार, चेतावनी, भजन का उपदेश आदि दिया है। दो-चार छंदों में इनकी कहन अत्यंत मर्मस्पर्शी हो गई है—

भाग में रोग, बियोग सँयोग में, योग में काय-कलेस कमायो।
त्यों 'पद्माकर' बेद-पुरान पढ़्यो, पढ़ि कै बहु बाद बढ़ायो॥

दूनी दुरास में दास भयो, पै कहूँ बिसराम को धाम न पायो।
कायो गमायो सु ऐसे ही जीवन, हाय मैं राम का नाम न गायो॥

दुराशा का यह सोदाहरण वर्णन बड़ा मार्मिक है। संसार के कार्यों में लिप्त होने के बाद हम उसके इतने दास हो जाते हैं कि उसके छोड़ने में शरीर को कष्ट तो होता ही है, चित्त भी बेकाम हो जाता है। अशांति के कारण वृत्ति कहीं टिकती ही नहीं। संसार में सुख-भोग, तपश्चरण और विद्याध्ययन सभी झंझट के घर बन गए हैं, उन्हें हमने ऐसा ही भीषण बना रखा है। ईश्वर की सत्ता में आस्था रखकर चलने से कम-से-कम अपथ अथवा कुपथ से बचने का प्रयत्न तो हम करते ही रहेंगे। इसी प्रकार—

पेट के वेट बेगारहि में जब लौं जियना तब लौं सियना है।

× × ×

हौं तो न लोटतो लोभ लपेट में पेट की जो पै चपेट न होती।

राम पर विश्वास और अपनी तुच्छता के उद्गार भी चुटीले हैं—

राखत हैं राखेंगे रखैया रघुनाथ, जन
आपने की बात सदा राखतेई आये हैं।

× × ×

अधम-उधारन हमारे रामचंद, तुम
साँचे बिरदैत या तें काँचे हम क्या पर।*

× × ×

एक यहै वर माँगत हौं बर दूजो बिरंचि न भूलि हू दीजै।
राम को कोऊ गुलाम कहै, ता गुलाम को मोहिं तिलाम लिखीजै॥

कहीं-कहीं अधमोद्धार की आड़ में कवि ने कुछ सूक्तियाँ भी कही हैं, जो व्यंग्यपूर्ण और बड़ी मधुर हैं—

---

* ऐसे ही कुछ अन्य स्थल—प्रबोध-पचासा, २५,२६,४६।

ब्याध हू लौं बधिक बिराध-लौं बिरोधी राम,
पते पै न तारौ तौ हमारो कहा बस है।

\+ \+ \+ \+

सुनते ना अधम-उधारन तिहारो नाम,
और को न जानै, पाप हम तो न करते।*

'गंगालहरी' में जो भक्ति की कविता है वह बाहरी चमत्कार से इतनी लदी है कि उसमें व्यंग्य के स्वच्छ मार्ग का पता बड़े फेर से चलता है। कहना यह चाहिए कि उसमें चमत्कार ही प्रधान है और कुछ सूक्तियाँ ही पाई जाती हैं, यमराज और चित्रगुप्त से कहीं छुट्टी मिली तो कवि पापी के शंकर-स्वरूप को लेकर उड़ने लगा। इससे यदि कहीं फ़ुरसत मिली तो गंगा-गौरव का पौराणिक झगड़ा छेड़ बैठे। इसलिए पद्माकर के पूरे भक्तिकाव्य पर दृष्टि डालने से यह निष्कर्ष निकलता है कि भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति का इसमें अवसर ही नहीं आने दिया गया है, जो कुछ है वह सामान्य भक्ति-भाव की धारणा के आधार पर ही खड़ा है, कोई अधिक गहराई यहाँ नहीं है।

सच पूछा जाय तो प्रेम ही एक ऐसा है जो पद्माकर का प्रधान वर्ण्य-विषय था। प्रेम का जो क्षेत्र इन्होंने लिया वह बहुत संकुचित है। लक्षण-ग्रंथ के भीतर किसी भाव की अभिव्यक्ति खुलकर हो ही नहीं सकती, क्योंकि लक्ष्य को लक्षण के भीतर दबकर चलना पड़ता है, उसका प्रसार हो भी तो कैसे! प्रेम के भीतर इन्होंने केवल शृंगार ही लिया है और उसके दोनों पक्षों में से संयोग शृंगार का ही विशेष विस्तार है, विप्रलंभ का उतना नहीं। वियोग-पक्ष में ही प्रेम का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, वह राशीभूत हो जाता है;† पर पद्माकर

* साहित्य-समालोचक, पद्माकरांक।

† स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।—मेघदूत।

ऐसे शृंगारी कवियों को नवोढ़ाओं के हाव-भाव से ही अवकाश नहीं मिलता था, इसपर विचार कौन करता। यद्यपि विप्रलब्धा, उत्कंठिता आदि में भी विरह का हलका स्वरूप दिखाने की जगह रहती है, पर प्रियप्रवास से ही वियोग पक्ष का प्रकृत स्वरूप निखरता है। पद्माकर ने वियोग-पक्ष में ऊहात्मक पद्धति ग्रहण अवश्य की है, पर पुरानी लीक को छोड़कर जहाँ उन्होंने वियोग का मूल रूप सामने रखा है वहाँ रसात्मकता अवश्य आ गई है। मुग्धा के विरह का वर्णन देखिए—

मांगि सिख नौ दिन की ल्यौते गे गोविंद,
तिय सौ दिन समान छिन मान अकुलावै है।
कहै 'पद्माकर' छपाकर छपाकर तें,
बदन-छपाकर मलीन मुरझावै है॥
बूझत जु कोऊ कै 'कहा री भयौ तोहिं,'
तब और ही को औरै कछू वेदन बतावै है।
आँसू सकै मोचि न सँकोच-बस आलिन में,
उलही विरह-बेलि दुलही दुरावै है॥

भरति उसासन, दृग भरति, करति गेह के काज।
पल-पल पर पीरी परति, परी लाज के राज॥

मुग्धा में लज्जा का आधिक्य होता है, इसलिए वह बेचारी अपने हृदय की बात किसी से कह नहीं सकती, पूछने पर भी बहाने कर देती है। विरह में पड़कर वह चुपचाप पड़ी भी नहीं रहती। घर के काम भी करती जाती है और एकांत में आहें भी भरती है, भरपूर रोती भी नहीं, केवल आँखों में आँसू भरकर रह जाती है। अपनी व्यथा छिपाने में वह सयत्न तो रहती है, पर देह का पीला पड़ना कैसे छिपाए।

प्रौढ़ा आदि में कवि लोग विरह का आधिक्य मानते हैं, पर उसके वर्णन में जो ऊहात्मक ढंग से उक्ति लिखते हैं, वे इस स्वाभाविक

भावचित्रण के सामने जँचेगी क्या, उलटे खेलवाड़ जान पड़ेगी—

बरसत मेह अछेह अति, अवनि रही जलपूरि।
पथिक तऊ तुव गेह तें, उठति भभूरनि धूरि॥

प्रवास-विरह तो था ही, जरा मानावसान के विरह की ज्वाला देखिए—

घन घमंड पावस-निसा, सरवर लग्यो सुखान।
परखि प्रानपति जानि गो, तज्यौ मानिनी मान॥ *

इस प्रकार के वर्णनों से कहीं अधिक स्वाभाविकता तो साधारण श्लेष के चमत्कार को लेकर लिखी गई इस उक्ति में है—

याही छिन वाही सों न मोहन मिलौगे जो पै,
लगनि लगाइ एती अगिनि अवाती-सी।
रावरी दुहाई तौ बुझाई ना बुझैगी फेरि,
नेह-भरी नागरी की देह दिया-बाती-सी॥

इसमें अलंकारों की जो योजना है वह भाव तक पहुँचाने में पीछे नहीं है। प्रेमाधिक्य से वियोग के कारण जो विरहाधिक्य की व्यंजना है वह नायक को तत्पर करने में पूर्ण सहायक है। 'बुझाई ना बुझैगी' से दूती दिखाना चाहती है कि व्याधि बढ़ जाने पर हाथ ही मलना पड़ेगा, वह हाथ न लगेगी।

प्रिय वियोग के कारण सुखद वस्तुएँ भी दुःखद हो जाती हैं, इसे लेकर कवि लोग बड़े-बड़े तूफान उठाया करते हैं। पद्माकर ने भी वस्तुओं को दु:खद रूप में लाक्षणिक ढंग से रखा है, पर 'सूधेपन' के कारण बात स्वाभाविक बनी है, तमाशा नहीं होने पाई है—

ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भलो,
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन-कुंज हैं।

---

* इसी शैली के अन्य वर्णनों के लिए देखो जगद्विनोद, ५४४, ५४५, ६६२ आदि।

किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं॥

× × × ×

ए ब्रजचंद चलौ किन वा ब्रज लूकैं बसंत की ऊकन लागीं।
कारी कुरूप कसाइनैं ये सु कहू कुहू कैलिया कूकन लागीं॥

'लूकैं' और 'कसाइनैं' दोनों लाक्षणिक पद इष्ट भाव की सिद्धि में प्रयोजनीय हैं। 'क्वैलिया' पद में तिरस्कार की अच्छी व्यंजना है।

उद्धव-प्रसंग का ही एक उदाहरण और लीजिए—

कंकालिनि कूबरी कलंकिनि कुरूप तैसी,
चेटिकिनि चेरी ता के चित्त को चहा कियो।
राधिका की कहवत कहि दीजो मोहन सों,
रसिक-सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियो॥ *

हम जिसपर प्रेम करते हैं, उससे यह आशा तो रखते ही हैं कि वह दूसरे से प्रेम न करने पाए; इसके अतिरिक्त यह भी चाहते हैं कि उसकी अकीर्ति भी न हो। यदि वह कोई बुरा काम कर बैठे तो हमारे चित्त में यह तुरत समा जाता है कि लोग कहने लगेंगे कि ये उनके संबंधी हैं। राधिका के कथन में आंतरिक भावना यही है कि 'राम राम! तुमने यह क्या किया, कूबरी से प्रेम करके तुमने वह रसिकता खो दी जो तुमने ब्रज में संचित की थी।'

अपने परदेशी पति के पास पत्नी जो पत्र लिखती है उसमें उसके पतिप्रेम की कैसी व्यंजना है! जिसे हम प्यार करते हैं, यदि उसका सांनिध्य हमें प्राप्त न हो तो हम उसके कुशल और रक्षा से ही अपने चित्त का संतोष कर लेते हैं। वह जहाँ रहे मजे में रहे। यही सामान्य भावना इस छंद में है—

---

* ऐसे ही अन्य स्थल—जगद्विनोद, ४९८, ६६०।

पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोविंद को,
　　"श्रीयुत सलोने स्याम सुखनि सने रहौ।
कहै 'पद्माकर' तिहारी छेम छिन-छिन
　　चाहियतु, प्यारे मन-मुदित घने रहौ॥
विनती इती है कै हमेस हू मुहै तौ निज,
　　पाइन की पूरी परिचारका गने रहौ।
याही में मगन मनमोहन हमारो मन,
　　लगनि लगाइ लाल मगन बने रहौ"॥

चमत्कार उत्पन्न करने का कोई प्रयत्न न होने पर भी इस सीधी-सी सामान्य बात में कैसी भावुकता है, आर्यरमणियों का स्वच्छ चरित्र कितना साफ अंकित है।

घर से प्रिय के चले जाने पर लोग कहते हैं कि घर सूना हो गया, घर भाँय-भाँय करता है। कभी-कभी इस सूनेपन को प्रकट करने के लिए कहा जाता है कि सभी पदार्थ न जाने कैसे हो गए हैं या कुछ-के-कुछ हो गए हैं। इस प्रकार परिवर्तन का कारण न हूढ़ सकने में एक प्रकार की तीव्र वेदना छिपी रहती है। इसे ही निम्नलिखित छंद में बड़े सौम्य ढंग से कवि ने कहा है—

सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल-छंद से छ्वै गये हैं।
'पद्माकर' चाँदनी चंद हू के कछू औरहि डौरन च्वै गये हैं॥
मनमोहन सों बिछुरे इत ही बनि कै न अबै दिन द्वै गये हैं।
सखि वे हम वे तुम वेई बने पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं॥

अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं, पद्माकर ने जहाँ कहीं सीधी और सामान्य बातें रखी हैं, अपनी निरीक्षण और व्यंजना-शक्ति का परिचय दिया है।

संयोग शृंगार में पद्माकर ने आलंबनों के भेदों के जो उदाहरण

रखे हैं, उनमें उनका वर्णन ही प्रधान है, प्रसंग की योजना के द्वारा भावाभिव्यक्ति करने के अवसर उन्होंने कम रखे हैं। पहले कहा जा चुका है कि मुक्तक के क्षेत्र में भी प्रसंग का विधान किए बिना भाव-व्यंजना अच्छी हो नहीं सकती। लक्षण-ग्रंथ होने के कारण आलंबन के बाह्य स्वरूप पर ही अधिक दृष्टि रखने की आवश्यकता भी थी। इसीलिए पद्माकर के बहुत थोड़े पद ऐसे रह जाते हैं जो भावों की व्यंजना की दृष्टि से विचार करने योग्य हैं। बिहारी आदि स्वच्छंद कवियों में यह बात नहीं है, उन्हें लक्षणों की चिंता नहीं थी। प्रसंग की योजना करने में भी पद्माकर ने सीधी सामग्री ही चुनी है, बिहारी आदि की भाँति बीहड़ प्रसंगों के आक्षेप की गुंजाइश इनकी रचना में नहीं है। यदि पद्माकर ऐसा करने बैठ जाते तो इनकी पुस्तक दुरूह हो जाती और कोई उसे पढ़ता भी नहीं। होली आदि के प्रसिद्ध प्रसंगों को चुनकर ही इन्होंने अपना काम चलाया है। इनका सारा प्रयत्न हावों, चेष्टाओं और कार्य-व्यापारों में ही समाप्त हो गया है। भावों को जिस प्रवणता के साथ प्रस्तुत करना चाहिए था उधर इनकी दृष्टि ही कम गई। फिर भी ऐसे अवसर आए हैं और पद्माकर ने उनमें अपनी रसिकता का परिचय भी दिया है।

प्रेम के प्रभाव से कष्टदायक वस्तुएँ भी सुखद हो जाती हैं। प्रेम की प्राप्ति में कष्ट का होना और उस कष्ट को पार कर लेने पर अभीष्ट लाभ, इस धारणा के कारण लोगों ने प्रेम को विकट-प्रयत्न-साध्य कहा है। प्रेम-काव्यों में इसी प्रयत्न और कष्ट के वर्णन अधिक पाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में जो उन कष्टों को फूल समझता है वही सफल होता है। अभिसारिका के वर्णन में कष्टों को भी सुखद दिखाते हुए कवि लिखता है—

कामद-सो कानन कपूर-ऐसी धूरि लगै,
पट-सो पहार, नदी लागति है नल-सी।

घाम चाँदनी-सो लगै, चंद सो लगत रवि,
मग मखतूल-सो मही हू मखमल-सी ॥

प्रेम की मग्नता में इस प्रकार के कष्टों को सामान्य समझना तक तो ठीक है, पर भाव-मग्नता को लेकर कभी-कभी काले नागों को कुचलते हुए जाना भी कवि लोग लिखते हैं। इस प्रकार प्रेम के प्रसंग में व्यर्थ ही नाग, बाघ, मगर, घड़ियाल का लाना एक प्रकार का भाव-विरोध ही है ; जैसे पद्माकर का यह उदाहरण—

कारी निसि कारी घटा, कचरति कारे नाग।
कारे कान्हर पै चली, अजब लगनि की लाग ॥

'लगनि की अजब लाग' है, इसे माना, पर काले नागों का कुचलना कोई विशेषता उत्पन्न नहीं करता, परंपरायुक्त कथनों पर विचार करने की भी आवश्यकता होती है, उनका अंधानुसरण किस काम का।

पति के प्रेम के गर्व का एक छंद पद्माकर ने अच्छा दिया है। पत्नी को पति नैहर नहीं जाने देता, यद्यपि वहाँ के लोग नायिका के लिए दुःखी हैं—

मो बिन माइ न खाइ कछू, 'पदमाकर' त्यों भई भाभी अचेत है।
बीरन आये लिवाइबे कों तिनकी मृदुबानि हू मानि न लेत है ॥
प्रीतम को समुझावति क्यों नहीं, ये सखी तू जु पै राखति हेत है।
और तो मोहि सबै सुख री, दुख री यहै माइके जान न देत है ॥

पति-प्रेम की व्यंजना इस सवैया से अच्छी होती है। नैहरवालों के कष्ट और प्रयत्न का कथन हो जाने से उन लोगों के प्यार की भी झलक मिल जाती है।

इस सवैया में वर्ण्य सामग्री साधारण जीवन से ली गई है। हिंदी में कवि लोग साधारण जीवन में कम घुले हैं। उनके लिए वर्णन-सामग्री राधा-माधव की प्रेम-क्रीड़ा ही विशेष रही है, पद्माकर के भी अधिकांश

उदाहरण राधा-कन्हाई की ही प्रेमलीला को लेकर हैं, पर इन्होंने अपनी वर्णन-सामग्री सामान्य जीवन से भी चुनी है। जहाँ वर्णनात्मक प्रसंग लाने पड़े हैं वहाँ इन्होंने राजदरबारों की छटा ली है। सामान्य-जीवन का वर्णन जहाँ-जहाँ पद्माकर ने रखा है, उसमें अनोखापन अवश्य आ गया है। रूप के गर्व की व्यंजना का उदाहरण लीजिए—

है नहिं माइको मेरी भटू यह सासुरो है सबकी सहिबो करौ।
त्यों 'पदमाकर' पाइ सोहाग सदा सखियान हु कों चहिबो करौ॥
नेह भरी बतियाँ कहि कै नित सौतिन की छतियाँ दहिबो करौ।
चंद्मुखी कहैं होती दुखी तौ न कोऊ कहैगो सुखी रहिबो करौ॥

प्रेम-लीला के बहुत से उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए जगह नहीं, प्रेम-मार्ग की बँधी परिपाटी का पद्माकर ने जो वर्णन किया है वह उसी संकुचित क्षेत्र के भीतर है जिसमें उनके पूर्ववर्ती कवि अपनी वाटिका लगाते आ रहे थे। पद्माकर ने अपनी उक्तियों को कुछ दूसरे प्रकार से व्यक्त किया है, केवल इतना ही भेद है। जब वे एक-से वर्णनों में कहन की सूरत पैदा कर लेते थे तो विषय-भेद होने पर ऐसा कर लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं। किंतु परिपाटी से अलग उन्होंने भावों की सीधी कहन में अपनी जैसी भावुकता दिखाई है वैसी अन्यत्र नहीं। एक ही प्रकार के वर्णनों और एक ही प्रकार की वर्ण्य सामग्री जब बहुत दिनों तक चलती रहती है तो फिर उसके सुनने में चित्त जमता भी नहीं, चाहे उसमें कहन की विशेषता उत्पन्न कर भी दी जाय, पर वह बासी ही जान पड़ती है। इसीलिए लोग चित्त को संतोष देने के लिए पुस्तक की प्रस्तावना में प्रायः इस प्रकार के वाक्य लिख दिया करते थे—"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कबिताई, न तु राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"

यहाँ पर थोड़ा-सा शैली के संबंध में भी विचार कर लेना चाहिए। भावों को व्यक्त करनेवाली और प्रकार की शैलियों का उल्लेख चिंतण-

आदि के भीतर हो चुका है यहाँ संवाद और अलंकार-योजनावाली शैलियों पर कुछ विचार कर लिया जाता है। संस्कृत के 'अमरुक शतक' की देखादेखी और उसी का आधार लेकर पद्माकर ने रसात्मकता उत्पन्न करने के लिए कुछ छंद उत्तर-प्रत्युत्तर अथवा संवाद की शैली पर भी रखे हैं, इन छंदों में चमत्कारपूर्ण अन्य छंदों की अपेक्षा अधिक सरसता है और वह भी स्वाभाविकता को लिए हुए।

कहाँ आये ?, तेरे धाम ; कौन काम ?, घर जानि ;
तहाँ जाउ, कहाँ ?, जहाँ मन धरि आये हौ।

× × × ×

बोलत न काहे ए री ? पूछे बिन बोलौं कहा,
पूछति हौं कहा भई स्वेद-अधिकाई है ?।
कहै 'पद्माकर' सु मारग के गये-आये,
साँची कहु मो सौं आज कहाँ गई-आई है ?॥
गई-आई हौं तो पास साँवरे के, कौन काज ?,
तेरे लिये ल्यावन सु तेरियै दुहाई है।
काहे तैं न ल्याई फिरि मोहन बिहारी जू कौं ?,
कैसे वाहि ल्याऊँ ?, जैसे वाको मन ल्याई है॥*

इसमें 'मोहन बिहारी जू' में कैसी सार्थक व्यंजना है ? इन संवादों के अंतिम उत्तर में ही वास्तविक भाव प्रकट होने दिया गया है, अन्यथा इसके पूर्व तक कोई ऐसी बात नहीं कही गई है जिससे मूल भाव दूसरे पक्ष पर प्रकट हो जाय।

अलंकार भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने और भाव की अनुभूति

* अन्य संवादों के लिए देखो जगद्विनोद, ६२, २३२। इन्हें मिलाओ अमरुकशतक ५७ और ७१ से।

तीव्र कराने में सहायक होते हैं। † पद्माकर ने प्रायः साम्यमूलक अलंकारों—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि—से रूप ही ग्रहण कराया है।

बिंदु घने मेहँदी के लसैं कर, ता पर यों रह्यो आनन आइ कै।
इंदु मनो अरविंद पै राजत इंद्रवधून के बृंद बिछाइ कै॥

सारूप्य और साधर्म्य दोनों के विचार से यहाँ उत्प्रेक्षित उपमान ठीक पड़ते हैं।

पद्माकर ने भीषण उत्प्रेक्षाएँ नहीं की हैं, केशव और विहारी की भाँति रंगों का स्वरूप ग्रहण कराने के लिए ग्रह-मंडल से ही उपमान नहीं उतारे हैं, कल्पना के लोक में बहुत दूर तक नहीं भटके हैं। बेंदा के छटक कर गिरने पर कवि की उत्प्रेक्षा देखें—

नीलमनि-जटित सुबेंदा उच्च कुच पै, पर्‌यो है
टूटि ललित ललाट के मजेजे तें।
मानों गिर्‌यो हेमगिरि सृंग पै सुकेलि करि,
कढ़ि कै कलंक कलानिधि के करजे तें॥

भावों की अनुभूति तीव्र कराने में सहायता पहुँचानेवाली अलंकार-योजना पद्माकर में कम है। प्रेम की गंभीरता और जटिलता को लेकर यह रूपक रखा गया है—

प्रीति-पयोनिधि में धँसि कै हँसि कै कढ़िबो हँसी-खेल नहीं फिर।

श्लेष और उपमा के सहारे विरह की व्यंजना में कहा गया है—

याही छिन वाही सों न मोहन मिलौगे जो पै,
लगनि लगाइ एती अगिनि अघाती-सी।
रावरी दुहाई तौ बुझाई न बुझैगी फेरि,
नेह-भरी नागरी की देह दिया बाती-सी॥

† आचार्य प० रामचंद्र शुक्ल : तुलसीदास, अलकार-विधान।

रूप ग्रहण कराने और भावानुभूति तीव्र करानेवाले अलंकारों के अतिरिक्त पद्माकर ने शुद्ध चमत्कार उत्पन्न करनेवाले अलंकार भी रखे हैं। 'गंगालहरी' के कुछ छंदों में अच्छी 'वक्रोक्ति' है, जो अलंकार का विषय न रहकर यथास्थान व्यंग्य का विषय हो गई है, पर कुछ छंद शुद्ध चमत्कार उत्पन्न करनेवाले ही हैं। कहीं-कहीं भाषा में झंकार उत्पन्न करने के विचार से अनुप्रास की योजना पद्माकर ने अच्छी नहीं की है, अन्यथा केवल चमत्कारवाले अलंकारों का ग्रहण इनकी रचना में नहीं है। अलंकारों का विधान इनकी रचना में इसीलिए अच्छा ही कहा जायगा।

भाषा

भावों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा चाहे जो हो, पर चाहे जैसी हो यह नहीं कहा जा सकता। भावों को वहन करनेवाली और कवि एवं पाठक की अनुभूतियों के बीच संबंध-सूत्र स्थापित करनेवाली भाषा ही होती है। यदि भाषा उपयुक्त न होगी, तो अच्छे-अच्छे भावों को सामने रखकर, नाना प्रकार की अभिव्यंजन-शैलियों का उपयोग करके भी कवि सफलकृति नहीं हो सकता। हिंदी में प्राचीन कविता कुछ ऐसी भी पाई जाती है जिसमें भाषा के स्वरूप का ध्यान तो दूर रहा, व्याकरण तक का पूरा विचार नहीं है। शब्दों के मनमाने रूपों से भाषा की परंपरा भी चौपट कर दी गई है। तुलसी और बिहारी भाषा का जैसा स्वरूप सामने लाए, उसपर लोगों ने दृष्टि नहीं डाली। भाषा की सामर्थ्य, गठन और वाक्यों की बनावट तथा शब्द-संग्रह का विचार लोगों को कम था। केवल शब्दों को जोड़कर ही वे भाषा के संबंध में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे।

पद्माकर ने भाषा के संबंध में वैसी लापरवाही नहीं की है, जैसी भाव के संबंध में। इन्होंने भाषा का बाह्य और आभ्यंतर दोनों ठीक रखने का उद्योग किया है। बाह्य का तात्पर्य शब्दों की बनावट अथवा उनसे

पुनर्यथा—(दोहा)

जो जिय में सो जीभ में, रमन रावरे ठौर ।
आज-कालिह के नरन के, जीभ कछू जिय और ॥५७॥

मध्या अधीरा को लक्षण

करै अनादर कंत को, प्रगट जनावै कोप ।
मध्य अधीरा नायिका, ताहि कहत करि चोप ॥५८॥

मध्या अधीरा को उदाहरण—(कवित्त)

भूले-से भ्रमे-से काहि सोचत भ्रमे-से,
अकुलाने-से विकाने-से ठगे-से ठीक ठाये हौ ।
कहै 'पद्माकर' सु गोरे-रंग-बोरे दृग,
थोरे-थोरे अजब कुसुंभी करि ल्याये हौ ॥
आगे कों धरत पर पीछे को परत पग,
भोर ही तें आज कछु और छवि छाये हौ ।
कहाँ आये ?, तेरे धाम, कौन काम ?, घर जानि,
तहाँ जाव, कहाँ ?, जहाँ मन धरि आये हौ ॥५९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

दाहक नाहक नाह मुहि, करिहौ कहा मनाय ।
सुबस भये जा तीय के, ताके परसौ पाय ॥६०॥

मध्या धीराधीरा को लक्षण

धीर बचन कहि कै जो तिय, रोइ जनावै रोष ।
मध्या धीराधीर तिय, ताहि कहत निरदोष ॥६१॥

मध्या धीराधीरा को उदाहरण—(कवित्त)

ए बलि कहौ हो किन ?, का कहत कंत ?, अरी
रोष तज, रोष कै कियो मैं का अचाहे को ?।

कहै 'पद्माकर' यहै तो दुख दूरि करौ,
　　　　दोष न कछू है तुम्हैं नेह निरवाहे को ॥
तो पै इत रोवति कहा हौ ?, कहौ कौन आगे ?,
　　　　मेरेई जु आगे किये आँसुन उमाहे को ।
को हौं मैं विहारी ?, तू तौ मेरी प्रानप्यारी, अजी
　　　　होती जौ पियारी तब रोती कहौ काहे को ? ॥६२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

करि आदर तिय पीय को, देखि दृगनि अलसानि ।
सुमुख मोरि वरषन लगी, लै उसास अँसुआनि ॥६३॥

प्रौढ़ा धीरा को लक्षण

उर उदास रति तें रहै, अति आदर की खानि ।
प्रौढ़ा धीरा नायिका, ताहि लीजिये जानि ॥६४॥

प्रौढ़ा धीरा को उदाहरण—(कवित्त)

जगर-मगर दुति दूनी केलि-मंदिर में,
　　　　बगर-बगर धूप-अगर बगारयो तू ।
कहै 'पद्माकर' त्यों चंद तें चटकदार,
　　　　चुंबन में चारु मुखचंद अनुसारयो तू ॥
नैनन में बैनन में सखी और सैनन में,
　　　　जहाँ देखौ तहाँ प्रेम पूरन पसारयो तू ।
छपत छपायें तऊ छल न छबीली अब,
　　　　उर लगिबे की बार हार न उतारयो तू ॥६५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

हरख दौरि पिय-पग परसि, आदर कियो अछेह ।
तेह गेहपति जानि गो, निरखि चौगुनो नेह ॥६६॥

प्रौढ़ा अधीरा को लक्षण

कछु तरजन ताड़न कछू, करि जु जनावै रोष।
प्रौढ़ अधीरा नायिका, निरखि नाह को दोष ॥६७॥

प्रौढ़ा अधीरा को उदाहरण—(कवित्त)

रोप करि पकरि परोस तें लियाई घरै,
पी कों प्रानप्यारी भुज-लतनि भरै-भरै।
कहै 'पद्माकर' ए ऐसो दोष कीजै फेरि,
सखिन समीप यों सुनावति खरै-खरै॥
त्यौ छल छपावै बात हँसि बहरावै, तिय
गद्गद कंठ दृग आँसुन भरै-झरै।
ऐसी धन धन्य, धनी धन्य है सु ऐसो जाहि,
फूल की छरी सों खरी हनति हरै-हरै ॥६८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

नेह - तरेरे दृगनहीं, राखति क्यों न अँगोट।
छैल छबीले पै कहा, करति कमल की चोट ॥६९॥

प्रौढ़ा धीराधीरा को लक्षण

रति तें रूखी है जहाँ, डर जु दिखावै बाम।
प्रौढ़ा धीर-अधीर तिय, ताहि कहत रसधाम ॥७०॥

प्रौढ़ा धीराधीरा को उदाहरण—(कवित्त)

छवि छलकन-भरी पीक पलकन त्यों ही,
श्रमजल-कन अलकन अधिकाने ज्वै।
कहै 'पद्माकर' सुजान रूपखानि तिया,
ताकि-ताकि रही ताहि आपुहि अजाने ह्वै॥

परसत गात मनभावन के भावती की,
गईं चढ़ि भौंहैं रहीं ऐसी उपमानैं ह्वै ।
मानो अरबिंदन पै चंद कों चढ़ाइ दीन्हीं,
मान-कमनैत बिन रोदा की कमानैं ह्वै ॥७१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

अनत-रमे पति की सुरति, गहि-गहि गहकि गुनाह ।
दृग मरोरि मुख मोरि तिय, छुवन देति नहिं छाँह ॥७२॥

ज्येष्ठा-कनिष्ठा को लक्षण

बरनत जेठ कनिष्ठिका, जहँ ब्याही तिय दोइ ।
पिय-प्यारी जेठा कही, अतिप्यारी लघु सोइ ॥७३॥

ज्येष्ठा-कनिष्ठा को उदाहरण—(कवित्त)

दोऊ छबि छाजतीं छबीली मिलि आसन पै,
जिनहिं बिलोकि रह्यो जात न जितै-जितै ।
कहै 'पद्माकर' पिछौंहैं आइ आदर सों,
छलिया छबीलो छैल बासर बितै-बितै ॥
मूँदे तहाँ एक अलबेली के अनोखे दृग,
सुदृग-मिचावनी के ख्यालनि हितै-हितै ।
नेसुक नवाइ ग्रीवा धन्य-धन्य दूसरी कों,
औचक अचूक मुख चूमत चितै-चितै ॥७४॥

पुनर्यथा—(दोहा)

जुग-बिहार पिय-प्यारि को, देखति क्यों न नवेलि ।
है सुमनी यहि एक बिच, करत एक सों केलि ॥७५॥

इति स्वकीया ।

अथ परकीया को लक्षण—(दोहा)

होइ जु तिय परपुरुष-रत, परकीया सो बाम ।
ऊढ़ा प्रथम बखानहीं, बहुरि अनूढ़ा नाम ॥७६॥

ऊढ़ा को लक्षण

जो ब्याही तिय और की, करत और सों प्रीति ।
ऊढ़ा ता कों कहत हैं, हिये राखि रस-रीति ॥७७॥

ऊढ़ा को उदाहरण—(कवित्त)

गोकुल के कुल के, गली के गोप गाँवन के,
जौ लगि कछू-को-कछू भारत भनैं नहीं ।
कहै 'पद्माकर' परोस - पिछवारन तें,
द्वारन तें दौरि गुन - औगुन गनैं नहीं ॥
तौ लौं चलि चातुर सहेली आइ कोऊ कहूँ,
नीके कै निचोरै ताहि करत मनै नहीं ।
हों तौ स्याम-रंग में चुराइ चित चोराचोरी,
बोरत तौ बोर्‌यो पै निचोरत बनै नहीं ॥७८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

चढ़ी हिँडोरे हरषि हिय, सजि तिय बसन सुरंग ।
तन झूलत पिय-संग में, मन झूलत हरि-संग ॥७९॥

अनूढा को लक्षण

अनब्याही तिय होति जहँ, सरस -पुरुष-रस-लीन ।
ताहि अनूढ़ा कहत हैं, कवि पंडित परबीन ॥८०॥

अनूढ़ा को उदाहरण—(सवैया)

जौंव नहीं कुल गोकुल में अरु दूनी दुहूँ दिसि दीपति जागै ।
त्यों 'पद्माकर' जोई सुनै जहाँ सो तहँ आनँद में अनुरागै ॥

ए दई ऐसो कछू कर ज्यौंत जु देखें अदेखिन के दृग दागै ।
जा में निसंक ह्वै मोहन कों भरिये निज अंक कलंक न लागै ॥८१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कुसल करै करतार तौ, सकल संक बियराइ ।
यार कारमन को जु पै, कहूँ व्याहि लै जाइ ॥८२॥

षट्विध परकीया

इक परकीया के कहैं, षटविध भेद बखानि ।
प्रथमहि गुप्ता जानिये, बहुरि विदग्धा मानि ॥८३॥
ललित लक्षिता तीसरी, चौथी कुलटा होइ ।
पँचई मुदिता, षष्ठई है अनुसयना सोइ ॥८४॥

गुप्ता के भेद

कही जु गुप्ता तीनि बिधि, सुकबिन हूँ समुझाइ ।
भूत - सुरति-संगोपना, प्रथम भेद यह आइ ॥८५॥
वर्तमान - रतिगोपना, भेद दूसरो जान ।
पुनि भविष्य-रतिगोपना, लच्छन नाम प्रमान ॥८६॥

भूत-सुरतिसंगोपना को उदाहरण—(कवित्त)

आली हौं गई ही आज भूलि बरसाने कहूँ,
    ता पै तू परै है 'पदमाकर' तनैनी क्यो ।
ब्रज-बनिता वै वनितान पै रची है फाग,
    तिन में जु ऊधमिनि राधा मृगनैनी यों ॥
घोरि डारी केसरि सुबेसरि बिलोरि डारी,
    बोरि डारी चूनरि चुचात रंग-रनी ज्यों ।
मोहि झकझोरि डारी कंचुकी मरोरि डारी,
    तोरि डारी कसनि बिथोरि डारी बैनी त्यों ॥८७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

छुटत कंप नहिं रैन-दिन, विदित बिदारनि काय ।
अति सीतल हेमंत की, अरी जरी यह बाय ॥८८॥

वर्तमान-सुरतिगोपना को उदाहरण—(सवैया)

ऊधम ऐसो मचो ब्रज में सबै रंग-तरंग उमंगनि सीचैं ।
त्यों 'पद्माकर' छज्जनि छातनि छ्वै छिति छाजतीं केसरि-कीचैं ॥
द्वै पिचकी भजी भीजी तहाँ परे पीछे गोपाल गुलाल उलीचैं ।
एक ही संग इहाँ रपटे सखी ये भये ऊपर हौं भई नीचैं ॥८९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

चढ़त घाट बिचल्यो सु पग, भरी आनि इन अंक ।
ताहि कहा तुम तकि रहीं, या में कौन कलंक ॥९०॥

भविष्य-सुरतिगोपना को उदाहरण—(कवित्त)

आज तें न जैहौं दधि बेचन, दुहाई खाउँ
भैया की, कन्हैया उत ठाढ़ोई रहत है ।
कहै 'पद्माकर' त्यों साँकरी गली है अति,
इत-उत भाजिबे कों दाँउ ना लहत है ॥
दौरि दधि-दान-काज ऐसो अमनैक तहाँ,
आली बनमाली आइ बहियाँ गहत है ।
भादों सुदी चौथ को लख्यो री मृगअंक या तें,
झूठ हू कलंक मोहि लागिबो चहत है ॥९१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कोऊ कछु अब काहु पै, मति लगाइये दोष ।
होन लग्यो ब्रज-आलिन में, हुरिहारिन को घोष ॥९२॥

विदग्धा के भेद

द्विविध विदग्धा जानिये, वचन-विदग्धा एक ।
क्रिया-विदग्धा दूसरी, भाषत विदित-विवेक ॥९३॥

वचन-विदग्धा को लक्षण

वचनन की रचनान सों, जो साधै निज काज ।
वचन-विदग्धा नायिका, ताहि कहत कविराज ॥९४॥

वचनविदग्धा को उदाहरण—(सवैया)

जब लौं घर को धनी आवै घरै तब लौं तौ कहूँ चित दैबो करौ ।
'पद्माकर' ये बछरा अपने बछरान के संग चरैबो करौ ॥
अरु औरन के घर तें हम सों तुम दूनी दुहावनी लैबो करौ ।
नित साँझ-सवेरे हमारी हहा हरि! गैया भला दुहि जैबो करौ ॥९५॥

पुनर्यथा—

पिय पारो परोसिन के रस में बस में न कहूँ बस मेरे रहैं ।
'पद्माकर' पाहुनी-सी ननदी, न नदी तजै पै अवसेरे रहैं ॥
दुख और यों का सों कहौं, को सुनै, ब्रज की बनिता हग फेरे रहैं।
न सखी घर साँझ-सबेरे रहैं, घनस्याम घरी-घरी घेरे रहैं ॥९६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कत करील की कुंज में, रह्यो अरुझि मो चीर ।
ये बलबीर अहीर के, हरत क्यों न यह पीर ॥९७॥

पुनर्यथा—

कनक-लता श्रीफल-फरी, रही विजन बन फूलि ।
ताहि तजत क्यों बावरे, अरे मधुप मति भूलि ॥९८॥

क्रिया-विदग्धा को लक्षण

जो तिय साधै काज निज, करि कछु क्रिया सुजान ।
क्रिया-विदग्धा नायिका, ताहि लीजिये जान ॥९९॥

क्रिया-विदग्धा को उदाहरण—(कवित्त)

बंजुल निकुंजन में मंजुल महल-मध्य,
मोतिन की झालरैं किनारिन में कुरबिंद ।
आइ गे तहाँई 'पद्माकर' पियारे कान्ह,
आनि जुरि गये त्यों चवाइन के नीके बृंद ।।
बैठी फिरि पूतरी अनूतरी फिरंग-कैसी,
पीठि दै प्रवीनी दृग-दृगनि मिलै अनिंद ।
आछे अवलोकि रही आये रस-मंदिर में,
इंदीबर-सुंदर गुबिंद को मुखारबिंद ।।१००।।

पुनर्यथा—(दोहा)

करि गुलाल सों धूँधुरित, सकल ग्वालिनी ग्वाल ।
रोरी मीड़न के सु मिस, गोरी गह्यो गोपाल ।।१०१।।

लक्षिता को लक्षण

जा तिय को जिय आन-रत, जानि कहै तिय आन ।
ताहि लक्षिता कहत हैं, जे कवि कला-निधान ।।१०२।।

लक्षिता को उदाहरण—(सवैया)

ब्रजमंडली देखि सबै 'पद्माकर' ह्वै रही यों चुपचाप री है ।
मनमोहन की बहियाँ में छुटी उपटी यह बेनी दिखा परी है ।।
मकराकृत कुंडल की झलकैं इत हू भुज-मूल पै छाप री है ।
इन की उन से जो लगी अँखियाँ कहिये तौ हमैं कहू का परी है ।।१०३

पुनर्यथा—

बीतिबे ही सु तौ बीति चुकी अब आँजती हौ किहि काज लुकंजन ।
त्यों 'पद्माकर' हाल कहै मति लाल करौ दृग ख्याल के खंजन ।।
देखत कंचुकी कै चुकी के बिच होत छिपायें कहा कुच-कंजन ।
तोहि कलंक लगाइबे कौं लग्यो कान्हहि के अधरान में अंजन ।।१०४

पुनर्यथा—(दोहा)

घर न कंत हेमंत-रितु, राति जागती जात ।
दबकि द्यौस खोवन लगी, भली नहीं यह बात ॥१०५॥

कुलटा को लक्षण

है बहु लोगन सों जु तिय, राखति रति की चाह ।
कुलटा ताहि बखानहीं, जे कबीन के नाह ॥१०६॥

कुलटा को उदाहरण—(सवैया)

यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिंगारनि कै चलै कै चलै ।
त्यों 'पदमाकर' एकन के उर में रसबीजनि ब्वै चलै ब्वै चलै ॥
एकन सों बतराइ कछू छिन एकन को मन लै चलै लै चलै ।
एकन कों तकि घूँघट में मुख मोरि कनैखिन दै चलै दै चलै ॥१०७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

बिपिन बाग बीथी जहाँ, प्रबल-पुरुष-मय ग्राम ।
कामकलित बलि बाम कों, तहाँ तनिक बिश्राम ॥१०८॥

मुदिता को लक्षण

सुनत-लखत चितचाह की बात-घात अभिराम ।
मुदित होइ जो नायिका, ता को मुदिता नाम ॥१०९॥

मुदिता को उदाहरण—(कवित्त)

बृंदावन बीथिन बिलोकन गई ही जहाँ,
राजत रसाल बन ताल'रु तमाल को ।
कहै 'पदमाकर' निहारत बन्योई वहाँ,
नेहिन को नेह प्रेम अदभुत ख्याल को ॥
दूनो-दूनो बाढ़त सु पूनो की निसा में,
अहो आनँद अनूप-रूप काहू ब्रजबाल को ।

कुंज तें कहूँ कों सुनि कंत को गमन,
लखि आगमन तैसो मनहरन गोपाल को ॥११०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

परखि प्रेम-बस परपुरुष, हरषि रही मति-मैन ।
तब लगि झुकि आई घटा, अधिक अँधेरी रैन ॥१११॥

त्रिविध अनुशयाना

कही सुअनुसयना त्रिविध, प्रथम भेद यह जानि ।
वर्तमान-संकेत के बिघटन तें सुख-हानि ॥११२॥

प्रथम अनुशयाना को उदाहरण—(कवित्त)

सूने घर परम परोसी के सुजान तिया,
आई सुनि-सुनि कै परोसिन मनो अराति ।
कहै 'पद्माकर' सु कंचन-लता-सी लचि,
ऊँची लेति साँस यों हिये में त्यों नहीं समाति ॥
जाइ-आइ जहाँ-तहाँ बैठि-चढ़ि जैसे-तैसे,
दिन तौ बितायो बधू बीतति है कैसे राति ।
ताप सरसानी देखें अति अकुलानी,
जऊ पति उर आनी तऊ सेज में बिलानी जाति॥११३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सौति-जोग न रोग कछु, नहिं बियोग बलवंत ।
ननद होत क्यो दूबरी, लागत ललित बसंत ॥११४॥

दूसरी अनुशयाना को लक्षण

होनहार संकेत को, धरि अभाव उर माहि ।
दुखित होत जो, दूसरी कह अनुसयना ताहि ॥११५॥

दूसरी अनुशयाना को उदाहरण—(कवित्त)

चालौ सुनि चंदमुखी चित में सु चैन करि,
तित बन-बागनि घनेरे अलि घूमि रहे।
कहै 'पद्माकर' मयूर मंजु नाचत हैं,
चाह सों चकोरिन चकोर चूमि-चूमि रहे॥
कदम अनार आम अगर असोक-थोक,
लतनि-समेत लोने-लोने लगि भूमि रहे।
फूलि रहे फलि रहे फैलि रहे फबि रहे,
झपि रहे झूलि रहे झुकि रहे झूमि रहे॥११६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

निघटत फूल गुलाब के, घरति क्यों न घन! धीर।
अमल कमल फूलन लगे, विमल सरोवर-नीर॥११७॥

तीसरी अनुशयाना को लक्षण

जो तिय सुरत-सँकेत को, रमन-गमन अनुमान।
व्याकुल होति सु तीसरी, अनुसयना पहिचान॥११८॥

तीसरी अनुशयाना को उदाहरण—(सवैया)

चारिहूँ ओर तें पौन-झकोर, झकोरनि घोर घटा घहरानी।
ऐसे समै 'पद्माकर' काहु की आवति पीतपटी फहरानी॥
गुंज की माल गोपाल गरे ब्रजबाल बिलोकि थकी थहरानी।
नीरज तें कढ़ि नीर-नदी छवि-छीजत छीरज पै छहरानी॥११९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

परा करील की कुंज तें, उठत अतर की योय।
भयो होहि भामी कहा, उठी अचानक रोय॥१२०॥

इति परकीयानरूपणम्।

अथ गणिका को लक्षण—(दोहा)

करै और सों रति रमनि, इक धन ही के हेत ।
गनिका ताहि बखानहीं, जे कवि सुमति-निकेत ॥१२१॥

गणिका को उदाहरण—(कवित्त)

आरस सो आरत सँभारत न सीस-पट,
गजब गुजारत गरीबन की धार पर ।
कहै 'पद्माकर' सुगंध सरसावै सुचि,
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर ॥
छाजति छबीली छिति छहरि छरा को छोर,
भोर उठि आई केलि-मंदिर के द्वार पर ।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज, एक कर है किवार पर ॥१२२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

तन सुबरन सुबरन बसन, सुबरन उकति उछाह ।
धनि सुबरन-मै ह्वै रही, सुबरन ही की चाह ॥१२३॥

इति गणिका ।

अथ त्रिविध नायिका—(दोहा)

प्रथम कही जे नायिका, ते सब त्रिविध विचार ।
अन्यसुरति-दुखिता सु इक, मानवती पुनि नारि ॥१२४॥
फिरि बक्रोकति-गर्विता, इहि विधि भिन्न प्रकार ।
तिन के लच्छन लक्ष्य सब, भाषत मति-अनुसार ॥१२५॥

अन्यसुरति-दुःखिता को लक्षण

प्रीतम-प्रीति-प्रतीति जो, और तिया तन पाइ ।
दुखित होइ सो जानिये, अन्यसुरति-दुखिताइ ॥१२६॥

अन्यसुरति-दुःखिता को उदाहरण—(कवित्त)

बोलति न काहे ए री ? पूछे बिन बोलौं कहा,
पूछति हौं कहा भई खेद-अधिकाई है ? ।
कहै 'पदमाकर' सु मारग के गये-आये,
साँची कहु मो सों आज कहाँ गई-आई है ? ॥
गई-आई हौं तो पास साँवरे के, कौन काज ?,
तेरे लिये ल्यावन सु तेरिय दुहाई है ।
काहे तें न ल्याई फिरि मोहन बिहारी जू कों ?
कैसे वाहि ल्याऊँ ? जैसे वा को मन ल्याई है ॥१२७॥

पुनर्यथा—

धोइ गई केसरि कपोल कुच गोलन की,
पीक-लीक अधर-अमोलनि लगाई है ।
कहै 'पदमाकर' त्यों नैन हूँ निरंजन भे,
तजत न कंप देह पुलकनि । छाई है ॥
बाद मति ठानै झूठवादिन भई री अब,
दूतिपनो छोड़ि धूतपन में सुहाई है ।
आई तोहि पीर न पराई महापापिन तू,
पापी लौं गई न कहूँ वापी न्हाइ आई है ॥१२८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

खान-पान सय्या-सयन, जासु भरोसे आइ ।
करै सो छल अलि आप सों, ता सों कहा बसाइ ॥१२९॥

मानिनी को लच्छण

पिय सों करै जु मान तिय, वहै मानिनी जान ।
ता को कहत उदाहरनें, दोहा-कवित बखान ॥१३०॥

मानिनी को उदाहरण—(सवैया)

मोहि तुम्हैं न उन्हैं न इन्हैं मनभावती कों सु मनावन ऐहै ।
त्यों 'पदमाकर' मोरन को सुनि सोर कहौ नहिं को अकुलैहै ॥
धीर धरौ किन मेरे गुबिंद घरीक में जो था घटा घहरैहै ।
आपुहि तें तजि मान तिया हरुवै-हरुवै गरुवै लगि जैहै ॥१३१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

और तजे तौर हु तजे, भूषन अमल अमोल ।
तजन कह्यो न सुहाग में, अंजन तिलक तमोल ॥१३२॥

गर्विता के भेद

वह वक्रोक्ति-गर्विता, द्विविध कहत रस-धाम ।
प्रेमगर्बिता एक, पुनि रूप - गर्बिता नाम ॥१३३॥

द्विविध गर्विता के लक्षण

करै प्रेम को गर्व जो, प्रेमगर्बिता नारि ।
रूपगर्बिता होत वह, रूप - गर्ब कों धारि ॥१३४॥

प्रेमगर्विता को उदाहरण—(सवैया)

मो बिन माइ न खाइ कछू 'पदमाकर' त्यों भई भाभी अचेत है ।
बीरन आये लिवाइबे कों तिन की मृदुबानि हू मानि न लेत है ॥
प्रीतम को समुझावति क्यों नहीं, ये सखी तू जु पै राखति हेत है ।
और तौ मोहि सबै सुख री, दुख री यहै माइके जान न देत है॥१३५॥

पुनर्यथा—

हौं अलि आज बड़े तरके भरि कै घट गोरस कौं पग धारो ।
त्यों कब को धौं खरो री हुतो 'पदमाकर' मो हित मोहनीवारो ॥
साँकरी खोरि में काँकरी की करि चोट चलो फिर लौटि निहारो ।
ता खिन तें इन आँखिन तें न कढ़्यो वह माखन चाखनहारो ॥१३६

पुनर्यथा—(दोहा)

कछु न खाति अनखाति अति, विरह-बरी बिललाति ।
अरी सयानी सौति की, विपति कही नहिं जाति ॥१३७॥

रूपगर्विता को उदाहरण—(सवैया)

है नहिं माइको मेरो भटू यह सासुरो है सब की सहिबो करौ ।
त्यों 'पद्माकर' पाइ सोहाग सदा सखियान हु कों चहिबो करौ ॥
नेह-भरी बतियाँ कहि कै नित सौतिन की छतियाँ दहिबो करौ ।
चंदमुखी कहें ह्वावो दुखी तो न कोऊ कहैगो सुखी रहिबो करौ ॥१३८

पुनर्यथा—(दोहा)

निरखि नैन, मृग-मीन-से उठीं सबै मिलि भाखि ।
पर-घर जाइ गँवाइ रिस, हौं आई रस राखि ॥१३९॥

इति त्रिविध नायिका ।

अथ दशविध नायिकाकथनम्—(दोहा)

प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता होइ ।
विप्रलब्ध, उत्कंठिता, वासकसज्जा जोइ ॥१४०॥
स्वाधिनपतिका हू कहत, अभिसारिका बखानि ।
प्रगट प्रवत्स्यत्प्रेयसी, आगतपतिका जानि ॥१४१॥
ये सब दसविध नायिका, कविन कहीं निरधारि ।
तिनके लच्छन लक्ष्य सब, क्रम तें कहत विचारि ॥१४२॥

प्रोषितपतिका को लक्षण

पिय जाको परदेस में, प्रोषितपतिका सोइ ।
उदित उदीपन तें जु, तन संतापित अति होइ ॥१४३॥

मुग्धा प्रोषितपतिका को उदाहरण—(कवित्त)

माँगि सिख नौ दिन की न्यौते गे गोविंद,
तिय सौ दिन समान छिन मान अकुलावै है ।

कहै 'पद्माकर' छपाकर छपाकर तें,
बदन-छपाकर मलीन मुरझावै है॥
बूझत जु कोऊ कै 'कहा री भयो तोहि',
तब और ही को औरै कछू बेदन बतावै है।
आँसू सकै मोचि न सँकोच-बस आलिन में,
चलही बिरह-बेलि दुलही दुरावै है॥१४४॥

पुनर्यथा—(सवैया)

बालम के बिछुरे ब्रजबाल को हाल कह्यो न परै कछु ह्यौं ही।
च्वै-सी गई दिन तीन ही में तब औधि लौं क्यों बचिहै छबि-छाँहीं॥
तीर-सो धीर समीर लगै 'पद्माकर' बूझि हू बोलति नाहीं।
चंद-उदौ लखि चंदमुखी मुखमंद ह्वै पैठति मंदिर माहीं॥१४५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

भरति उसासनि दृग भरति, करति गेह के काज।
पल-पल पर पीरी परति, परी लाज के राज॥१४६॥

मध्या प्रोषितपतिका को उदाहरण—(सवैया)

अब हैहै कहा अरविंद-सो आनन इंदु के हाथ हवाले पर्‌यो।
'पद्माकर' भाखें न भाखें बनै जिय ऐसे कछूक कसाले पर्‌यो॥
इक मीन बिचारो बिँध्यो बनसी पुनि जाल के जाइ दुसाले पर्‌यो।
मन तो मनमोहन के सँग गो तन लाज-मनोज के पाले पर्‌यो॥१४७

पुनर्यथा—(कवित्त)

ऊधत हौ डूबत हौ डगत हौ डोलत हौ,
बोलत न काहे प्रीति-रीतिन रितै चले।
कहै 'पद्माकर' त्यों उससि उसासन सों,
आँसू वे अपार आइ आँखिन इतै चले॥

औधि ही के आगम लौं रहत बनै तौ रही,
बीच ही क्यों बैरी बंध-बेदनि बितै चले।
ए रे मेरे प्रान कान्ह प्यारे के चलाचल में,
तब तौ चले न अब चाहत कितै चले ॥१४८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

रमन-आगमन औधि लौं, क्यों जिवाइयतु याहिं।
रहत कंठगत आधियै, आधी निकरति आहि ॥१४९॥

प्रौढ़ा प्रोषितपतिका को उदाहरण—(कवित्त)

लागत बसंत के सु पाती लिखी प्रीतम कों,
प्यारी परबीन है "हमारी सुधि आनबी।
कहै 'पदमाकर' इहाँ को यों हवाल,
बिरहानल की ज्वाल सो दवानल तें मानबी॥
ऊब को उसासन को पूरो परगास, सो तौ
निपट उसास पौन हू तें पहिचानबी।
नैनन को ढंग सो अनंग-पिचकारिन तें,
गातन को रंग पीरे पातन तें जानबी" ॥१५०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

बरषत मेह अछेह अति, अवनि रही जल पूरि।
पथिक तऊ तुव गेह तें, उठति भभूरनि धूरि ॥१५१॥

परकीया प्रोषितपतिका को उदाहरण—(सवैया)

न्यौते गये नँदलाल कहूँ सुनि बाल बिहाल वियोग की घेरी।
ऊतरु कौन हू के 'पदमाकर' दै फिरै कुंज-गलीन में फेरी॥
पावै न चैन सु मैन के बाननि होत छिनै-छिन छीन घनेरी।
बूझै जु कंत कहै तौ यहै तिय, पीठ पिराति है पाँसुरी मेरी॥१५२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

व्रिथित वियोगिनि एक तू, यों दुख सहत न काय।
ननद ! तिहारे कंत को, पंथ बिलोकत जाय ॥१५३॥

गणिका प्रोषितपतिका को उदाहरण—(सवैया)

बीर अबीर अभीरन को दुख भावैं बनै न बनै बिन भाषैं।
त्यों 'पद्माकर' मोहन-मीत के पाये सँदेस न आठयें पाखैं॥
आये न आप न पाती लिखी मन की मन ही में रही अभिलाषैं।
सीत के अंत बसंत लग्यो अब कौन के आगे बसंत लै राखैं॥१५४॥

पुनर्यथा—(दोहा)

पग अंकुस, कर में कमल, करि जु दियो करतार।
सु सखि सफल ह्वैहै तबहि, जब ऐहैं घर यार ॥१५५॥

खंडिता को लक्षण

अनत-रमे रति-चिन्ह लखि, पीतम के सुभ गात।
दुखित होइ सो खंडिता, बरनत मति-अवदात ॥१५६॥

मुग्धा खंडिता को उदाहरण—(कवित्त)

बैठी परजंक पै नवेली निरसंक जहाँ,
जागी जोति जाहिर जवाहिर की जागै ज्यों।
कहै 'पद्माकर' कहूँ तें नंद-नंदन हू,
औचक ही आइ अलसाइ प्रेम-पागै यों॥
झपकौं हैं पलनि पिया के पीक-लीक लखि,
सुकि मुरझाइ हू न नेक अनुरागै त्यों।
वैस ही मयंकमुखी लागत न अंक हुती,
देखि के कलंक जन ए री अंक लागै क्यों ? ॥१५७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

छिन गुन माल गोपाल-उर, क्यों पहिरी परभात ।
चकित-चित्त चुप ह्वै रही, निरखि अनोखी बात ॥१५८॥

मध्या खंडिता को उदाहरण—(कवित्त)

ख्याल मन-भाये कहूँ करि कै गोपाल, घरै
आये अति आलस मढ़ेई बड़े तरके ।
कहै 'पद्माकर' निहारि गजगामिनी के,
गजमुकतान के हिये पै हार दरके ॥
एते पै न आनन ह्वै निकसे बधू के बैन,
अधर उराहने सु दीबे-काज फरके ।
कंधन तें कंचुकी सुजान तें सु बाजूबंद,
पौंचन तें कंकन हरेई-हरे सरके ॥१५९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

रसिकराज आलस-भरे, खरे दृगन की ओर ।
कछुक कोप, आदर कछू, करत भावती भोर ॥१६०॥

प्रौढ़ा खंडिता को उदाहरण—(कवित्त)

खाये पान-बीरी-सी बिलोचन बिराजैं आज,
अंजन-अँजाये अधराधर अमी के हैं ।
कहै 'पद्माकर' गुनाकर गुबिंद देखौ,
आरसी लै अमल कपोल किन पीके हैं ॥
ऐसो अवलोकिबेई लायक मुखारबिंद,
जाहि लखि चंद-अरबिंद होत फीके हैं ।
प्रेम-रस पागि जागि आये अनुरागि, या तें
अब हम जानी कै हमारे भाग नीके हैं ॥१६१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

ताकि रहति छिन और तिय, लेत और को नाउँ ।
ए अलि ऐसे वलम की, बिविध भाँति बलि जाउँ ॥१६२॥

परकीया खंडिता को उदाहरण—(कवित्त)

ए हो ब्रजठाकुर ठगोरी डारि, कीन्ही तब
बौरी, बिन काज अब ताकी लाज मरिये ।
कहै 'पद्माकर' इते पै यो रँगीलो रूप,
देखे बिन देखे कहौ कैसे धीर धरिये ॥
अंक हू न लागी पै कलंकिनि कहाई या तें,
अरज हमारी एक याही अनुसरिये ।
साँझ के सवेरे दिन दसयें दिवारी फाग,
कबहूँ भले जु भले आइबो तो करिये ॥१६३॥

पुनर्यथा—(सवैया)

सीख न मानी सयानी सखीन की यों 'पदमाकर' कीनो मनै की ।
प्रीति करी तुम सों बजि कै सु बिसारि करी तुम प्रीति घनै की ॥
रावरी रीति लखी इमि साँवरे होति है संपति ज्यों सपने की ।
साँच हू ताको न होत भलो जो न मानत है कही चार जने की ॥१६४॥

पुनर्यथा—

साहस हू न कहूँ रुख आपनो भाषैं बनै न बनै बिन भाषैं ।
त्यों 'पदमाकर' यों मग में रँग देखति हौं कब को रुख राखैं ॥
वा विधि साँवरे रावरे की न मिलै मरजी न मजा न मजाखैं ।
बोलनि वा न बिलोकनि प्रीति की वा मन वे न रहीं अब आँखैं ॥१६५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

गन्यो न गोकुल कुल घनो, रमन रावरे हेत ।
सु तुम चोरि चित, चोर-लौं भोर दिखाई देत ॥१६६॥

गणिका खंडिता को उदाहरण—(कवित्त)

गोसपेंच कुंडल कलंगी सिरपेंच, पेंच-
पेंचन तें खैंचि बिन बेंचे वारि आये हौ ।
कहै 'पद्माकर' कहाँ वा भूरि जीवन की,
जा की पग-धूरि पगरी पै पारि आये हौ ॥
वे गुन के सार ऐसे बेगुन के हार अब,
मेरी मनुहार कौं वृथा ही धारि आये हौ ।
पासा-सार खेलि कित कौन मनुहारिन सौं,
जीति मनुहारि मनु हारि हरि आये हौ ॥१६७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

बड़े साह लखि हम करी, तुम सों प्रीति बिचारि ।
कहा जानि तुम करत हौ, हमैं और की नारि ॥१६८॥

कलहांतरिता को लक्षण

प्रथम कछू अपमान करि पिय को, फिरि पछिताय ।
कलहांतरिता नायिका, ताहि कहत कबिराय ॥१६९॥

मुग्धा कलहांतरिता को उदाहरण—(सवैया)

बारी बहू मुरझानी बिलोकि जिठानी करै उपचार कितीको ।
त्यों 'पद्माकर' ऊँची उसास लखें मुख सास को ह्वै रह्यो फीको ॥
एकै कहैं इन्हैं डीठि लगी, पर भेद न कोऊ लहै दुलही को ।
ह्वै कै अजान जो कान्ह सों कीन्हो गुमान भयो वहै ब्यान ही जी को१७०

पुनर्यथा—(दोहा)

प्रथम केलि तिय-कलह की, कथा न कछु कहि जाइ ।
अतन-ताप तन ही सहै, मन-ही-मन अकुलाइ ॥१७१॥

मध्या कलहांतरिता को उदाहरण—(कवित्त)

झालरनदार झुकि झूमत बितान बिछे,
गद्दव गलीचा अरु गुलगुली गिलमैं।
जगर-मगर 'पद्माकर' सु दीपन की,
फैली जगा-ज्योति केलि-मंदिर अखिल मैं॥
आवत तहाँई मनमोहन को लाज,
मैन जैसी कछू करी तैसी दिल ही की दिल मैं।
हेरि हरि बिलमैं, न लीन्ही हिल-मिल मैं,
रही हौं हाय मिल मैं प्रभा की झिलमिल मैं॥१७२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

'ल्यावौ पियहि मनाइ' यह, कह्यो चहति रहि जाति।
कलह-कहर की लहर में, परी तिया पछिताति॥१७३॥

प्रौढ़ा कलहांतरिता को उदाहरण—(कवित्त)

ए अलि इकंत पाइ पाइन परे हे आइ,
हौं न तब हेरी या गुमान बजमारे सों।
कहै 'पद्माकर' वै रूठि गे सु ऐसी भई,
नैनन तें नींद गई हाय के दुवारे सों॥
रैन-दिन चैन है न मैन है हमारे बस,
ऐन मुख सूखत उसास अनुसारे सों।
प्रानन की हान-सी दिखान-सी लगी है हाय,
कौन गुन जानि मान कीन्हो प्रानप्यारे सों॥१७४॥

पुनर्यथा—(दोहा)

घन घमंड पावस-निसा, सरवर लग्यो सुखान।
परखि प्रानपति जानि गो, तज्यो मानिनी मान॥१७५॥

परकीया कलहांतरिता को उदाहरण—(सवैया)

का सों कहा मैं कहौं दुख यों मुख सूखतई है पियूष पिये तें।
त्यों 'पदमाकर' या उपहास को त्रास मिटै न उसास लिये तें॥
व्यापी बिथा यह जानि परी मनमोहन-मीत सों मान किये तें।
भूलि हू चूक परै जो कहूँ तिहि चूक की हूक न जाति हिये तें॥१७६

पुनर्यथा—(दोहा)

मोहन-मीत सभीत गो, लखि तेरो सनमान।
अब सु दगा दै तू चल्यो, अरे मुद्दई मान॥१७७॥

गणिका कलहांतरिता को उदाहरण—(सवैया)

हीर के हार, हजारन को धन, देत हुते, सुख-से सरसाने।
हौं न लयो 'पद्माकर' त्यों अरु बोली न बोल सुधारस-साने॥
वे चलि ह्याँ तें गये अनतैं अब का हम आपनी बात बखाने।
आपने हाथ सों आपने पायँ पै पाथर पारि पस्यो पछिताने॥१७८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कहा देखि दुख दाहिये, कुमति कछू जो कीन।
छैल-छगूनी-छोर तें, छला न लीनो छीन॥१७९॥

विप्रलब्धा को लक्षण

पिय-बिहीन संकेत लखि, जो तिय अति अकुलाय।
ताहि बिप्रलब्धा कहत, सुकबिन के समुदाय॥१८०॥

मुग्धा विप्रलब्धा को उदाहरण—(कवित्त)

खेल को बहानो कै सहेलिन के संग चलि,
आई केलि-मंदिर लौं सुंदर मजेज पर।
कहै 'पदमाकर' तहाँ न पिय पायो तिय,
त्यों ही तन तै रही तमीपति के तेज पर॥

बाढ़त बिथा की कथा काहू सों कछू ना कही,
लचकि लता-लौं गई लाज ही की लेज पर।
बीरी परी बिथरि कपोल पर, पीरी परी,
धीरी परी, धाइ गिरी सीरी-परी सेज पर ॥१८१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

नवल गूजरी ऊजरी, निरखि ऊजरी सेज।
उदित उजेरी रैन को, कहि न सकत कछु तेज ॥१८२॥

मध्या विप्रलब्धा को उदाहरण—(कवित्त)

पूर अँसुवान को रह्यो जो पूरि आँखिन में,
चाहत बह्यो पै बढ़ि बाहिरै बहै नहीं।
कहै 'पद्माकर' सु धोखे हू तमाल-तरु,
चाहति गह्यो पै होइ गहब गहै नहीं॥
काँपि कदली-लौं या अली को अवलंब कहूँ,
चाहति लह्यो पै लोकलाजनि लहै नहीं।
कंत न मिले को दुख दारुन अनंत पाइ,
चाहति कह्यो पै कछू काहू सों कहै नहीं ॥१८३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सजन-बिहूनी सेज पर, परे पेखि मुकतान।
तबहि तिया को तन भयो, मनहु अधपक्यो पान ॥१८४॥

प्रौढ़ा विप्रलब्धा को उदाहरण—(कवित्त)

आई फाग खेलन गुबिंद सों अनंद-भरी,
जा को लसै लंक मंजु मखतूल-ताग-सो।
कहै 'पद्माकर' तहाँ न ताहि मिल्यो स्याम,
छिन में छबीली कों अनंग दह्यो दाग-सो॥

कौन करै होरी कोऊ गोरी समुझावै कहा,
नागरी कों राग लग्यो बिष-सो बिराग-सो ।
कहर-सी केसरि कपूर लग्यो काल-सम,
गाज-सो गुलाब लग्यो अरगजा आग-सो ॥१८५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

निरखि सेज रँग-रँग-भरी, लगी उसासैं लैन ।
कछु न चैन चित में रह्यो, चढ़त चाँदनी रैन ॥१८६॥

परकीया विप्रलब्धा को उदाहरण—(कवित्त)

गंजन सु गुंज लग्यो तैसो पौन-पुंज लग्यो,
दीप-मनि कुंज लग्यो गुंजन सों गजि कै ।
कहै 'पदमाकर' न खोज लग्यो ख्यालन को,
घालन मनोज लग्यो बीर तीर सजि कै ॥
सूलन सु बिंब लग्यो दूषन कदंब लग्यो,
मोहि न बिलंब लग्यो आई गेह तजि कै ।
भंजन मयंक लग्यो मीत हू न अंक लग्यो,
पंक लग्यो पायनि कलंक लग्यो भजि कै ॥१८७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

लखि सँकेत सूनो सुमुखि, बोली बिकल सभीति ।
कहो कहा किहि सुख लह्यो, करि कुमीत सों प्रीति ॥१८८॥

गणिका विप्रलब्धा को उदाहरण—(कवित्त)

निसि अँधियारी तऊ प्यारी परवीन चढ़ि,
माल के मनोरथ के रथ पै चली गई ।
कहै 'पदमाकर' वहाँ न मनमोहन सों,
भेट भई सटकि सहेट तें अली गई ॥

चंदन सों चाँदनी सों चंद सों चमेलिन सों,
और बनबेलिन के दलनि दली गई।
आई हुती छैल के छलै कौं छल-छंदन सों,
छैल तौ छल्यो न आपु छैल सों छली गई ॥१८९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

इत न मैन-मूरति मिल्यो, परत कौन विधि चैन।
धन की भई न धाम की, गई ऐस ही रैन ॥१९०॥

उत्कंठिता को लक्षण

लहि सँकेत सोचै जु तिय, रमन-आगमन - हेत।
ताही कों उतकंठिता, बरनत सुकवि सचेत ॥१९१॥

मुग्धा उत्कंठिता को उदाहरण—(सवैया)

सोचै अनागम-कारन कंत को मोचै उसासनि आँसु हू मोचै।
मोचै न हेरि हरा हिय को 'पदमाकर' मोचि सकै न सँकोचै॥
को चैत की इह चाँदनी तें अलि याहि निवाहि विथा अवलोचै।
लोचै परी सियरी परजंक पै बीती घरीन खरी-खरी सोचै ॥१९२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

अरे सु मो मन बावरे, इतहि कहा अकुलात।
अटकि अटा कित पति रह्यो, तितहि क्यों न चलि जात ॥१९३॥

मध्या उत्का को उदाहरण—(सवैया)

आये न कंत कहाँ धौं रहे भयो भोर चहै निसि जाति सिरानी।
यों 'पदमाकर' बूझयो चहै पर बूझि सकै न सँकोच की सानी॥
धारि सकै न उतारि सकै, गुनि हार-सिंगार हिये हहरानी।
सूल-से फूल लगे फर पै तिय फूलछरी-सी परी मुरझानी ॥१९४॥

पुनर्यथा—(दोहा)

अनत रमि रहे कंत क्यों, यह बूझन के चाय ।
सुमुखि सखी के श्रवन सों, मुख लगाय रहि जाय ॥१९५॥

प्रौढ़ा उत्का को उदाहरण—(कवित्त)

सौतिन के त्रास तैं रहे धौं और बास तैं,
न आये कौन गास तैं प्यौ करु सो तलास तैं ।
कहै 'पदमाकर' सुवास तैं जवास तैं,
सु फूलन की रास तैं जगी हैं महा सासतैं ॥
चाँदनी-विकास तैं सुधाकर-प्रकास तैं, न
राखत हुलास तैं, न लाव खसखास तैं ।
पौन करु आसतैं न जात उठि बास तैं,
अरी गुलाब-पास तैं सठात आसपास तैं ॥१९६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कियहु न मैं कबहूँ कलह, गह्यो न कबहूँ मौन ।
पिय अब लौं आयो न कत, भयो सु कारन कौन ॥१९७॥

परकीया उत्का को उदाहरण—(कवित्त)

फागुन में का गुन बिचारि ना दिखाई देत,
एवी बार लाई घन कानन में नाइ आउ ।
कहै 'पदमाकर' हितू जो है हमारी,
तो हमारे कहे बीर वहि धाम लगि धाइ आउ ॥
जोरि जो धरी है बेदरद के दुआरे होरी,
मेरी बिरहागि की उलूकन लौं लाइ आउ ।
एरी इन नैनन के नीर में अबीर घोरि,
बोरि पिचकारी चित-चोर पै चलाइ आउ ॥१९८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

तजत गेह अरु गेहपति, मोहि न लगी बिलंब।
हरि बिलंब लाई सु कब, क्यों नहिं कहत कदंब ॥१९९॥

गणिका उत्का को उदाहरण—(सवैया)

काहू कियो धौं, कहै, बस भावतो, काहू कहूँ धौं कछू छल छायो।
त्यों 'पदमाकर' तान-तरंगनि काहू किधौं रचि रंग रिझायो ॥
जानि परै न कछू गति आज की जा हित एतो बिलंब लगायो।
मोहन मो मन मोहिबे कौं किधौं मो मन को मनि-हार न पायो ॥२००

पुनर्यथा—(दोहा)

कहत सखिन सों ससिमुखी, सजि-सजि सकल सिँगार।
मो मन अटक्यो हार में, अटकि रह्यो कित यार ॥२०१॥

वासकसज्जा को लक्षण

साजहि सेज-सिँगार तिय, पिय-मिलाप के काज।
बासकसज्जा नायिका, ताहि कहत कबिराज ॥२०२॥

मुग्धा वासकसज्जा को उदाहरण—(कवित्त)

सोरह सिँगार कै नवेली की सहेलिन हूँ,
कीन्हीं केलि-मंदिर में कलपित केरै हैं।
कहै 'पदमाकर' सु पास ही गुलाब-पास,
खासे खसखास खुसबोइन की ढेरै हैं ॥
त्यों गुलाब-नीरन सों हीरन के हौज भरे,
दंपति मिलाप-हित आरती उजेरै हैं।
चोखी चाँदनी में बिछी चौसर, चमेलिन के,
चंदन की चौकी चारु चाँदी के चँगेरै हैं ॥२०३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

साजि सैन-भूषन-बसन, सब की नजर बचाइ।
रही पौढ़ि मिसि नींद के, दृग दुवार सों लाइ ॥२०४॥

मध्या वासकसज्जा को उदाहरण—(कवित्त)

सजि ब्रजबाल नंदलाल सों मिलै के लिये,
लगनि लगालगि में लमकि-लमकि उठै।
कहै 'पद्माकर' विराग-ऐसी चाँदनी-सी,
चारयो ओर चौकन में चमकि-चमकि उठै ॥
झुकि-झुकि झूमि-झूमि झिलि-झिलि झेलि-झेलि,
झरहरी झापन में झमकि-झमकि उठै।
दर-दर देखौ दरीखानन में दौरि-दौरि,
दुरि-दुरि दामिनी-सी दमकि-दमकि उठै ॥२०५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सुभ सिँगार साजे सबै, दै सखीन कों पीठि।
चली अधखुले द्वार लौं, खुली-अधखुली डीठि ॥२०६॥

प्रौढ़ा वासकसज्जा को उदाहरण—(कवित्त)

चहचही चहल चहूँधा चारु चंदन की,
चंद्रक-चुनीन चौक-चौकनि चढ़ी है आब।
कहै 'पद्माकर' फराकत फरसबंद, फहरि
फुहारन की फरस फबी है फाब ॥
मोद-मदमाती मनमोहन मिलै के काज,
साजि मनि-मंदिर मनोज-कैसी महताब।
गोल गुल गादी गुल गिलमैं गुलाब गुल,
गजक गुलाबी गुल गिंदुक गुले गुलाब ॥२०७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

यों सिँगार साजे सु तिय, को करि सकत बखान ।
रह्यो न कछु उपमान कौं, तिहूँ लोक में आन ॥२०८॥

परकीया वासकसज्जा को उदाहरण—(कवित्त)

सोसनी दुकूलनि दुराये रूप-रोसनी है,
बूटेदार घाँघरी की घूमनि घुमाइ कै ।
कहै 'पदमाकर' त्यों उन्नत उरोजन पै,
तंग अँगिया है तनी तनिन तनाइ कै ॥
छज्जन की छाँह छपि छैल के मिलै के हेत,
छाजति छपा में यों छबीली छबि छाइ कै ।
ह्वै रही खरी है छरी फूल की छरी-सी छपि,
साँकरी गली में फूल-पाँखुरी बिछाइ कै ॥२०९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

फूल-बिनन-मिस कुंज में, पहिरि गुंज को हार ।
मग निरखति नँदलाल को, सु बलि बार-ही-बार ॥२१०॥

गणिका वासकसज्जा को उदाहरण—(सवैया)

नीर के तीर, उसीर के मंदिर, धीर समीर जुड़ावत जीरे ।
त्यों 'पदमाकर' पंकज-पुंज पुरैनि के पात परे जनु पीरे ॥
ग्रीषम की क्यों गनै गरमी गज-गौहर चाह गुलाब-गँभीरे ।
बैठी वधू बनि बाग-बिहार में बार बगारि सिवार-से सीरे ॥२११॥

पुनर्यथा—(दोहा)

अमल अमोलिक लालमय, पहिरि विभूषन-भार ।
हरषि हिये पर तिय धस्यो, सुरुख सीप को हार ॥२१२॥

स्वाधीनपतिका को लक्षण

जा तिय के आधीन ह्वै, पीतम रहै हमेस।
सु स्वाधीनपतिका कही, कविन नायिका वेस ॥२१३॥

मुग्धा स्वाधीनपतिका को उदाहरण—(कवित्त)

चाह भयो चंचल हमारो चित नौल वधू,
तेरी चाल चंचल चितौनि में बसत है।
कहै 'पद्माकर' सु चंचल चितौनि हू तें,
झौमकि-चमकि झमकनि में फसत है॥
झौमकि-चमकि झमकनि तें सुरझि बेस,
नाहीं की गहनि माहिं आइ बिलसत है।
नाहीं की गहनि तें सु नाहीं को कहनि आयो,
नाहीं की कहनि तें सु नाहीं निकसत है ॥२१४॥

पुनर्यथा—(सवैया)

कबहूँ फिरि पाँव न देहौं इहाँ भजि जैहौं तहाँ जहाँ सूधी सहौ।
'पद्माकर' देहरी द्वार किवार लगे ललचैहो, न ऐसी चहौ॥
बहियाँ की कहा, छहियाँ न कहूँ छुवै पावहुगे लला लाज लहौ॥
चित चाहै कहौ न कहौ बतियाँ चतही रहौ हा-हा हमें न गहौ ॥२१५॥

पुनर्यथा—

सतरैबो करौ बतरैबो करौ इतरैबो करौ करौ जोई चहौ।
'पद्माकर' आनँद दीबो करौ रस लीबो करौ सुख सों उमहौ॥
कछू अंतर राखौ न राखौ चहौ पर या विनती इक मेरी गहौ।
अब ज्यों हिय में नित बैठो रहौ त्यों दया करि कै ढिग बैठी रहौ ॥२१६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

तुव अयानपन लखि भटू, लटू भये नँदलाल।
जब सयानपन पेखिहैं, तब धौं कहा हवाल ॥२१७॥

मध्या स्वाधीनपतिका को उदाहरण—(सवैया)

ता छिन तें रहे औरनि भूलि सु भूली कदंबन की परछाँहीं ।
त्यों 'पदमाकर' संग सखान को भूलि भुलाइ कला अवगाहीं ॥
जा छिन तें तू वसीकर मंत्र-सी मेली सु कान्ह के कानन माहीं ।
दै गलबाँहीं जु नाहीं करी वह नाहीं गुपाल कों भूलति नाहीं ॥२१८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

आधे-आधे दृगनि रति, आधे दृगनि सु लाज ।
राधे आधे वचन कहि, सुवस किये व्रजराज ॥२१९॥

प्रौढ़ा स्वाधीनपतिका को उदाहरण—(सवैया)

मो मुख धोरी दई सु दई सु रहो रचि साधि सुगंध घनेरौ ।
त्यों 'पदमाकर' केसरि-खौरि करी तौ करो सो सुहाग है मेरौ ॥
बेनी गुही तौ गुही मन-भावते मोतिन माँग सँवारि सबेरौ ।
और सिँगार सजे तौ सजो इक हार हहा हियरे मति गेरौ ॥२२०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

अंगराग औरै अँगनि, करत कछू बरजो न ।
पै मेहँदी न दिवाइहौं, तुम सों पगनि प्रबीन ॥२२१॥

परकीया स्वाधीनपतिका को उदाहरण—(कवित्त)

चमकि झरोखा ह्वै झमकि झुकि झाँकी बाम,
स्याम की विसरि गई खबरि तमासा की ।
कहै 'पदमाकर' चहूँघा चैत-चाँदनी-सी,
फैलि रही तैसियै सुगंध सुभ स्वासा की ॥
तैसी छवि तकत तमोर की तरौनन की,
वैसी छवि बसन की बारन की वासा की ।
मोतिन की माँग की मुखौ की मुसुक्यान हू की,
नैनन की नथ को निहारिबे की नासा की ॥२२२॥

मुग्धा अभिसारिका को उदाहरण—(सवैया)

किंकिनी छोरि छपाई कहूँ कहूँ बाजनी पायल पाँय तें नाई ।
त्यों 'पद्माकर' पात हु के खरके कहूँ काँपि उठै छवि छाई ॥
लाजहि तें गड़ि जाति कहूँ अड़ि जाति कहूँ गज की गति भाई ।
वैस की थोरी किसोरी हरें-हरें या बिधि नंदकिसोर पै आई ॥२२८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

केलिभवन नववेलि-सी, दुलही चलहि इकंत ।
बैठि रही चुप चंद लखि, तुमहिं बुलावति कंत ॥२२९॥

मध्या अभिसारिका को उदाहरण—(सवैया)

हूलें इते पर मैन-महावत लाज के आँदू परे गथि पाइन ।
त्यों 'पद्माकर' कौन कहै गति माते मतंगन की दुखदाइन ॥
ये अँग-अंग की रोसनी में सुभ सोसनी चीर चुभ्यो चितचाइन ।
जाति चली ब्रजठाकुर पै ठमका ठुमकी ठमकी ठकुराइन ॥२३०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

इक पग धरति सुमंद मग, इक पग धरति अमंद ।
चली जाति इहि बिधि सखी, मन-मन करत अनंद ॥२३१॥

प्रौढ़ा अभिसारिका को उदाहरण—(सवैया)

कौन है तू कित जाति चली बलि बीती निसा अधराति प्रमानै ?
हौं 'पद्माकर' भावती हौं निज भावते पै अब ही मुहि जानै ॥
तौ अलबेली अकेली डरै किन ?, क्यों डरौं ?, मेरी सहाय के लानै ।
है सखि संग मनोभव-सो भट कान लौं बान-सरासन-तानै ॥२३२॥

पुनर्यथा—(कवित्त)

घूँघट की घूमके सु झूमके जवाहिर के,
झिलमिल झालर की भूमि लौं झुलत जात ।

कहै 'पद्माकर' सुधाकरमुखी के
हीर-हारन में, सारन के तोम-से तुलत जात ॥
मंद-मंद हैकल मतंग-लौं चलेई, भले
भुजन-समेत भुज-भूपन डुलत जात ।
घाँघरे झकोरनि चहूँघा खोरि-खोरि हु में,
खूब खसबोइ के खजाने-से खुलत जात ॥२३३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

पग द्वै पर नूपुर सुभग, जनु अलापि सुर सात ।
पिय सों तिय-आगमन की, कही सु अगमन बात ॥२३४॥

परकीया अभिसारिका को उदाहरण—(कवित्त)

मौलसिरी मंजुल की गुंजन की कुंजन की,
मो सों घनस्याम कहि काम की कथै गयो ।
कहै 'पद्माकर' अथाइन कों तजि-तजि,
गोप-गन निज-निज गेह के पथ गयो ॥
सोच मति कीजै ठकुरानी हम जानी, चित
चंचल तिहारो चढ़ि चाह के रथै गयो ।
छोन न छपा कर छपाकरमुखी तू चल,
बदन छपा कर छपाकर अथै गयो ॥२३५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

चली प्रीति-बस मीत पै, मीत चल्यो तिय चाहि ।
भई भेंट अधबीच तहँ, जहाँ न कोऊ आहि ॥२३६॥

गणिका अभिसारिका को उदाहरण—(सवैया)

केसरि-रंग-रँगी सिर-ओढ़नी काननि कीन्हे गुलाब-कली हौ ।
भाल गुलाल-भर्यो 'पद्माकर' अंगनि भूपित भाँति भली हौ ॥

औरन कों छलती छिन में तुम जावी न औरन सों जु छली हौ।
फागु में मोहन को मन लै फगुवा में कहा अब लेन चली हौ ॥२३७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सही साँझ तें सुमुखि तू, सजि सब साज-समाज।
को अस बड़भागी जु है, चली मनावन-काज ॥२३८॥

दिवा अभिसारिका को उदाहरण—(कवित्त)

दिन कै किवार खोलि कीनो अभिसार, पै
न जानि परी काहू कहाँ जाति चली छल-सी।
कहै 'पद्माकर' न नाँक री सँकोरै जाहि,
काँकरी पगनि लगै पंकज के दल-सी ॥
कामद-सो कानन कपूर-ऐसी धूरि लगै,
पट-सो पहार नदी लागत है नल-सी।
घाम चाँदनी सो लगै चंद-सो लगत रवि,
मग मखतूल-सो मही हू मखमल-सी ॥२३९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सजि सारँग सारँगनयनि, सुनि सारँग बन माँह।
भर-दुपहर हरि पै चली, निरखि नेह की छाँह ॥२४०॥

कृष्णा अभिसारिका को उदाहरण—(सवैया)

साँवरी सारी सखी सँग साँवरी साँवरे धारि बिभूषन ध्वै कै।
त्यों 'पद्माकर' साँवरेई अँगरागनि आँगी रची कुच द्वै कै ॥
साँवरी रैन मे साँवरी पै घहरै घनघोर घटा छिति छ्वै कै।
साँवरी पाँमरी को दै खुही बलि साँवरे पै चली साँवरी ह्वै कै ॥२४१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कारी निसि कारी घटा, कचरति कारे नाग।
कारे कान्हर पै चली, अजब लगनि की लाग ॥२४२॥

शुक्ला अभिसारिका को उदाहरण—(कवित्त)

सजि ब्रजचंद पै चली यों मुखचंद जा को,
चंद-चाँदनी को मुख मंद-सो करत जात ।
कहै 'पद्माकर' त्यों सहज सुगंध ही के
पुंज, घन-कुंजन में कंज-से भरत जात ॥
धरति जहाँई-जहाँ पग है सु प्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ-सी ढुरत जात ।
हारन तें हीरे ढरैं सारी के किनारन तें,
बारन तें मुकुता हजारन झरत जात ॥२४३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

जुवति जुन्हाई सों न कछु, और भेद अवरेखि ।
तिय-आगम पिय जानि गो, चटक चाँदनी पेखि ॥२४४॥

प्रवत्स्यत्प्रेयसी को लक्षण

चलन चहै परदेस कौं, जा तिय को जब कंत ।
ताहि प्रवत्स्यत्प्रेयसी, कहत सुकवि मतिवंत ॥२४५॥

मुग्धा प्रवत्स्यत्प्रेयसी को उदाहरण—(सवैया)

बैन-भरी मरदै-सी पछोरति ज्यों-ज्यों घटा घन की गरजै री ।
त्यों 'पद्माकर' लाजन में न कहै दुलही हिय की दरजै री ॥
आली कहू की कछू करतार करै पै न याद सखी करजै री ।
[illegible] न [illegible] सखी मथुरै गइ होऊ न कान्हर सों बरजै री ॥२४६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

[illegible] बोल न कहि सकति बिकल, [illegible] मुख गात ।
मनमोहन के आगमन, सुनि पिय-गमन प्रभात ॥२४७॥

मध्या प्रवत्स्यत्प्रेयसी को उदाहरण—(सवैया)

गो-गृह-काज गुवालन के कहें देखिबे कौं कहूँ दूरि के खेरौ।
माँगि बिदा लई मोहिनी सों 'पद्माकर' मोहन होत सबेरौ॥
फेंट गही न गही बहियाँ न गरौ गहि गोबिंद गौन तें फेरौ।
गोरी गुलाब के फूलन को गजरा लै गुपाल की गैल में गेरौ॥२४८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सुनि सखीन मुख ससिमुखी, बलम जाहिँगे दूरि।
बूझ्यौ चहति बियोगिनी, जिय-ज्यावन की मूरि॥२४९॥

प्रौढ़ा प्रवत्स्यत्प्रेयसी को उदाहरण—(कवित्त)

सौ दिन को मारग तहाँ कौं बेगि माँगि बिदा,
प्यारी 'पद्माकर' प्रभात राति बीते पर।
सो सुनि पियारी पिय-गमन बराइबे कौं,
आँसुन अन्हाई बैठि आसन सु तीते पर॥
बालम बिदेस तुम जात हौ तौ जाउ, पर
साँची कहि जाउ कब ऐहौ भौन-रीते पर?
पहर के भीतर कै दो पहर भीतर ही,
तीसरे पहर कैधौं साँझ ही बितीते पर॥२५०॥

पुनर्यथा—(सवैया)

जात हैं तौ अब जान दै री छिन में चलिबे की न बात चलैहैं।
जौ 'पद्माकर' पौन के झूँकनि कैलिया-कूकनि लौं सहि लैहैं॥
वे उलहे बन-बाग-बिहार निहारि-निहारि जबै अकुलैहैं।
जैहैं न फेरि फिरे घर ऐहैं सु गाँउ तें बाहर पाँउ न दैहैं॥२५१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

असन चले आँसू चले, चले मैन के बान।
रमन-गमन सुनि सुख चले, चलत चलैंगे प्रान॥२५२॥

परकीया प्रवत्स्यत्प्रेयसी को उदाहरण—(सवैया)

जो उर-मार नहीं झरसी मृदु मालती-माल वहै मग नाखै।
नेहवती जुवती 'पद्माकर' पानी न पान कछू अभिलाखै॥
झाँकि झरोखे रही कब की दबकी वह बाल मनै-मन भाखै।
कोऊ न ऐसो हितू हमरो जु परोसिन के पिय कौं गहि राखै॥२५३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

ननद ! चाह सुनि चलन की, बरजति क्यों न सुकंत।
आवत बन बिरहीन को, बैरी बधिक वसंत॥२५४॥

गणिका प्रवत्स्यत्प्रेयसी को उदाहरण—(सवैया)

आँखिन के अँसुवान ही सों निज धाम ही धाम धरा भरि जैहै।
त्यों 'पद्माकर' धीर समीरनि जीय घनी कछु क्यो धरि जैहै॥
जौ तजि मोहि चलौगे कहूँ तो इतौ बिरहागिनि या अरि जैहै।
जैहै कहा कछु रावरे को हमरे हिय को तो हरा हरि जैहै॥२५५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

फबत फाग फजिहत घड़ी, चलन चहत जदुराय।
को फिरि जाँचि रिझाइमी, धुनि धमार की गाय॥२५६॥

आगतपतिका को लक्षण

आवत बलम बिदेस तें, हरषित होत जु बाम।
आगतपतिका नाइका, ताहि कहत रसधाम॥२५७॥

मुग्धा आगतपतिका को उदाहरण—(कवित्त)

कान सुनि आगम सुजान प्रानप्रीतम को,
आनि सखियान सजी सुंदरि के आस-पास।
कहै 'पद्माकर' सु पन्नन के हौज हरे,
ललित लबालब भरे हैं जल बास-बास॥

गूँदि गेंदे गुल गज-गौहरनि गंज, गुल
गुपत गुलाबी गुल-गजरे गुलाबपास।
खासे खसबीजनि सुपौन पौनखाने खुले,
खस के खजाने खसखाने खूब खास-खास ॥२५८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

आवत लेन दुरागमन रमन, सुनत यह बानि।
हरष-छुपावन-हित भट्रू, रही पौढ़ि पट तानि ॥२५९॥

मध्या आगतपतिका को उदाहरण—(सवैया)

नँदगाँव तें आइ गो नंदलला लखि लाड़िली ताहि रिझाइ रही।
मुख घूँघट घालि सकै नहिं माइके माइ के पीछे दुराइ रही॥
उचके कुच-कोरन की 'पदमाकर' कैसी कछू छबि छाइ रही।
ललचाइ रही सकुचाइ रही सिर नाइ रही मुसुक्याइ रही ॥२६०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

बिछुरि मिले पिय तीय कों, निरखति सुमुखि सरूप।
कछु उराहनो देन कों, फरकत अधर अनूप ॥२६१॥

प्रौढ़ा आगतपतिका को उदाहरण—(कवित्त)

आजु दिन कान्ह-आगमन के बधाये सुनि,
छाये मग फूलनि सुहाये थल-थल के।
कहै 'पदमाकर' त्यों आरती उतारिबे कौं,
थारन में दीप हीरा-हारन के छलके॥
कंचन के कलस भराये भूरि पन्नन के,
ताने तुंग तोरन तहाँई झलाझल के।
पौरि के दुवारे तें लगाइ केलिमंदिर लौं,
पदमिनी पाँवड़े पसारे मखमल के ॥२६२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

आवत कंत विदेस तें, हौं ठानहुँ मुद मान।
मानहुँगी जब करहिंगे, पुनि न गमन की आन ॥२६३॥

परकीया आगतपतिका को उदाहरण—(सवैया)

एकै चले रस गोरस लै अरु एकै चले मग फूल बिछावत।
त्यों 'पद्माकर' गावत गीत सु एकै चले उर आनँद छावत॥
यों नँदनंद निहारिवे कों नँदगाँव के लोग चले सब धावत।
आवत कान्ह बने बन तें घर प्रान परै-से परोसिनि आवत ॥२६४॥

पुनर्यथा—(दोहा)

रसनि-रंग औरै भयो, गयो बिरह को सूल।
आयो नैहर सों जु सुनि, बद्दै वैद रसमूल ॥२६५॥

गणिका आगतपतिका को उदाहरण—(सवैया)

आवत नाह उछाह-भरे अवलोकिवे कों निज नाटकसाला।
हौं नचि गाइ रिझावहुँगी 'पद्माकर' त्यों रचि रूप रसाला॥
ए सुक मेरे सु मेरे कहैं त्यों इते कहि बोलियो बैन बिसाला।
कंत बिदेस रहे हौ जिते दिन देहु तिते मुकुतान की माला ॥२६६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

वे आये ल्याये कहा, यह देखन के काज।
सखिन पठावति ससिमुखी, सजति आपनो साज ॥२६७॥

इति दशविध नायिका।

अथ नायिका के अन्य भेद—(दोहा)

त्रिविध कहीं ये सब तिया, प्रथम उत्तमा मानि।
बहुरि मध्यमा दूसरी, तीजी अधमा जानि ॥२६८॥

उत्तमा को लक्षण

सुपिय-दोष लखि-सुनि जु तिय, धरै न हिय में रोष ।
ताहि उत्तमा कहत हैं, सुकवि सबै निरदोष ॥२६९॥

उत्तमा को उदाहरण—(कवित्त)

पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोबिंद कों,
"श्रीयुत सलोने स्याम सुखनि सने रहौ ।
कहै 'पद्माकर' तिहारी छेम छिन-छिन
चाहियतु, प्यारे मन-मुदित घने रहौ ॥
बिनती इती है कै हमेस हू मुहै तौ निज,
पाइन की पूरी परिचारिका गने रहौ ।
याही में मगन मनमोहन हमारो मन,
लगनि लगाइ लाल मगन बने रहौ" ॥२७०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

धरति न नाह-गुनाह उर, लोचन करति न लाल ।
तिय पिय की छतियाँ लगी, बतियाँ करति रसाल ॥२७१॥

मध्यमा को लक्षण

पिय-गुनाह चित-चाह लखि, करै मान-सनमान ।
ताही तिय कों मध्यमा, भाषत सुकवि सुजान ॥२७२॥

मध्यमा को उदाहरण—(कवित्त)

मंद-मंद उर पै अनंद ही के आँसुन की,
बरसै सुबूँदैं मुकुतान ही के दानै-सी ।
कहै 'पद्माकर' प्रपंची पंचबान के सु,
कानन के मान पै परी त्यों घोर घानै-सी ॥

ताजी त्रिवलीन में विराजी छवि छाजी सबै,
राजी रोमराजी करि अमित उठानै-सी ।
सौहैं पेखि पी कों बिहँसौहैं भये दोऊ दृग,
सौहैं सुनि भौंहैं गईं ततरि कमानै-सी ॥२७३॥

पुनर्यथा—

जाके मुख सामुहे भयोई जो चहत मुख,
लीन्हो सो नवाइ डीठि पगनि अवाँगी री ।
बैन सुनिबे कों अति व्याकुल हुते जे कान,
तेऊ मूँदि राखे मजा मन हू न माँगी री ॥
झारि डाखो पुलक प्रसेद हू निवारि डाखो,
रोकि रसना हू त्यों भरी न कछू हाँगी री ।
एते पै रह्यो न मान मोहन लट्टू पै भट्ट,
टूक-टूक ह्वै कै त्यों छटूक भई आँगी री ॥२७४॥

पुनर्यथा—(दोहा)

रह्यो मान मन को मनहिं, सुनत कान्ह के बैन ।
बरजि-बरजि हारी तऊ, रुके न गरजी नैन ॥२७५॥

अधमा को लक्षण

ज्यों ही ज्यों पिय हित करत, त्यों-त्यों परति सरोष ।
ताहि कहत अधमा सुकवि, निठुराई की कोष ॥२७६॥

अधमा को उदाहरण—(सवैया)

हौं तरसाइ रिझाइबे कों रसराग कबित्तन की धुनि छाई ।
त्यों 'पद्माकर' साहस कै कबहूँ न विषाद की बात सुनाई ॥
सापने हू न कियो अपराध सु आपने हाथनि सेज बिछाई ।
त्यों परि पाइ मनाई जऊ तऊ पापिनि कों कछु पीर न आई ॥२७७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

मान ठानि बैठी इतौ, सुबस नाह निज हेरि ।
कबहुँ जु परबस होहि तौ, कहा करैगी फेरि ॥२७८॥

इति नायिकानिरूपणम् ।

अथ नायकनिरूपण

नायक को लक्षण—(दोहा)

सुंदर गुन - मंदिर युवा, युवति बिलोकैं जाहि ।
कविता-राग - रसज्ञ जो, नायक कहिये ताहि ॥२७९॥

नायक को उदाहरण—(कवित्त)

जगत-बसीकरन ही-हरन गोपिन के,
तरुन त्रिलोक में न तैसी सुंदराई है ।
कहै 'पद्माकर' कलान को कदंब,
अवलंबन सिँगार को सुजान सुखदाई है ॥
रसिक-सिरोमनि सुराग-रतनाकर है,
सील-गुन-आगर उजागर बड़ाई है ।
ठौर ठकुराई को जु ठाकुर ठसकदार,
नंद को कन्हाई-सो सु नंद को कन्हाई है ॥२८०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

दौरे को न बिलोकिवे, रसिक रूप अभिराम ।
सब सुखदायक साँच हू, लखिवे लायक स्याम ॥२८१॥

नायक के भेद

त्रिबिध सु नायक पति प्रथम, उपपति वैसिक और ।
जो बिधि सों ब्याह्यो तियनि, सोई पति सब ठौर ॥२८२॥

पति को उदाहरण—(सवैया)

मंडप ही में फिरै मँड़रात, न जात कहूँ तजि नेह को औनो।
त्यों 'पदमाकर' तोहि सराहत, बात कहै जु कछू कहूँ कौनो॥
ये बड़भागिनी तो-सी तुही बलि, जो लखि रावरो रूप सलौनो।
ब्याह ही तें भये कान्ह लटू, तब ह्वैहै कहा जब होहिगो गौनो॥२८३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

आई ग्वालि सु ससिमुखी, नखसिख रूप अपार।
दिन-दिन तिय-जोवन बढ़त, छिन-छिन पिय को प्यार॥२८४॥

नायक के अन्य भेद

सु अनुकूल दच्छिन बहुरि, सठ अरु धृष्ट बिचारि।
कहे कबिन प्रति-एक के, भेद पेखि कै चारि॥२८५॥

अनुकूल औ दच्छिण को लच्छण

जो पर-बनिता तें बिमुख, सोऽनुकूल सुखदानि।
जु बहु तियन कों सुखद सम, सो दच्छिन गुनखानि॥२८६॥

अनुकूल को उदाहरण—(सवैया)

एक ही सेज पै सोवत हैं 'पदमाकर' दोऊ महासुख-साने।
सापने मैं तिय मान कियो यह देखि पिया अति ही अकुलाने॥
जागि परे पै तऊ यह जानत पौढ़ि रही हम सों रिस-ठाने।
प्रानपियारी के पा परि कै करि सौंह गरे की गरे लपटाने॥२८७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

मनमोहन-तन घन सघन, रमनि राधिका मोर।
श्रीराधा-मुखचंद को, गोकुलचंद चकोर॥२८८॥

दच्छिण को उदाहरण—(कवित्त)

देखि 'पदमाकर' गोविंद कों, अनंद-भरी
आई सजि साँझ ही तें हरषि हिलोरे मैं।

ए हरि हमारेई हमारे चलो झूलन कों,
हेम के हिंडोरनि झुलान के झकोरे में ॥
या विधि बधून के सुबैन सुनि बनमाली,
मृदु मुसुक्याइ कह्यो नेह के निहोरे में ।
कालिह चलि झूलेंगे तिहारेई तिहारी सौंह,
आज तुम झूलौ ह्याँ हमारेई हिंडोरे में ॥२८९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

निज-निज मन के चुनि सबै, फूल लेहु इक बार ।
यह कहि कान्ह कदंब की, हरषि हलाई डार ॥२९०॥

धृष्ट को लक्षण

धरै लाज उर में न कछु, करै दोष निरसंक ।
टरै न टारें कैस हूँ, कह्यो धृष्ट सकलंक ॥२९१॥

धृष्ट को उदाहरण—(सवैया)

ठानै मजा अपने मन की उर आनै न रोष हू दोष दिये को ।
त्यों 'पद्माकर' जोवन के मद पै मद है मधुपान किये को ॥
राति कहूँ रमि आयो घरै उर मानै नहीं अपराध किये को ।
गारि दै मारि दै टारत भावती भावतो होत है हार हिये को ॥२९२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

जदपि न बैन उचारियतु, गहि निवारियतु बाँह ।
तदपि गरेई परत है, गजब गुनाही नाँह ॥२९३॥

शठ को लक्षण

स-हित काज मधुरै-मधुर, बैननि कहै बनाय ।
उर-अंतर घट कपटमय, सो सठ नायक आय ॥२९४॥

शठ को उदाहरण—(सवैया)

करि फंद कों मंद दुचंद भई फिरि दाखन के उर दागती हैं।
'पदमाकर' स्वादु सुधा तें सिरै मधु तें महा माधुरी जागती हैं॥
गनती कहा ए री अनारन की ये अँगूरन तें अति पागती हैं।
तुम बातें निसौठी कहौ रिस में मिसिरी तें मिठी हमें लागती हैं॥२९५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

हौं न कियो अपराध बलि, वृथा तानियतु भौंह।
तुव उरसिज-हर परसि कै, करत रावरी सौंह॥२९६॥

उपपति औ वैशिक को लक्षण

उपपति ताहि बखानहीं, जु परबधू को मीत।
बारबधुन को रसिक, सो वैसिक अलज अभीत॥२९७॥

उपपति को उदाहरण—(सवैया)

आछे किये कुच कंचुकी में घट में भट-कैसे घटा करिबे कौं।
मो दृग दू पै किये 'पदमाकर' तो दृग छूट छटा करिबे कौं॥
कीजै कहा विधि की विधि कों दियो दारुन लोटपटा करिबे कौं।
मेरो हियो कटिबे कौं कियो तिय तेरो कटाछ कटा करिबे कौं॥२९८॥

पुनर्यथा—

ऐसे कढ़े गन गोपिन के तन मानो मनोभव भाईं-से काढ़े।
त्यों 'पदमाकर' ग्वालन के डफ बाजि उठे गलगाजत गाढ़े॥
छाक-छके छलछाइन में छिक पावै न छैल छिनौ छवि बाढ़े।
केसरि लै मुख मींजिबे कों रस भीजत-से कर मींजत ठाढ़े॥२९९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

जाहिर जाइ सकै न वहँ, परछाइन के त्रास।
परे रहत नित कान्ह के प्रान, परोसिनि-पास॥३००॥

वैशिक को उदाहरण—(सवैया)

छोरत ही जु छरा के छिनौ-छिन छाये तहाँई उमंग मदा के।
त्यों 'पद्माकर' जे सिसकीन के सोर घनै मुख मोरि मजा के॥
दै धन धाम धनी अब तें मन ही मन मानि समान सुधा के।
बारि-बिलासिनी ती के जपै अखरा-अखरा नखरा-अखरा के॥३०१

पुनर्यथा—(दोहा)

हेरि ही-हरनि कांति वह, सुनि सी करनि सुभाँति।
दियो सौंपि मन ताहि तौ, धन की कहा बिसाति॥३०२॥

नायक के अन्य त्रिविध भेद

औरो तीनि प्रकार के, नायक-भेद बखान।
मानी सु बचनचतुर पुनि, क्रियाचतुर पहिचान॥३०३॥

मानी, वचनचतुर औ क्रियाचतुर को लक्षण

करै जु तिय पै मान पिय, मानी कहिये ताहि।
करै बचन की चातुरी, बचनचतुर सो आहि॥३०४॥
करै क्रिया सों चातुरी, क्रियाचतुर सो जानि।
इन के उदित उदाहरन, क्रम तें कहत बखानि॥३०५॥

मानी को उदाहरण—(सवैया)

बाल बिहाल परी कब की दबकी यह प्रीति की रीति निहारौ।
त्यो 'पद्माकर' है न तुम्हैं सुधि कीन्हो जो बैरी बसंत बगारौ॥
ता तें मिलौ मनभावती सो बलि ह्याँ तें इहा बच मानि हमारौ।
कोकिल की कलबानी सुने पुनि मान रहैगो न कान्ह तिहारौ॥३०६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

जगत जुराफा है जियत, तज्यो तेज निज भान।
रूस रहे तुम पूस में, यह धौं कौन सयान॥३०७॥

पुनर्यथा—

संयुत सुमन सुबेलि-सी, सेली - सी गुन-भाम।
लसत हवेली-सी सुघर, निरखि नवेली बाम ॥३०८॥

वचनचतुर को उदाहरण—(सवैया)

दाऊ न नंदबबा न जसोमति न्यौते गये कहूँ लै सँग भारी।
हौं हूँ इकै 'पद्माकर' पौरि में, सूनी परी बखरी निसि कारी॥
देखै न क्यों कढ़ि तेरे सु खेत पै धाइ गई छुटि गाइ हमारी।
ग्वाल सों बोलि गोपाल कह्यो सु गुवालिनि पै मनो मोहिनी डारी॥३०९

पुनर्यथा—(दोहा)

बिजन बाग सँकरी गली, भयो अँधेरो आइ।
कोऊ तोहि गहै जु इत, तौ फिरि कहा बसाइ॥३१०॥

क्रियाचतुर को उदाहरण—(सवैया)

आई सु न्यौति बुलाई भली, दिन चारि कों, जाहि गोपाल ही भावै।
त्यों 'पद्माकर' काहू कह्यो कै चलौ बलि बेगि ही सासु बुलावै॥
सो सुनि रोकि सकै क्यों तहाँ गुरु लोगन में यह न्यौत बनावै।
पाहुनी चाहै चल्यो जबहीं तबहीं हरि सामुहें छींकत आवै॥३११॥

पुनर्यथा—(दोहा)

जल-बिहार-मिस भीर में, लै बुमकी इक बार।
दह-भीतर मिलि परसपर, दोऊ करत बिहार॥३१२॥

प्रोषित को लक्षण

व्याकुल होइ जो बिरह-बस, बसि बिदेस में कंत।
ताही सों प्रोषित कहत, जे कोबिद बुधिवंत॥३१३॥

प्रोषित को उदाहरण—(कवित्त)

साँझ के सलोने घन सबुज सुरंगन सों,
कैसे कै अनग अंग-अंगनि सतावतो।

कहै 'पद्माकर' झकोर झिल्ली-सोरन को,
मोरन को महत न कोऊ मन ल्यावतो ।।
काहू बिरही की कही मानि लेतो जो पै दई,
जग में दई तो दयासागर कहावतो ।
पावस बनायो तो न बिरह बनावतो,
जो बिरह बनायो तो न पावस बनावतो ।।३१४।।

पुनर्यथा—(दोहा)

तजि बिदेस सजि वेस ही, निज निकेत में जाइ ।
कब समेटि भुज भेंटबी भामिनि हिये लगाइ ।।३१५।।

पुनर्यथा—

फिरि-फिरि सोचत पथिक यह, मेरो निरखि सनेह ।
तज्यो गेह निज गेहपति, त्यों न तजै कहुँ देह ।।३१६।।

पुनर्यथा—

बिकल बटोही बिरह-बस, यहै रह्यो चित चाहि ।
मिलै जु कहुँ पारस पर्यो, मुरकि मिलौं तो ताहि ।।३१७।।

ऊपर तीन दोहन में तीनौ नायक बर्नन कर्यो अर्थात् पति,
उपपति, वैसिक ।

अनभिज्ञ को लक्षण

बूझै जो न तियान के, ठानै बिबिध बिलास ।
सु अनभिज्ञ नायक कह्यो, वहै नायकाभास ।।३१८।।

अनभिज्ञ नायक को उदाहरण—(कवित्त)

नैनन हीं सैन करै बीरी मुख दैन करै,
लैन करै चुंबन पसारि प्रेम पाता है ।
कहै 'पद्माकर' त्यों चातुरी चरित्र करै,
चित्त करै सौंहैं जो बिचित्र रतिराता है ।।

हाव करै भाव करै विविध विभाव करै,
बूझै क्यौं न एते पै अबूझन को आता है।
ऐसी परवीनि को कियो जौ यह पूरुष तौ,
बीस-बिसे जानी महामूरुख विधाता है ॥३१९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

करि उपाव हारी जु मैं, सनमुख सैन बताइ।
समुझत क्यौं न इते हु पै, कहा कीजियतु, हाइ! ॥३२०॥

आलंबन को लक्षण

जाहि जबहिं आलंबि कै, उर उपजत रस-भाव।
आलंबन सु बिभाव कहि, बरनत सब कबिराव ॥३२१॥

श्रृंगार के आलंबन

आलंबन श्रृंगार के, कहे भेद समुझाइ।
सकल नायका नायकहि, लच्छन-लच्छ बनाइ ॥३२२॥

दर्शन के भेद

बरनत आलंबनहि में, दरसन चारि प्रकार।
श्रवन चित्र सुभ स्वप्न में, पुनि परतच्छ निहारि ॥३२३॥

दर्शन के लक्षण

इन चारिहु दरसनन के लच्छन, नाम प्रमान।
तिन के कहत उदाहरन, समुझहिं सबै सुजान ॥३२४॥

श्रवण-दर्शन को उदाहरण—(सवैया)

राधिका सों कहि आई जु तू सखि साँवरे की मृदु मूरति जैसी।
वा छिन तें 'पद्माकर' वाहि सुहात कछू न बिसूरति वैसी ॥
मानहु नीर-भरी घन की घटा आँखिन में रही आनि घनै-सी।
ऐसी भई सुनि कान्ह-कथा जु बिलोकहिगी तब होइगी कैसी ॥३२५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सुनत कहानी कान्ह की, तीय तजी कुल-कानि।
मिलन-काज लागी करन, दूतिन सों पहिचानि ॥३२६॥

चित्र-दर्शन को उदाहरण—(सवैया)

चित्र के मंदिर तें इक सुंदरी क्यों निकसै जिन्हैं नेह-नसा है।
त्यों 'पद्माकर' खोलि रही दृग बोलै न बोल अडोल दसा है ॥
भृंगी-प्रसंग तें भृंग ही होत जु पै जग में जड़ कीट महा है।
मोहन-मीत को चित्र लखें भई चित्र ही सी तौ बिचित्र कहा है ॥३२७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

हरषि उठति फिरि-फिरि परखि, फिरि परखति चख लाइ।
मित्र - चित्रपट कों तिया, उर सों लेति लगाइ ॥३२८॥

स्वप्न-दर्शन को उदाहरण—(सवैया)

सूने सँकेत में सोंधे-सनी सपने में नई दुलही तू मिलाई।
हौं हू गयो 'पद्माकर' दौरि सो भौंहैं मरोरति सेज लौं आई ॥
या मन की मन ही में रही जु समेटि तिया लै हिया सों लगाई।
आँखैं गई खुलि सौती सुनें सखी हाइ मैं नीबो न खोलन पाई ॥३२९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सुंदरि सपने में लख्यो, निसि में नंदकिसोर।
होत भोर लै दधि चली, पूछत सँकरी खोर ॥३३०॥

प्रत्यक्ष-दर्शन को उदाहरण—(सवैया)

आई भले हौं चली सखियान मैं पाई गोविंद के रूप की झाँकी।
त्यों 'पद्माकर' हार दियो गृहकाज कहा अरु लाज कहाँ की ॥
है नख तें सिख लौं मृदु माधुरी बाँकियै भौंहैं बिलोकनि बाँकी।
आज की या छबि देखि भटू अब देखिबे कों न रह्यो कछु बाकी ॥३३१

पुनर्यथा—(दोहा)

हौं लखि आई लखहुँगी, लखै न क्यों ब्रज-लोग।
निसि-दिन साँचहु साँवरो, दुगुन देखिबे जोग ॥३३२॥

इति श्रीकूर्मवंशावतंसश्रीमन्महाराजाधिराजराजेन्द्रश्रीसवाईम- हाराजजगतसिंहाज्ञया मथुरास्थायिमोहनलालभट्टात्मजकविपद्मा- करविरचिते जगद्विनोदनाम्नि काव्ये शृङ्गारालम्बनविभावप्रकरणम्।

अथ उद्दीपन-विभाव

लक्षण—(दोहा)

जिनहिं बिलोकत ही, तुरत रस-उद्दीपन होत।
उद्दीपन सु बिभाव है, कहत कबिन को गोत ॥३३३॥
सखा सखी दूती सु घन, उपवन षटऋतु पौन।
उद्दीपनहिं बिभाव में, बरनत कवि मतिभौन ॥३३४॥
चंद चाँदनी चंदन हु, पुहुप पराग समेत।
यों ही और सिंगार सब, उद्दीपन के हेत ॥३३५॥
कहे जु नायक के सबै, प्रथमहि बिबिध प्रकार।
अब बरनत हौं, तिनहिं के सचिव सखा जे चार ॥३३६॥

अथ सखा

पीठमर्द बिट चेट पुनि, बहुरि बिदूषक होइ।
मोनै मान तियान को, पीठमर्द है सोइ ॥३३७॥

पीठमर्द को उदाहरण—(कवित्त)

धूरि देखी धरनि धमारन की धूम देखी,
भूमि देखी भूषित सुघाई हुती लखि कै।
कहै 'पदमाकर' त्यों रंग-रंग भीजि देखी,
केसरि की कीच त्यों रंगों में ग्वाल गहि कै ॥

उड़त गुलाल देखौ तानन के ताल देखौ,
नाचत गोपाल देखौ लैहौ कहा दबि कै।
झेलि देखौ झरिप सकेलि देखौ ऐसो सुख,
मेलि देखौ मूठि खेलि देखौ फाग फबि कै ॥३३८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

हौं गोपाल पै भल चहत, तेरोई ब्रजबाल।
चलति क्यो न नँदलाल पै लै गुलाल रँग लाल ॥३३९॥

विट औ चेट को लक्षण

सु बिट बखानत हैं सुकवि, चातुर सकल कलान।
दुहुन मिलैबे में चतुर, वहै चेट उर आन ॥३४०॥

विट को उदाहरण—(सवैया)

पीतपटी लकुटी 'पद्माकर' मोरपखा लै कहूँ गहि नाखी।
यों लखि हाल गुवाल को ता छिन बालसखा सुकला अभिलाखी॥
कोकिल-कोकिल कैसी कुहू-कुहू कोमल कोक की कारिका भाखी।
रूसि रही ब्रजबाल के सामुहें आइ रसाल की मंजरी राखी॥३४१

पुनर्यथा—(दोहा)

हरि को मीत पढ़ीत इमि, गायो बिरह-बलाय।
परत कान तजि मान तिय, मिली कान्ह सों जाय ॥३४२॥

चेटक को उदाहरण—(सवैया)

साजि सँकेत में साँवरे को सु गयोई जहाँ हुती ग्वालि सयानी।
त्यों 'पद्माकर' बोलि कह्यो बलि बैठी कहा इत ही अकुलानी॥
तौ लौं न जाइ तहाँ पहिरै किन जौ लौं रिसात न सासु जिठानी।
हौं लखि आयौं निकुंज ही में परी कालिह जु रावरी माल हिरानी॥३४३

पुनर्यथा—(दोहा)

उतन ग्वालि तू कित चली, ये उनये घनघोर ।
हौं आयौं लखि तुव घरै, पैठत कारो चोर ॥३४४॥

विदूषक को लक्षण

स्वाँग ठानि ठानै जु कछु, हाँसी वचन-विनोद ।
कह्यो विदूषक सो सखा, कविन मानि मन मोद ॥३४५॥

विदूषक को उदाहरण—(सवैया)

फाग के द्यौस गोपालन ग्वालिनी कै इकठानि कियो मिसि काऊ।
त्यों 'पदमाकर' झोरि झमाइ सु दौरीं सबै हरि पै इकदाऊ ॥
ऐसे समै वहै भीत विनोदी सु नेसुक नैन किये डरपाऊ ।
लै हर-मूसर ऊसर ह्वै कहूँ आयो तहाँ बनि कै बलदाऊ ॥३४६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

फटि हलाइ हलकाइ कछु, अद्भुत ख्याल बनाइ ।
अस को जाहि न फाग में, परगट दियो हँसाइ ॥३४७॥

इति सखा ।

अथ सखी—(दोहा)

जिन सों नायक-नायिका, राखैं कछु न दुराव ।
सखी कहावैं ते सुघर, साँची सरल सुभाव ॥३४८॥
काज सखिन के चारि ये, मंडन सिक्षादान ।
उपालंभ परिहास पुनि, बरनत सुकवि सुजान ॥३४९॥
मंडन तियहि सिँगारिबो, सिक्षा विनय-विलास ।
उपालंभ सो उरहनो, हँसी करव परिहास ॥३५०॥

मंडन को उदाहरण—(सवैया)

माँग सँवारि सिँगारि सुवारनि वेनी गुही जु छवानि लौं छावै ।
त्यों 'पदमाकर' या विधि और हू साजि सिँगार जु स्याम कों भावै ॥

रीझै सखी लखि राधिका को रँग, जा अँग जो गहनो पहिरावै।
होत यों भूषित-भूषन गात ज्यों डाँकत ज्योति जवाहिर पावै ॥३५१

पुनर्यथा—(दोहा)

कहा करौं जौ आँगुरिन, अनी घनी चुभि जाइ।
अनियारे चख लखि, सखी कजरा देत डराइ ॥३५२॥

शिक्षा को उदाहरण—(सवैया)

झाँकति है का झरोखे लगी लग लागिबे कों इहाँ झेल नहीं फिर।
त्यों 'पद्माकर' तीखे कटाछन की सर कों सर-सेल नहीं फिर ॥
नैनन ही की घलाघल के घन घावन कों कछु तेल नहीं फिर।
प्रीति-पयोनिधि में धँसि कै हँसि कै कढ़िबो हँसी-खेल नहीं फिर ॥३५३

पुनर्यथा—(दोहा)

बहति लाज बूड़त सुमन, भ्रमत नैन तेहि ठाँव।
नेह-नदी की धार में, तू न दीजियो पाँव ॥३५४॥

उपालंभन को उदाहरण—(कवित्त)

ब्रज बहि जाइ ना कहूँ यों आइ आँखिन तें,
उमगि अनोखी घटा बरषति नेह की।
कहै 'पद्माकर' चलावै खान-पान की को,
प्रानन परी है आनि दहसति देह की ॥
चाहिए न ऐसी वृषभान की किसोरी तोहि,
देइबो दगा जो ठीक ठाकुर सनेह की।
गोकुल की कुल की न गैल की गोपालै सुधि,
गोरस की रस की न गोवन न गेह की ॥३५५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कौन भाँति आये निरखि, तुम तिहि नंदकिसोर।
भरभरात भामिनि परी, घरघरात घनघोर ॥३५६॥

परिहास को उदाहरण—(सवैया)

आई भले दुव चाल तू चातुर आतुर मोहन के मन भाई।
सौतिन की सरि कों 'पद्माकर' पाई कहाँ धौं इती चतुराई॥
मैं न सिखाई, सिखाई सु मैनहि यों कहि रैन की बात जताई।
ऊपर ग्वालि गुपाल तरे सु हरे हँसि यों तसवीर दिखाई॥३५७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

को तेरो यह साँवरो, यों बूझ्यो सखि आइ।
मुख तें कही न बात कछु, रही सुमुखि मुख नाइ॥३५८॥

इति सखी।

अथ दूती

लक्षण—(दोहा)

दूतपने में ही सदा, जो तिय परम प्रवीनि।
उत्तम मध्यम अधम हैं, सो दूती विधि तीनि॥३५९॥

उत्तमा दूती को लक्षण

हरै सोच उचरै वचन, मधुर-मधुर हित मानि।
सो उत्तम दूती कही, रस-ग्रंथन में जानि॥३६०॥

उत्तमा दूती को उदाहरण—(कवित्त)

गोकुल की गलिन-गलीन यह फैली बात,
कान्हैं नंदरानी वृषभानु-भौन ब्याहतीं।
कहै 'पद्माकर' यहाँई त्यों तिहारो चलै,
ब्याह को चलन, यहै साँवरो सराहतीं॥
सोचति कहा हौ कहा करिहैं चवाइन ये,
आनँद की अवली न काहे अवगाहतीं।
प्यारो उपपति तें सु होत अनुकूल,
तुम प्यारी परकीयातें स्वकीया होन चाहतीं॥३६१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कान्हि कलिंदी के निकट, निरखि रहे हौ जाहि।
आई खेलन फाग वह, तुम ही सो चित चाहि ॥३६२॥

मध्यमा दूती को लक्षण

कछुक मधुर कछु-कछु परुष, कहै बचन जो आइ ॥
ताही कों कबि कहत हैं, मध्यम दूती गाइ ॥३६३॥

मध्यमा दूती को उदाहरण—(सवैया)

बैन सुधा-से सुधा-सी हँसी वसुधा में सुधा की सटा करती हौ।
त्यों 'पदमाकर' बारहि बार सु बार बगारि लटा करती हौ ॥
बीर बिचारे बटोहिन पै बिन काज ही तौ यों छटा करती हौ।
बिज्जु-छटा-सी अटा पै चढ़ी सु कटाछनि घालि कटा करती हौ ॥३६४

पुनर्यथा—(दोहा)

कुंजभवन लौं आवते, कैसे सकहि सु आय।
जावक-रँग-भारनि भटू, मग में धरति न पाय ॥३६५॥

मध्यमा दूती को लक्षण

कै पिय सों कै तियहि सों, कहै परुष ही बैन।
अधमा दूती कहत हैं, ताही सों मति-ऐन ॥३६६॥

अधमा को उदाहरण—(सवैया)

ऐहै न फेरि गई जो निसा तनु-यौवन है धन की परछाहीं।
त्यों 'पदमाकर' क्यों न मिलै उठि यों निबहैगो न नेह सदा ही ॥
कौन सयान जो कान्ह सुजान सों ठानि गुमान रही मन माहीं।
एक जु कंज-कली न खिली तौ कहा कहूँ भौंर कों ठौर है नाहीं ? ॥३६७

पुनर्यथा—(दोहा)

कै गुमान गुन-रूप के, तैं न ठान गुनमान।
मनमोहन चित चढ़ि रहीं, तो-सी किती न आन ॥३६८॥

दूती के काज

द्वै दूती के काज ये, बिरह-निवेदन एक।
संघट्टन दूजो कह्यो, सुकविन सहित बिबेक ॥३६९॥
बिरहबियानि सुनाइबो, बिरह-निवेदन' जानि।
दोउन कों जु मिलाइबो, सो संघट्टन मानि ॥३७०॥

बिरह-निवेदन को उदाहरण—(कवित्त)

आई तजि हौं तौ ताहि तरनि-तनूजा-तीर,
ताकि-ताकि तारापति तरफति ताती-सी।
कहै 'पद्माकर' घरीक ही में घनस्याम,
काम तौ कतलबाज कुंजनि है काती-सी॥
याही छिन वाही सों न मोहन मिलौगे
जो पै, लगनि लगाइ एती अगिनि अबाती-सी।
रावरी दुहाई तौ बुझाई ना बुझैगी फेरि,
नेह-भरी नागरी की देह दिया-बाती-सी ॥३७१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

को जियावतो आजु लौं, बाढ़े बिरह-बलाय।
होती जु पै न तोहि-सी, वा की नेक सहाय ॥३७२॥

संघट्टन को उदाहरण—(कवित्त)

बासन की गिलमैं गलीचा मखतूलन के,
झपै झुमाऊ रही भूमि रंग-द्वारी मैं।
कहै 'पद्माकर' सुदीप मनि-मालन की,
लालन की सेज फूल-जालन सँवारी मैं॥
सैन-सैन निज छल-बल सों छपांकी पद,
दिनकर छपांहि कों मिलाइ दई प्यारी मैं।

छूटि भाजी कर तें सु करि कै बिचित्र गति,
चित्र-कैसी पूतरी न पाई चित्रसारी मैं ॥३७३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

गोरी कों जु गोपाल कों, होरी के मिस ल्याइ।
बिजन साँकरी खोरि में, दोऊ दिये मिलाइ ॥३७४॥

स्वयंदूती को लक्षण

आपुहि अपनो दूतपन, करै जु अपने काज।
ताहि स्वयंदूती कहत, ग्रंथन में कबिराज ॥३७५॥

स्वयंदूती को उदाहरण—(सवैया)

रूसि कहूँ कढ़ि माली गयो गई ताहि मनावन सासु उताली।
त्यों 'पद्माकर' न्हान नदी जे हुतीं सजनी सँग नाचनवाली ॥
मंजु महाछबि की कब की यह नीकी निकुंज परी सब खाली।
हौं यहि बाग की मालिनि हौं, इत आये भले तुम हौ बनमाली ॥३७६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

मोही सों किन भेंटि लै, जौ लौं मिलै न बाम।
सीतभीत तेरो हियो, मेरो हियो हमाम ॥३७७॥

इति दूती।

अथ षट्ऋतु-वर्णन

बसंत—(कवित्त)

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलिन-कलीन किलकंत है।
कहै 'पद्माकर' परागन में पौन हू में,
पानन में पिक में पलासन पतंग है ॥
द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में,
देखौ दीप-दीपन में दीपत दिगंत है।

बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरो बसंत है ॥३७८॥

पुनर्यथा—

और भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर-भीर,
और डौर भौरन में बौरन के ह्वै गये।
कहै 'पद्माकर' सु औरै भाँति गलियान,
छलिया छबीले छैल औरै छबि छ्वै गये।
औरै भाँति बिहँग-समाज में आवाज होति,
ऐसे ऋतुराज के न आज दिन द्वै गये।
औरै रस औरै रीति औरै राग औरै रंग,
औरै तन औरै मन औरै बन ह्वै गये ॥३७९॥

पुनर्यथा—

पात बिन कीन्हे ऐसी भाँति गन बेलिन के,
परत न चीन्हे जे ये लरजत लुंज हैं।
कहै 'पद्माकर' बिसासी या बसंत के,
सु ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं॥
ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भले
हरि सों, हमारे ह्याँ न फूले बन-कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं ॥३८०॥

पुनर्यथा—(सवैया)

ए ब्रजचंद चलौ किन वाँ ब्रज लूकैं बसंत की ऊकन लागीं।
त्यों 'पद्माकर' पेखौ पलासन पावक-सी मनो फूकन लागीं॥
वै ब्रजवारी बिचारी बधू बनवारी-हिये लौं सु हूकन लागीं।
कारी कुरूप कसाइनैं ये सु कुहू-कुहू कैलिया कूकन लागीं ॥३८१॥

ग्रीष्म—(कवित्त)

फहरै फुहार-नीर, नहर नदी-सी बहै,
छहरैं छबीन छाम छीटिन की छाटी हैं।
कहै 'पद्माकर' त्यों जेठ की जलाकैं तहाँ,
पावैं क्यों प्रवेस बेस बेलिन की बाटी हैं॥
बार हू दरीन बीच बार हू तरफ तैसी,
बरफ बिछाई ता पै सीतल-सु-पाटी हैं।
गजक अँगूर को अँगूर सों उचौहैं कुच,
आसव अँगूर को अँगूर ही की टाटी हैं॥३८२॥

पावस—

मल्लिकन मंजुल मलिंद मतवारे मिले,
मंद-मंद मारुत मुहीम मनसा की है।
कहै 'पद्माकर' त्यों नदन नदीन नित,
नागर नबेलिन की नजर नसा की है॥
दौरत दरेरौ देत दादुर सु दुंदै दीह,
दामिनी दमकंत दिसान में दसा की है।
बद्दलनि बुंदनि बिलोकौ बगुलान बाग,
बंगलान बेलिन बहार बरषा की है॥३८३॥

पुनर्यथा—

चंचला चमाकैं चहूँ ओरन तें चाह-भरी,
चरजि गई ती फेरि चरजन लागी री।
कहै 'पद्माकर' लवंगन की लोनी लता,
लरजि गई ती फेरि लरजन लागी री॥

कैसे धरौं धीर वीर त्रिविध समीरैं तन,
तरजि गईं ती फेरि तरजन लागी री।
घुमड़ि घमंड घटा घन की घनेरी अबै,
गरजि गई ती फेरि गरजन लागी री ॥३८४॥

पुनर्यथा—

बरसत मेह नेह सरसत अंग-अंग,
झरसत देह जैसे जरत जवासो है।
कहै 'पद्माकर' कलिंदी के कदंबन पै,
मधुपनि कीन्हो आइ महत मवासो है॥
ऊधौ यह ऊधम जताइ दीजौ मोहन कों,
ब्रज को सुवासो भयो अगिन-अवासो है।
पातकी पपीहा जलपान को न प्यासो,
काहू बिथित वियोगिनी के प्रानन को प्यासो है॥३८५॥

शरद्—

तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै,
वृंदावन वीथिन वहार वंसीवट पै।
कहै 'पद्माकर' अखंड रासमंडल पै,
मंडित उमंडि महा कालिंदी के तट पै॥
छिति पर छान पर छाजत छतान पर,
ललित लतान पर लाड़िली के लट पै।
आई भली छाई यह सरद-जुन्हाई, जिहि
पाई छवि आजु ही कन्हाई के मुकुट पै ॥३८६॥

पुनर्यथा—

खनक चुरीन की त्यों ठनक मृदंगन की,
रुनुक-झुनुक सुर नूपुर के जाल को।

कहै 'पदमाकर' त्यों बाँसुरी की धुनि मिलि,
रह्यो बँधि सरस सनाको एक ताल को ॥
देखतै बनत पै न कहत बनै [illegible]
बिबिध बिलास यों हुलास [illegible] पाल को।
चंद छबिरास चाँदनी को परकास, [illegible]
को मंदहास रासमंडल [illegible]ल को ॥३८७॥

हेमंत—

अगर की धूप मृगमद की सुगंध [illegible],
बसन बिसाल जाल अंग ढाँकियतु है।
कहै 'पदमाकर' सु पौन को न गौन जहाँ,
ऐसे भौन उमँगि उमंगि छाकियतु है॥
भोग औ सँयोग हित सुरत हिमंत ही में,
एते और सुखद सुहाय बाकियतु है।
तान की तरंग तरुनापन तरनि-तेज,
तेल तूल तरुनि तमोल ताकियतु है ॥३८८॥

शिशिर—

गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चाँदनी हैं चिक हैं चिरागन की माला हैं।
कहै 'पदमाकर' त्यों गजक गिजा हैं सजी,
सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला हैं॥
सिसिर के पाला को न ब्यापत कसाला तिन्हैं,
जिन के अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं बिनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं दुसाला हैं बिसाला चित्रसाला हैं॥३८९॥

इति श्रीकूर्मवंशावतंसश्रीमन्महाराजाधिराजराजेन्द्रश्रीसवाई-महाराजजगतसिंहाज्ञया मथुरास्थायिकविपद्माकरविरचितजगद्विनोदनामकाव्ये आलंबनविभावप्रकरणम् ।

अथ अनुभाव

लक्षण—(दोहा)

जिनहीं तें रति-भाव को, चित में अनुभव होत ।
ते अनुभव शृंगार के, बरनत हैं कविगोत ॥३९०॥
सात्विक भाव स्वभाव-धृत, आनँद अंग विकास ।
इनहीं तें रति-भाव को, परगट होत बिलास ॥३९१॥

अनुभाव को उदाहरण—(कवित्त)

गोरस को लूटिबो न छूटिबो छरा को गनै,
टूटिबो गनै न कछू मोतिन के माल को ।
कहै 'पद्माकर' गुवालिनि गुनीली हेरि,
हरषै हँसै यों कर झूठे-झूठे ख्याल को ॥
हाँ करति ना करति नेह की निसा करति,
साँकरी गली में रंग राखति रसाल को ।
दीबो दधिदान को सु कैसे ताहि भावत है,
जाहि मन भायो झारि झगरो गोपाल को ॥३९२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

मृदु मुसकाइ उठाइ भुज, छन घूँघुट उलटारि ।
को भनि ऐसो जाहि तू, इकटक रही निहारि ॥३९३॥

अथ सात्विक भाव

स्तंभ स्वेद रोमांच कहि, बहुरि कहत स्वरभंग ।
कंप बरन-वैवर्ण्य पुनि, आँसू प्रलय-प्रसंग ॥३९४॥

अंतरगत अनुभाव में, आठहु सात्विक भाव।
जंभा नवम बखानहीं, जे कबीन के राव ॥३९५॥

स्तंभ को लक्षण

हरष लाज भय आदि तें, जबै अंग थकि जात।
स्तंभ कहत वा सों सबै, रसग्रंथनि सरसात ॥३९६॥

स्तंभ को उदाहरण—(सवैया)

या अनुराग की फाग लखौ जहँ रागती राग किसोर-किसोरी।
त्यों 'पदमाकर' घाली घली फिरि लाल-ही-लाल गुलाल की झोरी॥
जैसी कि तैसी रही पिचकी कर काहू न केसरि-रंग में बोरी।
गोरिन के रँग भीजि गो साँवरो साँवरे के रँग भीजि गै गोरी ॥३९७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

पियहि परखि तिय थकि रही, बूझेउ सखिन निहारि।
चलति क्यों न ?, क्यों चलहु मग परत न पग रँग-भार॥३९८॥

स्वेद को लक्षण

रोष लाज डर हरष श्रम, इनहीं तें जो होत।
अंग-अंग जाहिर सलिल, स्वेद कहत कवि-गोत ॥३९९॥

स्वेद को उदाहरण—(कवित्त)

ए री बलबीर के अहीरन की भीरन में,
सिमिटि समीरन अबीर को अटा भयो।
कहै 'पदमाकर' मनोज मन मौजन ही,
मैन के हटा में पुनि प्रेम को पटा भयो॥
नेही नंदलाल की गुलाल की घलाघल में,
राजत पसीजि तन घन की घटा भयो।

चोरै चखचोटन चलाक चित्त चोरी भयो,
लूटि गई लाज कुलकानि को कटा भयो ॥४००॥

पुनर्यथा—(दोहा)

यों श्रम-सीकर सुमुख तें, परत कुचन पर बेस।
उदित चंद्र मुकताछ्वनि, पूजत मनहु महेस ॥४०१॥

रोमांच को लक्षण

सीत भीति हरषादि तें, उठै रोम समुदाय।
ताहि कहत रोमांच हैं, सुकविन के समुदाय ॥४०२॥

रोमांच को उदाहरण—(सवैया)

कैधौं डरी तू खरी जलजंतु तें कै अँगभार सिवार भयो है।
क नख तें सिख लौं 'पद्माकर' जाहिरै मार सिंगार भयो है॥
कैधौं कछू तोहि सीतविकार है ताही को या उदगार भयो है।
कैधौं सुवारि-विहारहि में तनु तेरो कदंब को हार भयो है ॥४०३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

पुलकित गात अन्हात यों, अरी खरी छवि देत।
उठे अंकुरे प्रेम के, मनहु हेम के खेत ॥४०४॥

स्वरभंग को लक्षण

हरष भीत मद क्रोध तें, वचन भाँति ही और।
होत जहाँ, स्वरभंग को बरनत कवि-सिरमौर ॥४०५॥

स्वरभंग को उदाहरण—(सवैया)

जाति हुती निज गोकुल कों हरि आयो तहाँ लखि कै मग सूना।
ता सों कह्यो 'पद्माकर' यों अरे साँवरे बावरे तैं हमैं छू ना॥
आज धौं कैसी भई सजनी उत वा बिध बोल कढ्योई कहूँ ना।
आनि लगायो हियो सों हियो भरि आयो गरो कहि आयो कछू ना ४०६

पुनर्यथा—(दोहा)

हौं जानत जो नाह तुम, बोलत अध-अखरान ।
संग लगे कहुँ और के, करि आये मदपान ॥४०७॥

कंप को लक्षण

हरषहि तें कै कोप तें, कै भ्रम भय तें गात ।
थरथरात वा सों कहत, कंप सुमति सरसात ॥४०८॥

कंप को उदाहरण—(सवैया)

साजि सिँगारनि सेज पै पारि भई मिस ही मिस ओट जिठानी ।
त्यों 'पदमाकर' आइ गो कंत इकंत जवै निज तंत में जानी ॥
सो लखि सुंदरि सुंदर सेज तें यों सरकी थिरकी थहरानी ।
बात के लागे नहीं ठहरात है ज्यों जलजात के पात पै पानी ॥४०९

पुनर्यथा—(दोहा)

थरथरात उर, कर कँपत, फरकत अधर सुरंग ।
फरकि पीउ पलकनि प्रगट, पीक-लीक को ढंग ॥४१०॥

वैवर्ण्य को लक्षण

मोहित तें कै क्रोध तें, कै भय ही तें जान ।
बरन होत जहँ और विधि, सो वैवर्न्य बखान ॥४११॥

वैवर्ण्य को उदाहरण—(सवैया)

आपने हूँ न लख्यो निसि में रतिभौन तें गौन कहूँ निज पी को ।
त्यों 'पदमाकर' सौति-सँजोगनि रोग भयो अनभावती-जी को ॥
हारन सों हहरात हियो मुकता सियरात सु बेसर ही को ।
भावते के उर लागी जऊ तऊ भावती को मुख ह्वै गयो फीको ॥४१२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कहि न सकत कछु लाज तें, अकथ आपनी बात ।
ज्यों-ज्यों निसि नियरात है, त्यों-त्यों तिय पियरात ॥४१३॥

अश्रु को लक्षण

हरष रोष अरु सोक भय, धूमादिक तें होत।
प्रगट नीर अँखियान में, अश्रु कहत कवि-गोत ॥४१४॥

अश्रु को उदाहरण—(कवित्त)

भेद बिन जाने एती वेदन बिसाहिबे कौं,
आज हौं गई ही बाट बंसीबटवारे की।
कहै 'पदमाकर' लटू है लोट-पोट भई,
चित्त में चुभी जो चोट चाय चटवारे की ॥
बावरी-लौं बूझति बिलोकति कहा तू,
बीर जानै कहा कोऊ पीर प्रेम-हटवारे की।
उमड़ि-उमड़ि बहै बरखै सु आँखिन है,
घट में बसी जो घटा पीतपटवारे की ॥४१५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

आँखिन तें आँसू उमड़ि, परत कुचन पर आन।
जनु गिरीस के सीस पर डारत भख मुकतान ॥४१६॥

प्रलय को लक्षण

तन-मन की न सँभार जहँ, रहै जीव-गत गोय।
सो सिंगार-रस में, प्रलय बरनत कवि सब कोय ॥४१७॥

प्रलय को उदाहरण—(सवैया)

ये नँदगाँव तें आये इहाँ उत आई सुता वह कौन हू ग्वाल की।
त्यों 'पदमाकर' होत जुराजुरी दोउन फाग करी यहि ख्याल की ॥
डीठि चली उन की इन पै इन की उन पै चली मूठि उताल की।
डीठि-सी डीठि लगी उन को इन के लगी मूठि-सी मूठि गुलाल की ।४१८

पुनर्यथा—(दोहा)

दै चख-चोट अँगोट मग, तजी युवति बन माहिं ।
खरी विकल कब की परी, सुधि सरीर की नाहिं ॥४१९॥

जंभा को लक्षण

पिय-बिछोह संमोह कै, आलस ही अवगाहि ।
छिन-छिन बदन बिकासिबो, जृंभा कहिये ताहि ॥४२०॥

जंभा को उदाहरण—(सवैया)

आरस सों रस सों 'पद्माकर' चौंकि परे चख चुंबन के किये ।
पीक-भरी पलकैं झलकैं अलकैं झलकैं छबि छूटि छटा लिये ॥
सो मुख भाखि सकै अब को रिसकै कसकै मसकै छतिया छिये ।
राति की जागी प्रभात उठी अँगरात जँभात लजात लगी हिये॥४२१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

दर-दर दौरति सदन-दुति, समसुगंध सरसाति ।
लखत क्यों न आलस-भरी, परी तिया जमुहाति ॥४२२॥

इति सात्त्विकभाववर्णनम् ।

अथ हाव

लक्षण—(दोहा)

अनुभावहि में जानिये, लीलादिक जे हाव ।
ते सँयोग श्रृंगार में, बरनत सब कविराव ॥४२३॥
प्रगट स्वभाव तियान के, निज सिँगार के काज ।
हाव जानिये ते सबै, यों भाषत कविराज ॥४२४॥
लीला प्रथम बिलास बिय, पुनि विच्छित्ति बखान ।
बिभ्रम किलकिंचित ललित, मोट्टायित पुनि जान ॥४२५॥
बिब्बोक हु पुनि बिहृत गनि, बहुरि कुट्टमित गाव ।
रसग्रंथन में ये दसहु, हाव कहत कविराव ॥४२६॥

लीला हाव को लक्षण

पिय तिय को तिय पीव को, धरै जु भूषन चीर।
लीला हाव बखानहीं, ताही को कबि धीर ॥४२७॥

लीला हाव को उदाहरण—(कवित्त)

रूप रचि गोपी को गोविंद गो तहाँई जहाँ,
कान्ह बनि बैठी कोऊ गोप की कुमारी है।
कहै 'पद्माकर' यों ऊलट कहै को कहा,
कसकै कन्हैया कर मसकै जु प्यारी है॥
नारी तें न होत नर, नर तें न होत नारी,
विधि के करे हूँ कहूँ काहू ना निहारी है।
काम-करता की करतूत या निहारी जहाँ,
नारी नर होत नर होत लख्यो नारी है ॥४२८॥

पुनर्यथा—(सवैया)

ये इत घूँघट घालि चलैं उत बाजत बाँसुरी की धुनि खोलैं।
त्यों 'पदमाकर' ये इतै गोरस लै निकसैं यों चुकावत मोलैं॥
प्रेम के पंथ सु प्रीति की पैठ में पैठत ही है दसा यह जो लैं।
राधामयी भई स्याम की सूरति स्याममयी भई राधिका डोलैं ॥४२९

पुनर्यथा—(दोहा)

तिय बैठी पिय को पहिरि, भूषन बसन बिसाल।
समुझि परत नहिं सखिन को, को तिय को नँदलाल ॥४३०॥

विलास हाव को लक्षण

जो तिय पियहि रिझावई, प्रगट करै बहु भाव।
सुकवि बिचारि बखानहीं, सो बिलास निधि हाव ॥४३१॥

बिलास हाव को उदाहरण—(कवित्त)

सोभित सुमनवारी सुमना सुमनवारो,
कौन हू सुमनवारी को नहिं निहारी है।
कहै 'पद्माकर' त्यों बाँधनू बसनवारी,
वा ब्रजबसनवारी ह्यो-हरनहारी है॥
सुबरनवारी रूप सुबरन वारी सजै,
सुबरनवारी काम-कर की सँवारी है॥
सीकरनवारी सेद-सीकरनवारी रति
सी करनवारी सो बसीकरन वारी है॥४३२॥

पुनर्यथा—(सवैया)

आई हौ खेलन फाग इहाँ वृषभानपुरी तें सखी सँग लीने।
त्यो 'पद्माकर' गावतीं गीत रिझावतीं भाव बताइ नवीने॥
कंचन की पिचको कर में लिये केसरि के रँग सों अँग भीने।
छोटी-सी छाती छुटी अलकैं अति बैस की छोटी बड़ी परबीने॥४३३

पुनर्यथा—(दोहा)

समुझि स्याम को सामुहे, कर तें बार बगार।
मनमोहन-मन हरन कों, लगी करन शृंगार॥४३४॥

बिच्छित्ति हाव को लक्षण

तनक सिँगारहि में जहाँ, तरुनि महा छबि देत।
सोई बिच्छिति हाव को, बरनत बुद्धि-निकेत॥४३५॥

बिच्छित्ति हाव को उदाहरण—(सवैया)

मानो मयंकहि के पर्यंक निसंक लसै सुत पंक महो को।
त्यों 'पद्माकर' जागि रह्यो जनु भाग हिये अनुराग जु पी को॥
भूषन भार सिँगारन सों सजि सौतिन को जु करे मुख फीको।
ज्योति को जाल बिसाल महा तिय भाल पै लाल गुलाल को टीको ४३६

पुनर्यथा—(दोहा)

जनु मलिंद अरबिंद-बिच, बस्यो चाहि मकरंद।
इमि इक मृगमद-बिंदु सों, किये सुबस ब्रजचंद ॥४३७॥

विभ्रम हाव को लक्षण

होत काज कछु को कछू, हरबराइ जिहि ठौर।
विभ्रम ता सों कहत हैं, हाव सबै सिरमौर ॥४३८॥

विभ्रम हाव को उदाहरण—(सवैया)

बछरै खरी प्याब गऊ तिहि को 'पद्माकर' को मन लावत है।
तिय जानि गिरैया गही बनमाल सु ऐंचे लला इँच्यो आवत है॥
उलटी करि दोहनी मोहनी की अँगुरी थन जानि कै दाबत है।
दुहिबो औ दुहाइबो दोउन को सखि देखत ही बनि आवत है ॥४३९

पुनर्यथा—(दोहा)

पहिरि कंठ-बिच किंकिनी, कस्यो कमर-बिच हार।
हरबराइ देखन लगी, कब तें नंदकुमार ॥४४०॥

किलकिंचित हाव को लक्षण

होत जहाँ इकबारही, त्रास हास रस, रोष।
ता सों किलकिंचित कहत, हाव सबै निर्दोष ॥४४१॥

किलकिंचित हाव को उदाहरण—(सवैया)

फागुन में मधुपान-समै 'पद्माकर' आइ गे स्याम सँघाती।
अंचल ऐंचि, उँचाय भुजा भरै, भूमि गुलाल की ख्याल सुहाती॥
फूठिहु दै झमकाइ तहाँ तिय झाँकी झुकी झमकी मदमाती।
रूसि रही घरी आधिक लौं तिय झारत अंग निहारत छाती ॥४४२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

चढ़त भौंह धरकत हियो, हरपत मुख मुसक्यात।
मदछाकी तिय कों जु पिय, छवि छकि परसत गात ॥४४३॥

ललित हाव को लक्षण

जहँ अंगन की छवि सरस, बरनत चलन चितौन।
ललित हाव ता कों कहत, जे कवि कविता-भौन ॥४४४॥

ललित हाव को उदाहरण—(कवित्त)

सजि ब्रजचंद पै चली यों मुखचंद जा को,
चंद चाँदनी को मुख मंद-सो करत जात।
कहै 'पदमाकर' त्यों सहज सुगंध ही के,
पुंज बन-कुंजन में कंज-से भरत जात॥
धरत जहाँई जहाँ पग है पियारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही के माठ-से ढरत जात।
बारन तें हीरा सेत सारी की किनारन तें,
हारन तें मुकता हजारन झरत जात ॥४४५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सजि सिँगार सुकुमार तिय, कुटिल सुढगनि दराज।
लखहु नाह आवत चली, तुमहि मिलन तकि आज ॥४४६॥

मोट्टायित हाव को लक्षण

सुनत भावते की कथा, भाव प्रगट जहँ होत।
मोट्टायित ता सों कहैं, हाव कबिन के गोत ॥४४७॥

मोट्टायित हाव को उदाहरण—(सवैया)

रूप दुहूँ को दुहून सुन्यो सु रहैं तब तें मनो संग सदा हीं।
ध्यान में दोऊ दुहून लखैं हरषैं अंग-अंग अनंग उछाहीं॥
मोहि रहे कब के यों दुहूँ 'पदमाकर' और कछू सुधि नाहीं।
मोहन को मन मोहनी में बस्यो मोहनी को मन मोहन माहीं ॥४४८

पुनर्यथा—(दोहा)

बसीकरन जब तें सुन्यो, स्याम तिहारो नाम।
दृगनि मूँदि मोहित भई, पुलकि पसीजति बाम ॥४४९॥

बिब्बोक हाव को लक्षण

करै निरादर ईठ को, निज गुमान गहि बाम।
कहत हाव बिब्बोक बहु, जे कवि मति-अभिराम ॥४५०॥

बिब्बोक हाव को उदाहरण—(सवैया)

केसरि-रंग महावर-से सरसै रस-रंग अनंग-चमू के।
धूम धमारन को 'पद्माकर' छाइ अकास अबीर के भूके॥
फाग यों लाडिली को तिहि में तुम्हें लाज न लागति गोप कहूँ के।
छैल भये छतियाँ छिरको फिरो कामरी ओढ़े गुलाल के दूके॥४५१

पुनर्यथा—(दोहा)

रह्यो देखि दृग दै कहा, तुहि न लाज कछु छूत।
मैं बेटी वृषभान की, तू अहीर को पूत ॥४५२॥

विहृत हाव को लक्षण

लाजनि बोलि सकै नहीं, पियहि मिले हू नारि।
बिहृत हाव ता सों सबै, कबिजन कहत बिचारि ॥४५३॥

विहृत हाव को उदाहरण—(सवैया)

सुंदरि को मनिमंदिर में लखि आये गोबिंद बने बड़भागे।
आनन-ओप सुधाकर-सी 'पद्माकर' जोबन-ज्योति के जागे॥
औचक ऐंचत अंचल के पुलकी अँग-अंगहि यों अनुरागे।
मैन के राज में बोलि सकी न भटू ब्रजराज सों लाज के आगे॥४५४॥

पुनर्यथा—(दोहा)

यह न बात आछी कछू, लहि यौवन-परगास।
लाजहि तें चुप ह्वै रहति, जो तू पिय के पास ॥४५५॥

कुट्टमित हाव को लक्षण

तन मर्दत पिय के तिया, दरसावत झुठ रोष।
याहि कुट्टमित कहत हैं, भाव सुकबि निर्दोष ॥४५६॥

कुट्टमित हाव को लक्षण—(कवित्त)

अंचल के ऐंचे चल करती दृगंचल कों,
चंचला तें चंचल चलै न भजि द्वारे को।
कहै 'पद्माकर' परै-सी चौंकि चुंबन में,
छलनि छपावै कुच-कुंभनि किनारे को॥
छाती के छुये पै परै राती-सी रिसाइ,
गलबाहीं के किये पै नाहिं-नाहिंयै उचारे को।
ह्री करति सीतल तमासे तुंग ती करति,
सी करति रति मे बसी करति प्यारे को ॥४५७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कर ऐंचत आवति इँची, तिय आपुहि पिय-ओर।
झूठिहु रूसि रहै छिनक, छुवत छरा को छोर ॥४५८॥

हेला हाव को लक्षण

दै जु ढिठाई नाह-सँग, प्रगटै बिबिध बिलास।
कहत ग्यारहों हाव सो, हेला नाम प्रकास ॥४५९॥

हेला हाव को उदाहरण—(सवैया)

फाग के भीर अभीरन में गहि गोविँदैं लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पद्माकर' ऊपर नाइ अबीर की झोरी॥
छीन पितंमर कंमर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी॥
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिरि आइयौ खेलन होरी ॥४६०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

हर बिरंचि नारद निगम, जाको लहत न पार।
ता हरि कों गहि गोपिका, गरथि गुहावत बार ॥४६१॥

बोधक हाव को लक्षण

ठानि क्रिया कछु तिय, पुरुष बोधन करै जु भाव।
रस-मंथन में कहत हैं, ता सों बोधक हाव ॥४६२॥

बोधक हाव को उदाहरण—(सवैया)

दोऊ अटान चढ़े 'पद्माकर' देखे दुहूँ को दुवो छबि छाई।
त्यों ब्रजबाल गोपाल वहाँ वनमाल तमालहि की दरसाई॥
चंद्मुखी चतुराई करी तब ऐसी कछू अपने मन भाई।
अंचल ऐंचि सरोजन तें नँदलाल कों मालती-माल दिखाई॥४६३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

निरखि रहे निधिवन-तरफ, नागर नंदकुमार।
सोरि हीर को हार तिय, लगी बगारन बार ॥४६४॥

इति श्रीकूर्मवंशावतंसश्रीमन्महाराजाधिराजराजेन्द्रश्रीसवाई महाराजजगतसिंहाज्ञया मथुरास्थायिमोहनलालभट्टात्मजकवि पद्माकरविरचितजगद्विनोदनामकाव्येऽनुभावप्रकरणम्।

अथ संचारी-भाव-वर्णन

(दोहा)

थाई भावन कों जिते, अभिमुख रहैं सिताब।
जे नव रस में संचरैं, ते संचारी भाव ॥४६५॥
थाई भावन में रहत, या बिधि प्रगटि बिलात।
ज्यों तरंग दरियाव में, उठि-उठि तितहि समात ॥४६६॥

थिर ह्वै थाई भाव, तब परिपूरन रस होत।
थिर न रहत रसरूप लौं, संचारिन को गोत ॥४६७॥
थाई संचारिकन को, है इतनोई भेद।
संचारिन के कहत हैं, तैंतिस नामनि वेद ॥४६८॥

(कवित्त)

कहि निरबेद ग्लानि संका त्यों असूया श्रम,
मद धृति आलस बिषाद मति मानिये।
चिंता मोह सुपन विबोध स्मृति अमरख,
गर्ब उतसुकता सु अवहित्थ ठानिये॥
दीनता हरष व्रीड़ा उग्रता सु निद्रा व्याधि,
मरन अपसमार आवेग हु आनिये।
त्रास उनमाद पुनि जड़ता चपलताई,
तैंतिसौ बितर्क नाम याही बिधि जानिये ॥४६९॥

(दोहा)

या बिधि संचारी सबै, बरनत हैं कबि लोग।
जे जेहि रस में संचरैं, ते तहँ कहिबे जोग ॥४७०॥

निर्वेद को लक्षण

उर उपजै कछु खेद लहि, बिपति ईरषाज्ञान।
ताही तें निज निदरिबो, सो निरबेद बखान ॥४७१॥
अति उसास अरु दीनता, बिबरन अश्रु-निपात।
निरबेद हु तें होत हैं, ये सुभाव निज गात ॥४७२॥

निर्वेद को उदाहरण—(सवैया)

यों मन लालची लालच में लगि लोभ-तरंगन में अवगाह्यो।
त्यों 'पद्माकर' देह के गेह के नेह के काज न काहि सराह्यो॥

पाप किये पै न पातकीपावन जानि कै राम को प्रेम निबाह्यो।
चाह्यो भयो न कछू कबहूँ जमराज हू सों वृथा बैर बिसाह्यो ॥४७३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

भयो न कोऊ होइगो, मो समान मतिमंद।
तजे न अब लौं बिषय-बिष, भजे न दसरथनंद ॥४७४॥

ग्लानि को लक्षण

भूखहि तें कि पियास तें, कै रतिश्रम तें भंग।
बिह्वल होत गलानि सों, कंपादिक स्वरभंग ॥४७५॥

ग्लानि को उदाहरण—(सवैया)

आजु लखी मृगनैनी मनोहर वेनी छुटी छहरै छबि छाई।
टूटे हरा हियरा पै परे 'पदमाकर' लीक-सी लंक लुनाई॥
कै रति-केलि सकेलि सुखै कलि केलि के भौन तें बाहिर आई।
राजि रही रति आँखिन में मन में धौं कहा तन में सिथिलाई॥४७६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सिथिल गात काँपत हियो, बोलत बनत न बैन।
करी खरी बिपरीत कहुँ, कहत रँगीले नैन ॥४७७॥

शंका को लक्षण

कै अपनी दुर्नीति, कै दुवन-क्रूरता मानि।
आवै उर में सोच अति, सो संका पहिचानि ॥४७८॥

शंका को उदाहरण—(कवित्त)

मोहि लखि सोवत बियोरि गो सुबेनी बनी,
तोरि गो हियो को हरा छोरि गो सुगैया को।
कहै 'पदमाकर' त्यों घोरि गो घनेरो दुख,
बोरि गो बिसासी आज लाज ही की नैया को॥

अहित अनैसो ऐसो कौन उपहास यहै,
सोचत खरी मैं परी जोवत जुन्हैया को।
बूझैंगी चवैया तब कैहौं कहा दैया, इत
पारिगो को मैया मेरी सेज पै कन्हैया को ॥४७९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

लगै न कहुँ ब्रजगलिन में, आवत-जात कलंक।
निरखि चौथ को चाँद यह, सोचति सुमुखि ससंक ॥४८०॥

असूया को लक्षण

सहि न सकै सुख और को, यहै असूया जान।
क्रोध गर्व दुख दुष्टता, ये सुभाव अनुमान ॥४८१॥

असूया को उदाहरण—(कवित्त)

आवत उसासी, दुख लगै, और हाँसी सुनि,
दासी उर लाइ कहो को नहिं दहा कियो।
कहै 'पद्माकर' हमारे जान ऊधो उन,
तात को न मात को न भ्रात को कहा कियो॥
कंकालिनि कूबरी कलंकिनि कुरूप तैसी,
चेटकिनि चेरी ताके चित्त को कहा कियो।
राधिका की कहबत कहि दीजो मोहन सों,
रसिक-सिरोमनि कहाइ धौं कहा कियो ॥४८२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

जैसे कों तैसो मिलै, तब ही जुरत सनेह।
ज्यों त्रिभंग तन स्याम को, कुटिल कूबरी-देह ॥४८३॥

मद को लक्षण

धन यौवन रूपादि तें, कै मदादि के पान।
प्रगट होत मद-भाव, तहँ औरै गति बतरान ॥४८४॥

मद को उदाहरण—(सवैया)

पूस-निसा में सु वारुनी लै बनि बैठे दुहूँ मद के मतवाले।
त्यों 'पद्माकर' झूमैं झुकैं घन घूमि रचे रस-रंग रसाले॥
सीत कों जीति अभीत भये सु गनै न सखी कछु साल-दुसाले।
छाक-छकी छवि ही कों पिये मद नैनन के किये प्रेम के प्याले ४८५

पुनर्यथा—(दोहा)

धनमद यौवनमद महा, प्रभुता को मद पाइ।
ता पर मद को मद जिन्हैं, को तेहि सकै सिखाइ॥४८६॥

श्रम को लक्षण

अति रति अति गति तें जहाँ, सु अति खेद सरसाइ।
सो श्रम तहाँ सुभाव ये, खेद उसास मनाइ॥४८७॥

श्रम को उदाहरण—(सवैया)

कै रति-रंग थकी थिर ह्वै परजंक में प्यारी परी सुख पाइ कै।
त्यों 'पद्माकर' स्वेद के बुंद रहे मुकताहल-से तन छाइ कै॥
बिंदु रचे मेहँदी के लसैं कर, ता पर यों रह्यो आनन आइ कै।
इंदु मनो अरबिंद पै राजत इंद्रबधून के बृंद बिछाइ कै॥४८८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

श्रमजल-कन झलकन प्रगट, पलकन थकित उसास।
करी खरी बिपरीत रति, परी बिसासी पास॥४८९॥

धृति को लक्षण

साहस ज्ञान सुसंग तें, धरै धीरता चित्त।
ताही सों धृति कहत हैं, सुकबि सबै नित-नित्त॥४९०॥

धृति को उदाहरण—(सवैया)

रे मन साहसी साहस राखु सुसाहस सों सब जेर फिरैंगे।
त्यों 'पद्माकर' या सुख में दुख त्यों दुख में सुख सेर फिरैंगे॥

वैसही वेनु बजावत स्याम सु नाम हमार हू टेर फिरैंगे।
एक दिना नहिं एक दिना कबहूँ फिरि वे दिन फेर फिरैंगे ॥४९१

पुनर्यथा—

या जग जीवन को है यहै फल जो छल छाँड़ि भजै रघुराई।
सोधि कै संत महंतन हूँ 'पदमाकर' बात यहै ठहराई॥
ह्वै रहै होनी प्रयास बिना अनहोनी न ह्वै सकै कोटि उपाई।
जो बिधि भाल में लीक लिखी सो बढ़ाई बढ़ न घटै न घटाई ४९२

पुनर्यथा—(दोहा)

बनचर बन-चर गगनचर, अजगर नगर निकाय।
'पदमाकर' तिन सबन की, खबरि लेत रघुराय ॥४९३॥

आलस्य को लक्षण

जागरनादिक तें जहाँ, जो उपजत अलसानि।
ताही को आलस कहत, जे कोविद रसखानि ॥४९४॥

आलस्य को उदाहरण—(कवित्त)

गोकुल में गोपिन गोविंद-संग खेली फाग,
राति भरि प्रात-समै ऐसी छबि छलकैं।
देहैं भरी-आलस कपोल रस-रोरी-भरे,
नींद-भरे नयन कछूक झपैं झलकैं॥
लाली-भरे अधर बहाली-भरे मुखबर,
कबि 'पदमाकर' बिलोके को न ललकैं।
भाग-भरे लाल औ सुहाग-भरे सब अंग,
पीक-भरी पलकैं अबीर-भरी अलकैं ॥४९५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

निसि जागी लागी हिये, प्रीति उमंगत प्रात।
उठि न सकति आलस-वलित, सहज सलोने गात ॥४९६॥

विषाद को लक्षण

फुरै न कछु उद्योग जहँ, उपजै अति ही सोच।
ताहि विषाद बखानहीं, जे कवि सदा अपोच ॥४९७॥

विषाद को उदाहरण—(कवित्त)

सोच न हमारे कछू त्याग मनमोहन के,
बन को न सोच जो पै यों ही जरि जाइहै।
कहै 'पद्माकर' न सोच अब एहू यह,
आइहै तो आइहै न आइहै न आइहै॥
जोग को न सोच अरु भोग को न सोच कछू,
ये ही बड़ो सोच सो तौ सबनि सुहाइहै।
कूबरी के कूबर में बेध्यो है त्रिभंग, ता
त्रिभंग कों त्रिभंगी लाल कैसे सुरझाइहै ॥४९८॥

पुनर्यथा—

एकै संग धाये नंदलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगनि गये जु भरि आनँद मढ़ै नहीं।
धोइ-धोइ हारी 'पदमाकर' तिहारी सौंह,
अब तौ उपाय एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं॥
कैसी करौं, कहाँ जाउँ, का सों कहौं, कौन
सुनै, कोऊ तौ निकासौ जा सों दरद बढ़ै नहीं।
ए री मेरो बीर जैसे-तैसे इन आँखिन तें,
कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं ॥४९९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

अघ न धीर धारत बनत, सुरति बिसारी कंत।
पिक , पापी पीकन लगे, बगरयो अधिक बसंत ॥५००॥

मति को लक्षण

नीति निगम आगमन तें, उपजै भलो बिचार।
ताही कों मति कहत हैं, सब ग्रंथन को सार ॥५०१॥

मति को उदाहरण—(सवैया)

बादहि बाद बदी कै बकै मति बोरि दै बंज बिषै-बिष ही को।
मानि लै या 'पदमाकर' की कही जो हित चाहति आपने जी को॥
संभु के जीव की जीवनमूरि सदा सुखदायक है सब ही को।
रामहि राम कहै रसना कस ना तु भजै रसनाम सही को ॥५०२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

पाछे पर न कुसंग के, 'पदमाकर' यहि डीठि।
परधन खात कुपेट ज्यों, पिटत बिचारी पाठि ॥५०३॥

चिंता का लक्षण

जहाँ कौन हू बात की, चित में चिंता होय।
चिंता ता कों कहत हैं, कबि-कोबिद सब कोय ॥५०४॥

चिंता को उदाहरण—(कवित्त)

झिलत झकोर रहै जोबन को जोर रहै,
समद मरोर रहै सोर रहै सब सों।
कहै 'पदमाकर' तकैयन के मेह रहै, नेह
रहै नैननि न मेह रहै दब सों॥
बाजत सुबैन रहै उनमद नैन रहै,
चित में न चैन रहै चातकी के रव सों।
गेह में न नाथ रहै द्वारे ब्रजनाथ रहै,
कौ लौं मन हाथ रहै साथ रहै सब सों ॥५०५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कोमल कंज-मृनाल पै, कियो कलानिधि बास।
कब को ध्यान रह्यो जु धरि, मित्र मिलन की आस ॥५०६॥

मोह को लक्षण

आपुहि अपनी देह को, ज्ञान जबै नहिं होइ।
विरह-दुःख चिंता-जनित, मोह कहावत सोइ ॥५०७॥

मोह को उदाहरण—(सवैया)

दोउन कों सुधि है न कछू बुधि वाही बलाइ में बूड़ि बही है।
त्यों 'पदमाकर' दीन मिलाइ क्यों चंग चवाइन की उमही है॥
आजुहि की वा दिखादिख में दसा दोउन की नहिं जाति कही है।
मोहन मोहि रह्यो कब को कब की वह मोहनी मोहि रही है ॥५०८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सटपटाति कब की हँसी, दीह द्गन में मेह।
सु ब्रजबाल मोही परति, निरमोही के नेह ॥५०९॥

स्वप्न, विबोध औ स्मृति को लक्षण

सुपन स्वप्न को देखिबो, जगिबो वहै बिबोध।
सुमिरन बीती बात को, सुसृति-भाव सब सोध ॥५१०॥

स्वप्न को उदाहरण—(सवैया)

काँपि रहै छिन सोवत हू कछु भाषिबो मो अनुसारि रही है।
त्यों 'पदमाकर' रंच रुमंचनि स्वेद के बुंदनि धारि रही है॥
वेष दिखादिखी के सुख में तन की तनको न सँभार रही है।
जानति हौं सखि सापने में नँदलाल कों नारि निहारि रही है ॥५११॥

पुनर्यथा—(दोहा)

क्यों करि झूठी मानिये, सखि सपने की बात।
जु हरि हर्यो सोवत हियो, सो न पाइयत प्रात ॥५१२॥

विबोध को उदाहरण—(कवित्त)

अधखुली कंचुकी उरोज अध-आधे खुले,
अधखुले वेष नख-रेखन के झलकैं।
कहै 'पद्माकर' नवीन अधनीवी खुली,
अधखुले छहरि छरा के छोर छलकैं॥
भोर जगि प्यारी अध-ऊरध इतै की ओर,
भाखी झिखि झिरकि उचारि अध-पलकैं।
आँखैं अधखुलीं अधखुली खिरकी है खुली,
अधखुले आनन पै अधखुली अलकैं॥५१३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

अनुरागी लागो हिये, जागी बड़े प्रभात।
ललित नैन बेनी छुटी, छाती पर छहरात॥५१४॥

स्मृति को उदाहरण—(सवैया)

कंचन-आभा कदंब-तरे करि कोऊ गई तिय तीज तयारी।
हौं हू गई 'पद्माकर' त्यों चलि औचक आइ गो कुंजबिहारी॥
हेरि हिंडोरे चढ़ाइ लियो कियो कौतुक सो न कह्यो परै भारी।
फूलनवारी पियारी निकुंज की झूलन है नव झूलनवारी॥५१५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

करी जु ही तुम वा दिना, वा के सँग बतरान।
वहै सुमिरि फिरि-फिरि तिया, राखति अपने प्रान॥५१६॥

अमर्ष को लक्षण

जहाँ जु अमरष होत, लखि दूजे को अभिमान।
अमरष ता कों कहत है, जे कवि सदा सुजान॥५१७॥

अमर्ष को उदाहरण—(कवित्त)

जैसो तैं न मो सों कहूँ नेक हू डरात हुतो,
ऐसो अब हौं हूँ तो सों नेक हू न डरिहौं।
कहै 'पदमाकर' प्रचंड जौ परैगो तो,
उमंड करि तो सों भुजदंड ठोंकि लरिहौं॥
चलो-चलु चलो-चलु बिचलु न बीच ही तें,
कीच-बीच नीच तो कुटुंब को कचरिहौं।
ए रे दगादार मेरे पातक अपार तोहि,
गंगा की कछार में पछारि छार करिहौं॥५१८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

गरब सु अंजन ही बिना, कंजन को हरि लेति।
खंजन-मद-भंजन-अरथ, अंजन अँखियन देति॥५१९॥

गर्व को लक्षण

बल विद्या रूपादि को, कीजे जहाँ गुमान।
गरब कहत सब ताहि कों, जे कवि सुमति सुजान॥५२०॥

गर्व को उदाहरण—(कवित्त)

बानी के गुमान कल कोकिल-कहानी कहा,
बानी की सुबानी जाहि आवत भनै नहीं।
कहै 'पदमाकर' गोराई के गुमान,
कुच-कुंभन पै केसरि की कंचुकी ठनै नहीं॥
रूप के गुमान तिल-उत्तमा न आनै उर,
आनन-निकाई पाइ चंद-कीरनै नहीं।
मृदुता-गुमान मखतूल हू न मानै कछु,
गुन के गुमान गनगौरि कों गनै नहीं॥५२१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

गुल पर गालिब कमल है, कमलन पै सु गुलाव।
गालिब गहब गुलाव पै, मो-तन-सुरभि सुभाव ॥५२२॥

उत्सुकता को लक्षण

जहाँ हितू के मिलन-हित, चाह रहति हिय माहि।
उतसुकता ता कों कहत, सब ग्रंथन में चाहि ॥५२३॥

उत्सुकता को उदाहरण—(कवित्त)

ताकिये चितै-चितै कुसुंभ-सो चुवोई परै,
प्यारी परवीन पाउ धारति जितै-जितै।
कहै 'पद्माकर' सु पौन तें उताली,
बनमाली पै चली यों बाल बासर बितै-बितै ॥
बार ही के भारन उतारि देति आभरन,
हीरन के हार देति हिलिन हितै-हितै।
चाँदनी के चौसर चहूँधा चौक चाँदनो में,
चाँदनी-सी आई चंद-चाँदनी चितै-चितै ॥५२४॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सजे बिभूषन-बसन सब, सुपिय-मिलन की हौंस।
सह्यो परत नहि कैस हू, रह्यो अधघरी द्यौस ॥५२५॥

अवहित्थ को लक्षण

जो जहँ करि कछु चातुरी, दसा दुरावै आय।
ताही कों अवहित्थ यह, भाव कहत कविराय ॥५२६॥

अवहित्थ को उदाहरण—(सवैया)

भोर जगी जमुना-जल-धार में धाइ धँसी जल-केलि की मावी।
त्यों 'पद्माकर' पैग चलै उछलै जब तुंग तरंग विघाती ॥

टूटे हरा छरा छूटे सबै सरबोर भई अँगिया रँगराती।
को कहतो यह मेरी दसा गहतो न गोविंद तो मैं बहि जाती ॥५२७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

निरखत ही हरि हरषि कै, रहे सु आँसू छाइ।
बूझत अलि केवल कह्यो, लग्यो धूम ही धाइ ॥५२८॥

दीनता को लक्षण

अति दुख सें बिरहादि तें, परति जबहि जो दीन।
ताहि दीनता कहत हैं, जे कवित्त-रस-लीन ॥५२९॥

दीनता को उदाहरण—(सवैया)

कै गिनती-सी हुती बिनती दिन तीनक लौं बहु बार सुनाई।
त्यौं 'पद्माकर' मोह-मया करि तोहि दया न दुखोन की आई।
मेरो हरा हरहार भयो अब ताहि उतारि उन्हैं न दिखाई।
ल्याई न तू कबहूँ बनमाल गोपाल की वा पहिरी-पहिराई ॥५३०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

मुख मलीन तन छीन छबि, परी सेज पर दीन।
लेत क्यों न सुधि साँवरे, नेही निपट नवीन ॥५३१॥

हर्ष को लक्षण

जहाँ कौन हूँ बात तें, उर उपजत आनंद।
प्रकटे पुलक प्रसेद तें, कहत हरष कबिवृंद ॥५३२॥

हर्ष को उदाहरण—(सवैया)

जगजीवन को फल जानि परयो धनि नैनन कों ठहरैयतु है।
'पद्माकर' ह्यो हुलसै पुलकै तनु सिंध सुधा के अन्हैयतु है॥
मन पैरत-सो रस के नद में अति आनँद में मिलि जैयतु है।
अब ऊँचे उरोज लखे तिय के सुरराज के राज-सो पैयतु है ॥५३३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

तुमहिं बिलोकि बिलोकिये, हुलसि रहे यों गात ।
आँगी में न समात उर, उर में मुद न समात ॥५३४॥

व्रीड़ा को लक्षण

जहाँ कौन हूँ हेत तें, उर उपजति अति लाज ।
व्रीड़ा ता कों कहत हैं, सुकविन के सिरताज ॥५३५॥

व्रीड़ा को उदाहरण—(सवैया)

कालिह परौं फिरि साजबो स्यान सु आजु तौ नैन सों नैन मिला लै ।
त्यों 'पदमाकर' प्रीति-प्रतीति में नीति की रीति महा उर सालै ॥
ये दिन यौवन के तौ इतै सुन लाज इती तु करैगी कहा लै ।
नेक तौ देखन दै मुख चंद-सो चंद्रमुखी मति घूँघुट घालै ॥५३६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

प्रथम समागम की कथा, बूझी सखिन जु आइ ।
मुख नवाइ सकुचाइ तिय, रही सु घूँघट नाइ ॥५३७॥

उग्रता औ निद्रा को लक्षण

निरदैपन सो उग्रता, कहत सुमति सब कोइ ।
सयन कहावत सोइबो, वहै सु निद्रा होइ ॥५३८॥

उग्रता को उदाहरण—(कवित्त)

सिंधु के सपूत सुत सिंधुतनया के बंधु,
मंदिर अमंद सुभ सुंदर सुधाई के ।
कहै 'पदमाकर' गिरीस के बसे हौ सीस,
तारन के ईस कुल-कारन कन्हाई के ॥
हाल ही के बिरह बिचारी ब्रजबाल-ही पै,
ज्वाल-से जगावत जुआल-सी जुन्हाई के ।

ए रे मतिमंद चंद आवति न तोहि लाज,
हो कै द्विजराज काज करत कसाई के ॥५३९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कहा कहौं सखि काम को, हिय-निरदैपन आज।
तन जारत, पारत बिपति, अपति, उजारत लाज ॥५४०॥

निद्रा को उदाहरण—(कवित्त)

चहचही चुभकी चुभी है चौंक चुंबन की,
लहलही लाँबी लटैं लपटीं सु लंक पर।
कहै 'पद्माकर' मजानि मरगजी मंजु,
मसकी सु आँगी है उरोजन के अंक पर ॥
सोई सरसार यों सुगंधनि समोई, स्वेद
सीतल सलोने लोने बदन मयंक पर।
किन्नरी नरी है कै छरी है छबिदार परी,
टूटि-सी परी है कै परी है परजंक पर ॥५४१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

नंदनँदन नव नागरी, लखि सोवत निरमूल।
उर उथरे उरजन निरखि, रह्यो सु आनन फूल ॥५४२॥

व्याधि को लक्षण

बिरह-बिषम कामादि तें, तन संतापित होइ।
ताही कों सब कबि कहत, ब्याधि कहावत सोइ ॥५४३॥

व्याधि को उदाहरण—(कवित्त)

दूर ही तें देखत बिथा मैं या बियोगिनि की,
आई भले भाजि ह्याँ इलाज मढ़ि आवैगी।

कहै 'पदमाकर' सुनो हो घनस्याम, जाहि
चेतत कहूँ जो एक आहि कढ़ि आवैगी ॥
सर-सरितान कों न सूखत लगैगो देर,
एती कछू जुलमिनि ज्वाला बढ़ि आवैगी ।
ता के तन-ताप की कहौं मैं कहा बात, मेरे
गातहि छुवौ तौ तुम्हैं ताप चढ़ि आवैगी ॥५४४॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कच की अजब अजार में, परी वाम तन छाम ।
तित कोऊ मत लीजियो, चंदोदय को नाम ॥५४५॥

मरण को लक्षण

प्रान-त्याग कहिये मरन, सो न वरनिबे जोग ।
वरनत सूर-सतीन को, सुजस-हेत कहि लोग ॥५४६॥

मरण को उदाहरण—(सवैया)

जानकी को सुनि आरतनाद सु जानि दसानन की छलहाई ।
त्यों 'पदमाकर' नीच निसाचर आइ अकास में आड्यो तहाँई ॥
रावन-ऐसे महारिपु सों अति जुद्ध कियो अपने बल लाई ।
सोहत श्रीरघुराज के काज पै जीव तजै तौ जटायु की नाँई ॥५४७॥

पुनर्यथा—(कवित्त)

पाली पैज पन की प्रवेस करि पावक मों,
पौन से सिताब्र सहगौन की गती भई ।
कहै 'पदमाकर' पताका प्रेम पूरन की,
प्रगट पतिव्रत की सौगुनी रती भई ॥
भूमि हू आकास हू पताल हू सराहै सब,
जा को जस गावत पवित्र मो मती भई ।

सुनत पयान श्रीप्रताप को पुरंदर पै,
धन्य पटरानी जोधपुर में सती भई ॥५४८॥"

पुनर्यथा—(दोहा)

हने राम दससीस के, दसौ सीस भुज बीस।
लै जटायु की नजरि जनु, उड़े गीध नभ बीस ॥५४९॥

अपस्मार को लक्षण

सह दुःखादिक तें जहाँ, होत कंप भूपात।
अपस्मार सो फेन मुख, स्वासादिक सरसात ॥५५०॥

अपस्मार को उदाहरण—(सवैया)

जा छिन तें सुनि साँवरे रावरे लागे कटाच्छ कछू अनियारे।
त्यों 'पद्माकर' ता छिन तें, तिय सों अँग-अंग न जात सँभारे॥
ह्वै हिय हायल घायल-सी घन घूमि गिरी परी प्रेम तिहारे।
नैन गये फिरि फैन बहै मुख चैन रह्यो नहिं मैन के मारे ॥५५१॥

पुनर्यथा—(दोहा)

लखि बिहाल एकै कहत, भई कहूँ भयभीत।
इकै कहत मिरगी लगी, लगी न जानत प्रीत ॥५५२॥

आवेग को लक्षण

अति डर तें अति नेह तें, जु उठि चालियतु बेग।
ताही कों सब कहत हैं, संचारी आवेग ॥५५३॥

आवेग को उदाहरण—(कवित्त)

आई संग आलिन के ननद-पठाई नीठि,
सोहति सोहाई सीस ईंगुरी सुपट की।
कहै 'पद्माकर' गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह-अँटकी॥

ताही समै मोहन सु बाँसुरी बजाई,
ता में मधुर मलार गाई और बंसीबट की।
तान लगे लट की रही न सुधि घूँघट की,
घाट की न औघट की बाट की न घट की ॥५५४॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सुनि आहट पिय-पगन की, भभरि भजी यों नारि।
कहुँ कंकन कहुँ किंकिनी, कहूँ सु नूपुर डारि ॥५५५॥

त्रास को लक्षण

जहाँ कौन हूँ अहित तें, उपजत कछु भय आय।
ताही कों नित त्रास कहि, बरनत हैं कबिराय ॥५५६॥

त्रास को उदाहरण—(सवैया)

ए ब्रजचंद गोबिंद गोपाल सुन्यो न क्यों केते कलाम किये मैं।
त्यों 'पद्माकर' आनँद के नद हौ नँदनंदन जानि लिये मैं ॥
माखनचोरी कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछु भय मानि जिये मैं।
दूरि ही दौरि दुरे जो चहौ तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं ॥५५७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सिसिर-सीत भयभीत कछु, सु परि भीति के पाय।
आपुहि तें तजि मान तिय, मिली प्रीतमैं जाय ॥५५८॥

उन्माद को लक्षण

अविचारित आचरन जो, सो उनमाद बखान।
व्यर्थ बचन रोदन हँसी, ये स्वभाव तहँ जान ॥५५९॥

उन्माद को लक्षण—(सवैया)

आपहि आप पै रूसि रही कबहूँ पुनि आपुहि आप मनावै।
त्यों 'पद्माकर' बाल तमालनि भेटिबे कों कबहूँ उठि धावै ॥

जौ हरि रावरो चित्र लखै तौ कहूँ कबहूँ हँसि हेरि बुलावै।
व्याकुल बाल सु आलिन सों कह्यो चाहै कछु तौ कछू कहि आवै॥५६०

पुनर्यथा—(दोहा)

छिन रोवति छिन हँसि उठति, छिन बोलति छिन मौन।
छिनछिन पर छीनी परति, भई दसा धौं कौन॥५६१॥

जड़ता को लच्छण

गमन ज्ञान आचरन की, रहै न जहँ सामर्थ।
हित अनहित देखै सुनै, जड़ता कहत समर्थ॥५६२॥

जड़ता को उदाहरण—(कवित्त)

आज बरसाने की नवेली अलबेली वधू,
मोहन विलोकिबे कों लाज-काज ल्वै रही।
छब्जा-छब्जा झाँकती झरोखनि-झरोखनि ह्वै,
चित्रसारी-चित्रसारी चंद-सम च्वै रही॥
कहै 'पदमाकर' त्यों निकस्यो गोविंद ताहि,
जहाँ-तहाँ इकटक ताकि घरी द्वै रही।
छब्जावारी छकी-सी चमकी-सी झरोखावारी,
चित्र कैसी लिखी चित्रसारीवारी ह्वै रही॥५६३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

हलैं दुहूँ न चलैं दुहूँ, दुहुन बिसरि गे गेह।
इकटक दुहुनि दुहूँ लखैं, अटकि अटपटे नेह॥५६४॥

चपलता को लच्छण

जहँ अति अनुरागादि तें, थिरता कछू रहै न।
चित चितचाहे आचरन, वहै चपलता ऐन॥५६५॥

चपलता को उदाहरण—(सवैया)

कौतुक एक लख्यो हरि ह्याँ 'पद्माकर' यों तुम्हैं जाहिर की मैं ।
कोऊ बड़े घर को ठकुराइनि ठाढ़ी न घात रहै छिन की मैं ॥
झाँकति है कबहूँ झँझरीन झरोखनि त्यों खिरकी-खिरकी मैं ।
झाँकति ही खिरकी मैं फिरै थिरकी-थिरकी खिरकी-खिरकी मैं॥५६६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

चकरी-लौं सँकरी गलिन, छिन आवति छिन जाति ।
परी प्रेम के फंद में, बधू बितावति राति ॥५६७॥

वितर्क को लक्षण

उर उपजत संदेह जहँ, कीजै कछू बिचार ।
ताहि वितर्क बिचारहीं, जे कबि सुमति उदार ॥५६८॥

वितर्क को उदाहरण—(कवित्त)

द्यौस गनगौरि के सु गिरिजा गोसाँइन को,
आवत इहाँ ही अति आनँद इवै रहै ।
कहै 'पद्माकर' प्रतापसिंह महाराज,
देखौ देखिबे कों दिव्य देवता तितै रहै ॥
सैल तजि बैल तजि फल तजि गैलन में,
हेरत उमा को यों उमापति हितै रहै ।
गौरिन में कौन धौं हमारी गनगौरि यहै,
संभु घरी चारिक लौं चकित चितै रहै ॥५६९॥

पुनर्यथा—

वेऊ आये द्वारे हौं हुती जो अगवारे, और
द्वारे अगवारे कोऊ तौ न तिहि काल मैं ।
कहै 'पद्माकर' वे हरषि निरखि रहे,
त्यों ही रही हरषि निरखि नँदलाल मैं ॥

मोहिं तो न जान्यो गयो मेरी आली मेरो मन,
मोहन के जाइ धौं पर्यो है कौन ख्याल मैं।
भूल्यो भौंह भाल मैं चुभ्यो कै टेढ़ी चाल मैं,
छक्यो कै छबिजाल मैं कै बाँध्यो बनमाल मैं ॥५७०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

किधौं सु अधपक आम में, मानहु मिलो मलिंद।
किधौं तनक है तम रह्यो, कै ठोढ़ी को बिंद ॥५७१॥

इति श्रीकूर्मवंशावतंसश्रीमन्महाराजाधिराजराजेन्द्रश्रीसवाई-महाराजजगतसिंहाज्ञया कविपद्माकरविरचितजगद्विनोदनामकाव्ये संचारीभावप्रकरणम्।

अथ स्थायीभाव

(दोहा)

रस अनुकूल विकार जो, उर उपजत है आय।
थाईभाव बखानहीं, तिनहीं को कविराय ॥५७२॥
है सब भावन में सिरे, टरत न कोटि उपाव।
है परिपूरन होत रस, तेई थाईभाव ॥५७३॥
रति इक हास जु सोक पुनि, बहुरि क्रोध उतसाह।
भय गलानि आचरज निरवेद कहत कविनाह ॥५७४॥
नवरस के नौई इतै, थाईभाव प्रमान।
तिन के लच्छन लच्छ सब, या विधि कहत सुजान ॥५७५॥

रति को लक्षण

सुप्रिय-चाह तें होत जो, सुमन अपूरब प्रीति।
ताही को रति कहत हैं, रस-ग्रंथन की रीति ॥५७६॥

रति को उदाहरण—(कवित्त)

सजन लगी है कहूँ कबहूँ सिँगारन को,
तजन लगी है कहूँ ऐसे असवारी को।
चखन लगी है कछू चाह 'पदमाकर' त्यों,
लखन लगी है मंजु मूरति मुरारी को॥
सुंदर गोबिंद-गुन गनन लगी है कछू,
सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी की।
पगन लगी है लगी लगन हिये सों नेकु,
लगन लगी है कछू पी की प्रानप्यारी की॥५७७॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कान्ह तिहारे मान को, अति आतप यह आय।
तिय-उर-अंकुर प्रेम को, जाइ न कहुँ कुम्हिलाय॥५७८॥

हास को लक्षण

बचन-रूप की रचन तें, कछु उर लहै बिकास।
ता तें परमित जो हँसनि, वहै जु कहियतु हास॥५७९॥

हास को उदाहरण—(सवैया)

चंद्रकला चुनि चूनरी चारु दई पहिराइ सुनाइ सु होरी।
बेंदी बिसाखा रची 'पदमाकर' अंजन आँजि समाजि कै रोरी॥
लागी जबै ललिता पहिरावन कान्ह को कंचुकी केसरि-बोरी।
हेरि हरे मुसकाइ रही अँचरा मुख-दै बृषभान-किसोरी॥५८०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

बिबस न ब्रजबनितान के, सखि मोहन मृदुकाय।
चीर चोरि मुकदंब पै, कछुक रहे मुसकाय॥५८१॥

शोक को लक्षण

अहित-लाभ हित-हानि तें, कछु जु हिये दुख होत ।
सोक सु थाईभाव है, कहत कबिन को गोत ॥५८२॥

शोक को उदाहरण—(सवैया)

मोहिं न सोच इतौ तन-प्रान को जाइ रहै कि लहै लघुताई ।
ये हु न सोच घनो 'पदमाकर' साहिबी जो पै सुकंठ ही पाई ॥
सोच इहै इक बालबधू बिन देहिगो अंगद को युवराई ।
यों बच बालिबधू के सुने, करुनाकर को करुना कछु आई ॥५८३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

काम-बाम को खसम को भसम लगावत अंग ।
त्रिनयन के नैननि जग्यो, कछु करुना को रंग ॥५८४॥

क्रोध को लक्षण

रिपुकृत अपमानादि तें, परभित चित्त-बिकार ।
जु प्रतिकूल हिय हरष को, वहै क्रोध निरधार ॥५८५॥

क्रोध को उदाहरण—(कवित्त)

नहत बिहद नृप-राम-दल-बद्दल में,
ऐसो एक हौं ही दुष्ट-दानव-दलन हौं ।
कहै 'पदमाकर' चहै तो चहूँ चक्रन को,
चीरि डारौं पल में पलैया पैजपन हौं ॥
दसरथलाल है कराल कछु लाल परि
भाषत भयोई नेकु रावनै न गनहौं ।
रीतौ करौं लंकगढ़ इंद्रहिं अभीतौ करौं,
जीतौं इंद्रजीतौ आजु तौ मैं लछमन हौं ॥५८६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

फारौं वच्छ न अच्छ को, जौ लगि मैं हनुमान।
तौ लौं पलक न लाइहौं, कछुक अरुन अँखियान ॥५८७॥

उत्साह को लक्षण

लखि उद्भट प्रतिभट जु कछु, जगजगात चित चाव।
सहरष, सो रनबीर को, उतसाहस थिरभाव ॥५८८॥

उत्साह को उदाहरण—(कवित्त)

इत कपि रीछ उत राछसनहीं की चमू,
डंका देत बंका गढ़ लंका तें कढ़ै लगी।
कहै 'पद्माकर' उमंड जग ही के हित,
चित में कछूक चोप चाप की चढ़ै लगी॥
बानन के बाहिबे कों कर में कमान कसि,
धाई धूरधान आसमान में मढ़ै लगी।
देखतै बनी है दुहूँ दल की चढ़ाचढ़ी में,
राम-हग हू पै नेक लाली जो चढ़ै लगी ॥५८९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

मेघनाद को लखि लखन, हरषे धनुष चढ़ाय।
दुखित बिभीषन दबि रह्यो, कछु फूले रघुराय ॥५९०॥

भय को उदाहरण

बिक्रत भयंकर के डरन, जो कछु चित अकुलाव।
सो भय थाईभाव है, कछु ससंक जहँ गाव ॥५९१॥

भय को उदाहरण—(कवित्त)

चितै-चितै चारों ओर चौंकि-चौंकि परै, त्यों ही
जहाँ-तहाँ जब-तब खटकत पात हैं।

भाजन-सो चाहत, गँवार ग्वालिनी के कछू,
डरनि डराने-से उठाने रोम गात हैं॥
कहै 'पद्माकर' सु देखि दसा मोहन की,
सेष हु महेस हु सुरेस हु सिहात हैं।
एक पाय भीत एक पाय भीत-काँधे धरे,
एक हाथ छीको एक हाथ दधि खात हैं॥५९२॥

पुनर्यथा—(दोहा)

तीन पैग पुहुमी दई, प्रथमहिं परम पुनीत।
बहुरि बढ़त लखि वामनहिं, भे बलि कछुक सभीत॥५९३॥

ग्लानि को लक्षण

जहँ घिनाय चित चीज लखि, सुमिरि परस मन माह।
उपजत जो कछु घिन यहै, ग्लानि कहत कविनाह॥५९४॥

याही को नाम जुगुप्सा जानिये।

ग्लानि को उदाहरण—(कवित्त)

आवत गलानि जो बखान करौं ज्यादा यह,
मादा मल मूत और मज्जा की सलीती है।
कहै 'पद्माकर' जरा तौ जागि भीजी तब,
छीजी दिन-रैन जैसे रेनु ही की भीती है॥
सीतापति राम के सनेह-बस बीती जो पै,
तौ तो दिव्य देह जमजातना तें जीती है।
रीती रामनाम तें रही जो बिन काम तौ, या
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है॥५९५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

लखि बिरूप सूरपनखैं, सरुधिर चरबि चुवात।
सिय-हिय में घिन की लता, भई सु द्वै-द्वै पात ॥५९६॥

आश्चर्य को लक्षण

दरस परस सुनि सुमिरि जहँ, कौन हु अजब चरित्र।
होइ जु चित बिस्मित कछू, सो आचरज पवित्र ॥५९७॥

याही को विस्मय थाईभाव जानिये।

आश्चर्य को उदाहरण—(सवैया)

देखत क्यों न अपूरब इंदु में द्वै अरबिंद रहे गहि लाली।
त्यों 'पद्‌माकर' कीरवधू इक मोती चुगै मनों है मतवाली ॥
ऊपर तें तम छाइ रह्यो रवि की दुत तें न दबै खुलि ख्याली।
यों सुनि बैन सखी के बिचित्र भये चित चक्रित-से बनमाली ॥५९८

पुनर्यथा—(दोहा)

नलकृत पुल लखि सिंधु में, भये चकित सुरराव।
रामपादनत भे सबहिं, सुमिरि अगस्त्य-प्रभाव ॥५९९॥

निर्वेद को लक्षण

बिफल श्रमादिक तें जु कछु, उर उपजत पछिताव।
सद्गति-हित निर्बेद सो, सम रस को थिरभाव ॥६००॥

निर्वेद को उदाहरण—(सवैया)

ह्वै थिर मंदिर में न रह्यो गिरि-कंदर में न तप्यो तप जाई।
राज रिझाये न कै कविता रघुराज-कथा न यथामति गाई ॥
यों पछितात कछू 'पद्‌माकर' का सों कहौं निज मूरखताई।
स्वारथ हू न कियो परमारथ यों ही अकारथ वैस बिताई ॥६०१

पुनर्यथा—(सवैया)

भोग में रोग वियोग संयोग में योग में काय-कलेस कमायो।
त्यों 'पदमाकर' वेद-पुरान पढ्यो पढ़ि कै बहु बाद बढ़ायो॥
दौखो दुरास में दास भयो पै कहूँ बिसराम को धाम न पायो।
कायो गमायो सु ऐसे ही जीवन हाय मैं राम को नाम न गायो॥६०२

पुनर्यथा—(दोहा)

'पदमाकर' हौं निज कथा, का सों कहौं बखान।
जाहि लखौं ताहै परी, अपनी-अपनी आन॥६०३॥

इति श्रीकूर्मवंशावतंसश्रीमन्महाराजाधिराजराजेन्द्रश्रीसवाई-महाराजजगतसिंहाज्ञया मथुरास्थाने मोहनलालभट्टात्मजकवि-पद्माकरविरचितजगद्विनोदनामकाव्ये स्थायीभावप्रकरणम्।

अथ रसनिरूपण-वर्णन

(दोहा)

मिलि बिभाव अनुभाव पुनि, संचारिन के वृंद।
परिपूरन थिरभाव यों, सुर-स्वरूप आनंद॥६०४॥
ज्यों पय पाइ विकार कछु, ह्वै दधि होत अनूप।
वैसे ही थिरभाव को, बरनत कवि रसरूप॥६०५॥
सो रस है नव भाँति को, प्रथम कहत शृंगार।
हास्य करुन पुनि रौद्र गनि, वीर सु चारि प्रकार॥६०६॥
बहुरि भयानक जानिये, पुनि बीभत्स बखानि।
अद्भुत अष्टम नवम पुनि, सांत सुरस उर आनि॥६०७॥

अथ शृंगाररस-वर्णन

जा को थाईभाव रति, सो शृंगार सु होत।
मिलि बिभाव अनुभाव पुनि, संचारिन के गोत॥६०८॥

रति कहियतु जो मन-लगनि, प्रीति अपर पर जाय।
थाईभाव सिँगार के, भल भाषत कविराय ॥६०९॥
परिपूरन थिरभाव रति, सो सिँगाररस जान।
रसिकन को प्यारो सदा, कविजन कियो बखान ॥६१०॥
आलंबन शृंगार के, तिय-नायक निरधार।
उद्दीपन सब सखि-सखा, बन-बागादि-बिहार ॥६११॥
हाव-भाव मुसकानि मृदु, इमि और हु जु विनोद।
है अनुभाव सिँगार नव, कविजन कहत प्रमोद ॥६१२॥
उन्मादिक संचरत तहँ, संचारी है भाव।
कृस्न देवता स्याम रँग, सो सिँगार रसराव ॥६१३॥
सो सिँगार द्वै भाँति को, दंपति-मिलन सँयोग।
अटक जहाँ कछु मिलन की, सो शृंगार-बियोग ॥६१४॥

संयोग-शृंगार को वर्णन—(छप्पय)

कल कुंडल दुहुँ डुलत, खुलत अलकावलि विपुलित।
स्वेद-सीकरन मुदित, तनक तिलकावलि सुललित॥
सुरत-मध्य मति लसत, हरष हुलसत चख चंचल।
कवि 'पदमाकर' छकित, झपित झपि रहत दृगंचल॥
इमि नित बिपरीत-सुरति-समै, अस तिय सुख साधक जु सब।
हरि-हर-बिरंचि-पुर उरगपुर, सुरपुर लै कह आज अब ॥६१५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

तिय पिय के पिय तीय के, नखसिख साजि सिँगार।
करि बदलौ तन-मन हु को, दपति करत बिहार ॥६१६॥

वियोग-शृंगार को लक्षण

जहँ बियोग पिय-तीय को, दुखदायक अति होत।
बिप्रलंभ-शृंगार सो, कहत कबिन को गोत ॥६१७॥

वियोग-शृंगार को वर्णन—(सवैया)

सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल-छंद-से छ्वै गये हैं।
'पदमाकर' चाँदनी चंद हू के कछू औरहि डौरन च्वै गये हैं॥
मनमोहन सों बिछुरे इत ही बनि कै न अबै दिन द्वै गये हैं।
सखि वे हम वे तुम वेई वने पै कछू-के-कछू मन ह्वै गये हैं॥६१८

पुनर्यथा—

धीर समीर सु तीर तें तीछन ईछन कैसहु ना सहती मैं।
त्यों 'पदमाकर' चाँदनी चंद चितै चहुँओरन चौंकती जी मैं॥
छाइ बिछाइ पुरैन के पातन लेटती चंदन की चवकी मैं।
नीच कहा बिरहा करतो सखि होती कहूँ जो पै मीच मुठी मैं॥६१९

पुनर्यथा—

ऐसी न देखी सुनी सजनी घनी बाढ़त जात वियोग की बाधा।
त्यों 'पदमाकर' मोहन को तब तें कल है न कहूँ पल आधा॥
लाल गुलाल घलाघल में दृग ठोकर दै गई रूप अगाधा।
कै गई कै गई चेटक-सी मन लै गई लै गई लै गई राधा॥६२०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

अटकि रहे कित कामरत, नागर नंदकिसोर।
करहुँ कहा पीकन लगे, पिक पापी चहुँ ओर॥६२१॥

वियोग-शृंगार के भेद

त्रिविध वियोग-सिंगार यह, इक पूरव-अनुराग।
बरनत मान, प्रवास पुनि, निरखि नेह की लाग॥६२२॥

पूर्वानुराग को लक्षण

होत मिलन तें प्रथम ही, व्याकुलता उर आनि।
सो पूरव-अनुराग है, बरनत कवि रसखानि॥६२३॥

पूर्वानुराग को उदाहरण—(कवित्त)

जैसी छबि स्याम की पगी है तेरी आँखिन में,
ऐसी छबि तेरी स्याम-आँखिन पगी रहै।
कहै 'पद्माकर' ज्यों तान में पगी है त्यों ही,
तेरी मुसकानि कान्ह-प्रान में पगी रहै॥
धीर धर धीर घर कीरतिकिसोरी, भई
लगन इतै-उतै बराबर जगी रहै।
जैसी रट तोहि लागी माधव की राधे वैसी,
राधे-राधे-राधे रट माधवै लगी रहै॥६२४॥

पुनर्यथा—

मोहिं तजि मोहनै मिल्यो है मन मेरो दौरि,
नन हू मिले हैं देखि-देखि साँवरो सरीर।
कहै 'पद्माकर' त्यों तानमय कान भये,
हौं तौ रही जकि थकि भूली-सी भ्रमी-सी बीर॥
ये तौ निरदई दई इन को दया न दई,
ऐसी दसा भई मेरी कैसे धरौं तन धीर।
होतो मन हू के मन नैनन के नैन जो पै,
कानन के कान तो पै जानतो पराई पीर॥६२५॥

पुनर्यथा—

मधुर-मधुर मुख मुरली बजाइ, धुनि
धमकि धमारन की धाम-धाम कै गयो।
कहै 'पद्माकर' त्यों अगर अबीरन को,
करि कै घलाघली छलाछली चितै गयो॥
को है वह ग्वालिनी गुवालन के संग में,
अनंग छबिवारो रसरंग में भिजै गयो।

न्है गयो सनेह फिरि छ्वै गयो छरा को छोर,
फगुवा न दै गयो हमारो मन लै गयो ॥६२६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

ज्यों-ज्यों बरषत घोर घन, घन घमंड गरुवाइ।
त्यों-त्यों परत प्रचंड अति, नई लगन की लाइ ॥६२७॥

मान को लक्षण

सूचक पिय अपराध को, इंगित कहिये मान।
त्रिविध मान सो मानिये, लघु मध्यम गुरु आन ॥६२८॥

लघुमान को लक्षण

परतिय-दरसन दोष तें, करै जु तिय कछु रोष।
सु लघुमान पहिचानिये, होत ख्याल ही तोष ॥६२९॥

लघुमान-वर्णन—(कवित्त)

वाही के रँगी है रँग वाही के पगी है मग,
वाही के लगी है सँग आनँद-अगाधा को।
कहै 'पद्माकर' न चाह तजि नेकु दृग,
तारन तें न्यारो कियो एक पल आधा को॥
वाहू पै गोपाल कछु ऐसे ख्याल खेलत हैं,
मान मोरिबे की देखिबे की करि साधा को।
काहू पै चलाइ चख प्रथम खिझावैं फेरि,
बाँसुरी बजाइ कै रिझाइ लेत राधा को ॥६३०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

ये हैं जिन सुख वे दिये, करति क्यों न हिय होस।
वे सब अबहिं भुलाइयत, तनिक दृगन के दोस ॥६३१॥

मध्यममान को लक्षण

और तिया को नाम कहुँ, पिय-मुख तें कढ़ि जाइ।
होत मान-मध्यम, मिटै सौंहनि किये बनाइ ॥६३२॥

मध्यममान-वर्णन—(कवित्त)

बैस ही की थोरी पै न भोरी है किसोरी यह,
या की चित-चाह राह और की मभैयो जिन।
कहै 'पद्माकर' सुजान रूपखान आगे,
आन-बान आन की सु आन कै लगैयो जिन॥
जैसे अब तैसे साधि सौंहनि मनाइ ल्याई,
तुम इक मेरी बात एवी बिसरैयो जिन।
आजु की घरी तें लै सु भूलिहू भले हो स्याम,
ललिता को लै कै नाम बाँसुरी बजैयो जिन ॥६३३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

आनि-आनि तिय-नाम लै, तुमहिं बुलावत स्याम।
लैन कह्यो नहिं नाह को, निज तिय को जो नाम ॥६३४॥

गुरुमान को लक्षण

आनि-तिया-रत पीउ लखि, होत मान गुरु आइ।
पाइ परें भूषन भरें, छूटत कहूँ बराइ ॥६३५॥

गुरुमान-वर्णन—(कवित्त)

नीकी कै अनैसी पुनि जैसी होइ तैसी,
तऊ यौवन की मूरि तें न दूरि भागियतु है।
कहै 'पद्माकर' उजागर गोबिंद जो पै,
चूकि गे कहूँ तो एवो रोष रागियतु है ? ॥

प्रेमरस-छायलै जगाय लै हिये सों हित,
पायलै पहिरि चलु प्रेम पागियतु है।
ए री मृगनैनी तेरी पाइ लगि बेनी पाइ,
पाइ लगि तेरे फेरि पाइ लागियतु है ॥६३६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

निरखि नेकु नीको बनो, या कहि नंदकुमार।
भुभुज मेलि मेल्यो गरे, गजमोतिन को हार ॥६३७॥

प्रवास को लक्षण

पिय जु होइ परदेस में, सो प्रवास उर आन।
जा तें होत बधून को, अति संताप निदान ॥६३८॥

प्रवास के भेद

सो प्रवास द्वै भाँति को, इक भविष्य इक भूत।
तिन के कहत उदाहरन, रसग्रंथन के सूत ॥६३९॥

भविष्यद् प्रवास को उदाहरण—(सवैया)

औसर कौन, कहा समयो, कहा काज, बिवाद ये कौन-सी पावन।
त्यों 'पद्माकर' धीर समीर उसीर भयो तपि कै तन-तावन ॥
चैत की चाँदनी चारु लखे चरचा चलिवे की लगे जु चलावन।
कैसी भई तुम्हें गंग की गैल में गीत मलारन के लगे गावन ॥६४०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

रमन-गमन सुनि ससिमुखी, भई दिवस को चंद।
परखि प्रेम पूरन प्रगट, निरखि रहे नँदनंद ॥६४१॥

नये प्रवास को उदाहरण—(सवैया)

कान्ह पगे कुबजा के कलोलनि डोलनि छोड़ दई हर भाँवी।
माधुरी मूरति देखे बिना 'पद्माकर' लागै न भूमि सोहावी ॥

का कहिये उन सों सजनी यह बात है आपने भाग समातो।
दोष बसंत को दीजै कहा उलहै न करील की डारन पाती ॥६४२॥

पुनर्यथा—(कवित्त)

रैन-दिन नैनन तें बहत न नीर, कहा
करतौ अनंग को उमंग सर-चाप तौ।
कहै 'पद्माकर' त्यों राग बाग-बन कैसो,
तैसो तन ताय-ताय तारापति तापतौ॥
कीन्हो जो वियोग तो सँयोग हू न देतो दई,
देतो जो सँयोग तो वियोगहि न थापतौ।
होतो जो न प्रथम सँयोग सुख वैसो वह,
ऐसो अब तो न या वियोग-दुख व्यापतौ॥६४३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

सुनत सँदेस बिदेस तजि, मिलते आइ तुरंत।
समुझी परत सुकंत जहँ, तहँ प्रगट्यो न बसंत॥६४४॥

वियोग की अवस्था

इक बियोग-शृंगार में, इती अवस्था थाप।
अभिलाषा गुनकथन पुनि, पुनि उद्वेग प्रलाप॥६४५॥
चिंतादिक जे षट कहीं, बिरह-अवस्था जानि।
संचारी भावन मिपे, हौं आयहुँ जो बखानि॥६४६॥
ता तें इत बरनत न मैं, अभिलाषादिक चार।
तिन के लच्छन लच्छ सब, हौं भाषत निरधार॥६४७॥

अभिलाषा को लक्षण

तिय अरु पिय जो मिलन की, करैं बिबिध चित-चाह।
ताही को अभिलाष कहि, बरनत हैं कबिनाह॥६४८॥

अभिलाषा को उदाहरण—(कवित्त)

ऐसी मति होति अब ऐसी करौं आली,
बनमाली के सिँगार में सिँगारिबोई करिये।
कहै 'पद्माकर' समाज तजि काज तजि,
लाज को जहाज तजि डारिबोई करिये॥
घरी-घरी पल-पल छिन-छिन रैन-दिन,
नैनन की आरती उतारिबोई करिये।
इंदु तें अधिक अरविंद तें अधिक, ऐसो
आनन गोविंद को निहारिबोई करिये॥६४९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

पिय-आगम तें प्रथम ही, करि बैठी तिय मान।
कब धौं आइ मनाइहैं, यही रही धरि ध्यान॥६५०॥

गुणकथन को लक्षण

करै विरह में जो जहाँ, पिय-गुन गुनन बखान।
ताही को गुनकथन कहि, बरनत सुकवि सुजान॥६५१॥

गुणकथन को उदाहरण—(कवित्त)

हौं हूँ गई जात वित आइ गो कहूँ तें कान्ह,
आनि बनिवान हूँ को झपकि झलौ गयो।
कहै 'पद्माकर' अनंग की उमंगन सों,
अंग-अंग मेरे भरि नेह को छलौ गयो॥
ठानि ब्रजठाकुर ठगोरिन की ठेलाठेल,
मेला के मझार हिय-हेला कै भलौ गयो।
छाह छ्वै छला छ्वै छिगुनी छ्वै छरा छोरन छ्वै,
छलिया छबीलो छैल छाती छ्वै चलौ गयो॥६५२॥

पुनर्यथा—(सवैया)

चोरिन गोरिन में मिलि कै इतै आई ही हाल गुवाल कहाँ की।
को न बिलोकि रह्यो 'पदमाकर' वा तिय की अवलोकनि बाँकी॥
बीर अबीर की धूँधुरि में कछु फेर-सो कै मुख फेरि कै झाँकी।
कै गई काटि करेजन के कतरे-कतरे पतरे करिहाँ की॥६५३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

गुनवारे गोपाल के, करि गुन-गननि बखान।
इक अवधिहि के आसरे, राखति राधा प्रान॥६५४॥

उद्वेग को लक्षण

बिरह-बिथ अकुलाइ उर, त्यों पुनि कछु न सुहाइ।
चित न लगत कहुँ, कैस हू, सो उद्वेग बनाइ॥६५५॥

उद्वेग को उदाहरण—(कवित्त)

घर ना सुहात ना सुहात बन बाहिर हू,
बाग ना सुहात जे खुसाल खुसबोही सों।
कहै 'पदमाकर' घनेरे घन-धाम त्यों ही,
चंद ना सुहात चाँदनी हूँ जोग जोही सों॥
साँझ ना सुहात ना सुहात दिन माँझ कछू,
व्यापी यह बात सो बखानत हौं तोही सों।
राति ना सुहात ना सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों॥६५६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

है उदास अति राधिका, ऊँची लेति उसास।
सुनि मनमोहन कान्ह को, कुटिल कूबरी-पास॥६५७॥

प्रलाप को लक्षण

विरही जन जहँ कहत कछु, निरखि निरर्थक बैन।
ता सों कहत प्रलाप हैं, कबि कविता के ऐन ॥६५८॥

प्रलाप को उदाहरण—(कवित्त)

आम को कहत अमिली है अमिली को आम,
आक ही अनारन को आँकिबो करति है।
कहै 'पद्माकर' तमालन को ताल कहै,
तालनि तमाल कहि ताकिबो करति है॥
'कान्है-कान्ह' कहूँ कहि कदली-कदंबन को,
भेंटि परिरंभन में छाकिबो करति है।
साँवरे जू रावरे यों बिरह बिकानी बाल,
बन-बन बावरी-लौं ताकिबो करति है॥६५९॥

पुनर्यथा—

प्रानन के प्यारे तन-ताप के हरनहारे,
नंद के दुलारे ब्रजवारे उमहत हैं।
कहै 'पद्माकर' उरूजे उर-अंतर यों,
अंतर चहैं हूँ जे न अंतर चहत हैं॥
नैननि बसे हैं अंग-अंग हुलसे हैं रोम-
रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधो वे गोबिंद कोऊ और मथुरा में, यहाँ
मेरे तो गोबिंद मोहिं-मोहिं में रहत हैं॥६६०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

निरखत घन घनस्याम कहि, भेंटन पठवति जु बाम।
बिफल मीच ह्वाँ करत जनु, करि कमनैती काम॥६६१॥

मूर्छा को लक्षण

दसा बियोगहि की कहत, जु है मूरछा नाम।
जहँ न रहत सुधि कौन हूँ, कहा सीत कह घाम ॥६६२॥

मूर्छा को उदाहरण—(कवित्त)

ए हो नंदलाल ऐसी ब्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ जोरी जुरि जायगी।
कहे 'पद्माकर' नहीं तौ ये झकोरैं लगें,
ओरे-लौं अचाक बिन घोरे घुरि जायगी॥
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन को,
देखत ही देखौ दामिनी-लौं दुरि जायगी।
तौ ही लग चैन जौ लौं चेती है न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी ॥६६३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

तौही तौ भल अवधि लौं, रहै जु तिय निरमूल।
नहिं तौ क्यों करि जियहिगी, निरखि सूल-से फूल ॥६६४॥

इति शृंगाररस-वर्णन

अथ हास्यरस-वर्णन

(दोहा)

थाई जाको हास है, वहै हास्यरस जानि॥
तहँ कुरूप कूवच कहव, कछु बिभाव ते मानि ॥६६५॥
भेद मध्य अरु ऊँच स्वर, हँसिबोई अनुभाव।
हरष चपलता और हू, तहँ संचारी भाव ॥६६६॥
स्वेत रंग रस हास्य को, देव प्रमथपति जासु।
ता को कहत उदाहरन, सुनत जो आवै हास ॥६६७॥

हास्यरस को उदाहरण—(कवित्त)

हँसि-हँसि भाजैं देखि दूलह दिगंबर को,
पाहुनी जे आवैं हिमाचल के उछाह में।
कहै 'पदमाकर' सु काहू सों कहै को कहा,
जोई जहाँ देखैं सो हँसेई तहाँ राह में॥
मगन भयेऊ हँसै नगन महेस ठाढ़े,
औरै हँसे येऊ हँसि-हँसि के उमाह में।
सीस पर गंगा हँसै भुजनि भुजंगा हँसै,
हास ही को दगा भयो नंगा के बिवाह में॥६६८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

कर मूसर नाचत नगन, लखि हलधर को स्वाँग।
हँसि-हँसि गोपी फिरि हँसै, मनहुँ पिये-सी भाँग॥६६९॥

अथ करुणारस-वर्णन

आलंबन प्रिय को मरन, उद्दीपन दाहादि।
थाई जाको सोक जहँ, वहै करुनरस यादि॥६७०॥
रोदिति महिपतनादि जहँ, बरनत कवि अनुभाव।
निर्वेदादिक जानिये, तहँ संचारी भाव॥६७१॥
चित्र कबूतर के बरन, वरुन देवता जान।
या विधि को या करुनरस, बरनत कवि कवितान॥६७२॥

करुणारस को उदाहरण—(कवित्त)

आँसुन अन्हाय हाय-हाय कै कहत सब,
औधपुरवासी कै कहा यों दुःख दाहिये।
कहै 'पदमाकर' जलूस युवराजी को सु,
ऐसो धनी है न जाय जाके सीस वाहिये॥

सुत के पयान दसरथ ने तजे जो प्रान,

बाढ्यो सोकसिंधु सो कहाँ लौं अवगाहिये।

मूढ़ मंथरा के कहे बन को जु भेजे राम,

ऐसी यह बात कैकेई को तो न चाहिये॥६७३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

राम भरतमुख मरन सुनि, दसरथ के बन माँहि।

महि परि भे रोदत उचरि, 'हा पितु हा नरनाह'॥६७४॥

अथ रौद्ररस-वर्णन

थाई जाको क्रोध अति, वहै रौद्ररस नाम।

आलंबन रिपु, रिपु-उमड़ उद्दीपन तिहि ठाम॥६७५॥

भृकुटि-भंग अति अरुनई, अधर-दसन अनुभाव।

गरब चपलता और हू, तहँ संचारी भाव॥६७६॥

रक्त रंग रस रौद्र को, रुद्र देवता जान।

तिन को कहत उदाहरन, सुनहु सुमति दै कान॥६७७॥

रौद्ररस को वर्णन—(कवित्त)

बारि टारि डारौं कुंभकर्नहिं बिदारि डारौं,

मारौं मेघनादै आजु यों बल-अनंत हौं।

कहै 'पद्माकर' त्रिकूट ही को ढाहि डारौं,

डारत करेई यातुधानन को अंत हौं॥

अच्छहि निरच्छ कपि रुच्छ ह्वै उचारौं, इमि

तोसे तिच्छ तुच्छन को कछुवै न गंत हौं।

जारि डारौं लंकहि उजारि डारौं उपवन,

फारि डारौं, रावन को तौ मैं हनुमंत हौं॥६७८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

अधम चन्द्र गहि गब्ब अति, चहि रावन को काल।
दृग कराल मुख लाल करि, दौरेउ दसरथ-लाल ॥६७९॥

अथ वीररस-वर्णन

जा रस को उत्साह सुभ, है इक थाईभाव।
सुरस बीर है चारि बिधि, कहत सबै कबिराव ॥६८०॥
युद्धबीर इक नाम है, दयाबीर बिय नाम।
दानबीर तीजो सु पुनि, धर्मबीर अभिराम ॥६८१॥
युद्धबीर को जानिये, आलंबन रिपु-जोर।
उद्दीपन ता को तबहि, पुनि सेना को सोर ॥६८२॥
अँग फरकन दृग अरुनई, इत्यादिक अनुभाव।
गरब असूया उग्रता, तहँ संचारी भाव ॥६८३॥
इंद्र देवता बीर को, कुंदन बरन बिसाल।
ता को कहत उदाहरन, सुनि जन होत खुसाल ॥६८४॥

युद्धवीर-वर्णन—(कवित्त)

सोहै अन्त्र ओढ़े जे न छोड़े सीस संगर की,
लंगर लँगूर उच्च ओज के अतंका में।
कहै 'पदमाकर' त्यों हुकरत फुंकरत,
फैलत फलात फाल बाँधत फलंका में॥
आगे रघुबीर कै समीर के तनै के संग,
तारी दै तड़ाक तड़ातड़ के तमंका में।
संका दै दसानन को हंका दै सुबंका बीर,
डंका दै बिजै को कपि कूदि पर्यो लंका में ॥६८५॥

पुनर्यथा—

जाही ओर सोर परै घोर घन ताही ओर,
जोर जंग जालिम को जाहिर दिखात है।
कहै 'पद्माकर' अरीन की अवाई पर,
साहब सवाई की ललाई लहरात है॥
परिघ प्रचंड चमू हरषित हाथी पर,
देखत बनत सिंह माधव को गात है।
उद्धत प्रसिद्ध जुद्ध जीति ही के सौदा-हित,
रौदा ठनकारि तन हौदा में न मात है॥६८६॥

पुनर्यथा—(दोहा)

धनुष चढ़ावत भे तबहिं, लखि रिपुकृत उतपात।
हुलसि गात रघुनाथ को, बखतर में न समात॥६८७॥

दयावीर-वर्णन

दयावीर में दीन-दुख बरनन आदि विभाव।
दूरि करब दुख, मृदु कहब इत्यादिक अनुभाव॥६८८॥
सुधृति चपलता और हू, तहँ संचारी भाव।
दयावीर बरनत सबै, याही विधि कविराव॥६८९॥

दयावीर को उदाहरण—(सवैया)

पापी अजामिल पार कियो जेहि नाम लियो सुत ही को नरायन।
त्यों 'पद्माकर' लात लगे पर विप्र हू के पग चौगुने चायन॥
को अस दीनदयाल भयो दसरत्थ के लाल-से सूधे सुभायन।
दौरे गयंद उबारिबे को प्रभु बाहनै छोड़ि उबाहनै पायन॥६९०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

मिले सुदामा सों जु करि, समाधान सनमान।
पग पलोटि मग-श्रम हरेउ, ये प्रभु दयानिधान॥६९१॥

दानवीर-वर्णन

दान समय को ज्ञान पुनि, याचक तीरथ-गौन।
दानवीर के कहत हैं, ये विभाव मतिमौन ॥६९२॥
तृन-समान लेखव सुधन इत्यादिक अनुभाव।
मोदा हरषादिक गनो, तहँ संचारी भाव ॥६९३॥

दानवीर को उदाहरण—(कवित्त)

बकसि वितुंड दये झुंडन के झुंड रिपु-
मुंडन की मालिका दई ज्यों त्रिपुरारी को।
कहै 'पदमाकर' करोरन को कोष दये,
षोडस हू दीन्हे महादान अधिकारी को॥
ग्राम दये धाम दये अमित अराम दये,
अन्न-जल दीन्हे जगती के जीवधारी को।
दाता जयसिंह दोय बातें तौ न दीनी कहूँ,
बैरिन को पीठि और डीठि परनारी को ॥६९४॥

पुनश्च—

संपति सुमेर की कुबेर की जु पावै, ताहि
तुरत लुटावत बिलंब उर धारै ना।
कहै 'पदमाकर' सुहेमहय हाथिन के,
हलके हजारन के बितरि बिचारै ना।
गंज-गज-बकस महीप रघुनाथराव,
याहि गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रहीं,
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारै ना ॥६९५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

दै डारै जु न भिक्षुकनि, हनि रावनहिं सुलंक।
प्रथम मिल्यो या तें प्रभुहि, सु बिभीषन ह्वै रंक ॥६९६॥

धर्मवीर-वर्णन

धर्मबीर को कबि कहत, ये बिभाव उर आन।
बेद-सुमृति-सीलन सदा, पुनि-पुनि सुनब पुरान ॥६९७॥
बेद-बिहित क्रम बचन बपु, औरहु है अनुभाव।
धृति आदिक बरनत सुकबि, तहँ संचारी भाव ॥६९८॥

धर्मवीर को उदाहरण—(कवित्त)

तृन के समान धन-धान राज त्याग करि,
पाल्यो पितु-बचन जो जानत जनैया है।
कहै 'पदमाकर' बिबेक ही को बानो बीच,
साँचो सत्यबीर धीर धीरज धरैया है॥
सुमृति पुरान बेद आगम कह्यो जो पंथ,
आचरत सोई सुद्ध करम करैया है।
मोद-मति-मंदर पुरंदर मही को धन्य,
धरम धुरंधर हमारो रघुरैया है ॥६९९॥

पुनर्यथा—(दोहा)

धारि जटा वलकल भरत, गन्यो न दुख तजि राज।
भे पूजत प्रभु पादुकनि, परम धरम के काज ॥७००॥

अथ भयानकरस-वर्णन

जाको थाईभाव भय, वहै भयानक जान।
लखन भयंकर गजब कछु, ते बिभाव उर आन ॥७०१॥

कंपादिक अनुभाव तहँ, संचारी गोपादि ।
काल देव श्यामा बरन, सु भयानकरस यादि ॥७०२॥

भयानक को उदाहरण—(कवित्त)

झलकत आवै झुंड झिलम-झलानि झप्यो,
तमकत आवै तेगबाही औ सिलाही है ।
कहै 'पद्माकर' त्यों दुंदुभी-धुकार सुनि,
अकबक बोलै यों गनीम औ गुनाही है ॥
माधव को लाल काल हू तें विकराल, दल
साजि धायो ए दई दई धौं कहा चाही है ।
कौन को कलेऊ धौं करैया भयो काल अरु,
का पै यों परैया भयो गजब इलाही है ॥७०३॥

पुनर्यथा—

ज्वाला की जलन-सी जलाक जंग-जालन की,
जोर की जमा है जोम जुलुम जिलाहे की ।
कहै 'पद्माकर' सु रहियो बचाये जग,
जालिम जगतसिंह रंग अवगाहे की ॥
दौरि दावादारन पै द्वार सौ दिवाकर की,
दामिनी दमंकनि दलेल दिग दाहे की ।
काल की कुटुंबिनि कला है कुहि कालिका की,
कहर को कुंत की नजरि कछवाहे की ॥७०४॥

पुनर्यथा—(छप्पय)

भुवन धुंधुरित-धूलि धूलि-धुंधुरित सु धूम हु ।
'पद्माकर' परतन्छ स्वच्छ लखि परत न भूम हु ॥

भग्गत अति परि पग्ग मग्ग लग्गत अँग-अंगनि।
तहँ प्रताप पृथिपाल ख्याल खेलत खुलि खग्गनि॥
तहँ तबहिं तोपि तुंगनि तड़पि तंतड़ान तेगनि तड़कि।
धुकि धड़-धड़-धड़-धड़-धड़ा-धड़ धड़धड़ात तद्धा धड़कि॥७०५॥

पुनर्यथा—(दोहा)

एक ओर अजगरहि लखि, एक ओर मृगराय।
विकल बटोही बीच ही, परो मूरछा खाय॥७०६॥

अथ बीभत्सरस-वर्णन

थाई जासु गलानि है, सो बीभत्स गनाव।
पीब मेद मज्जा रुधिर, दुर्गंधादि विभाव॥७०७॥
नाक मूँदिबो कंप तन, रोम उठब अनुभाव।
मोह असूया मूरछादिक संचारी भाव॥७०८॥
महाकाल सुर, नील रँग, सु बीभत्सरस जानि।
ता को कहत उदाहरन, रसग्रंथनि उर आनि॥७०९॥

बीभत्सरस को उदाहरण—(छप्पय)

पढ़त मंत्र अरु यंत्र, अंत्र लीलत इमि जुग्गिनि।
मनहुँ गिलत मदमत्त, गरुड-तिय अरुन उरग्गिनि॥
हरबरात हरपात, प्रथम परसत पलपंगत।
जहँ प्रताप जिति जग, रंग अँग-अंग उमंगत॥
जहँ 'पद्माकर' उतपत्ति अति, रन रक्त-नद्दिय बहत।
चख चकित चित्त चरबीन चुभि, चकचकाइ चंडी रहत॥७१०॥

पुनर्यथा—(दोहा)

रिपु-अंत्रन की कुंडली, करि जुग्गिनि चु चबाति।
पीबहि में पागी मनो, जुवति जलेबी खाति॥७११॥

अथ अद्भुतरस-वर्णन

जाको थाई आचरिज, सो अद्भुतरस गाव।
असंभवित जेते चरित, तिन को लखत बिभाव ॥७१२॥
बचन बिचल बोलनि कँपनि, रोम उठनि अनुभाव।
बितरक संका मोह ये, तहँ संचारी भाव ॥७१३॥
जासु देवता चतुरमुख, रंग बखानत पीत।
सो अदभुतरस जानिये, सकल रसन को मीत ॥७१४॥

अद्भुतरस को उदाहरण—(कवित्त)

अधम अजान एक चढ़ि कै बिमान भाख्यौ,
पूछत हौं गंगा तोहि परि-परि पाइ हौं।
कहै 'पदमाकर' कृपा करि बतावै साँची,
देखे अति अदभुत रावरे सुभाइ हौं॥
तेरे गुन-गान हूँ की महिमा महान मैया,
कान-कान नाइ कै जहान मध्य आइहौं।
एक मुख गाये ताके पंचमुख पाये अब,
पंचमुख गाइहौं तौ केते मुख पाइहौं ॥७१५॥

पुनर्यथा—

गोपी-ग्वाल-माली जुरे आपुस में कहैं आली,
कोऊ यसुदा के औतर्यो इंद्रजाली है।
कहै 'पदमाकर' करै को यों उताली, जा पै
रहन न पावै कहूँ एकौ फन खाली है॥
देखै देवताली भई बिधि के खुसाली, कूदि
किलकति काली हेरि हँसत कपाली है।
जनम को चाली एरी अद्भुत है ख्याली, आजु
काली की फनाली पै नचत बनमाली है ॥७१६॥

पुनर्यथा—

मुरली बजाइ तान गाइ मुसकाइ मंद,
लटकि-लटकि माई नृत्य में निरत है।
कहै 'पद्माकर' गोविंद के उछाह अहि-
बिष को प्रवाह प्रतिमुख ह्वै फिरत है॥
ऐसो फैल परत फुसकारत ही में मानो,
तारन को बृंद फूतकारन गिरत है।
कोप करि जौ लौं एक फन फुफकावै काली,
तौ लौं बनमाली सोऊ फन पै फिरत है॥७१७॥

पुनर्यथा—

सात दिन सात राति करि उतपात महा,
मारुत झकोरै तरु तोरै दीह दुख में।
कहै 'पद्माकर' करी त्यों धूम-धारन हूँ,
एते पै न कान्ह कहूँ आयो रोष-रुख में॥
छोर छिगुनी के छत्र-ऐसो गिरि छाइ राख्यो,
ताके तरे गाय गोप गोपी खरी सुख में।
देखि-देखि मेघन की सेन अकुलानी, रह्यो
सिंधु में न पानी अरु पानी इंदुमुख में॥७१८॥

पुनर्यथा—(दोहा)

घन बरषत कर पर धर्‍यो, गिरि गिरिधर निरसंक।
अजब गोपसुत चरित लखि, सुरपति भयो ससंक॥७१९॥

अथ शांतरस-वर्णन

सु रस सांत निर्बेद है, जाको थाईभाव।
सतसंगति गुरु तपोबन, मृतक समान बिभाव॥७२०॥

प्रथम रुमांचादिक तहाँ, भापत कवि अनुभाव।
धृति मति हरपादिक कहे, सुभ संचारी भाव ॥७२१॥
सुद्ध सुक्ल रँग देवता, नारायन है जान।
ता को कहत उदाहरन, सुनहु सुमति दै कान ॥७२२॥

शांतरस को उदाहरण—(सवैया)

बैठि सदा सतसंगहि में विप मानि विषै-रस कीर्ति सदाहीं।
त्यों 'पद्माकर' झूठ जितो जग जानि सुज्ञानहिं के अवगाहीं॥
नाक की नोक में डीठि दिये नित चाहै न चीज कहूँ चित-चाहीं।
संतत संत-सिरोमनि है धन है धन वे जन बेपरवाहीं ॥७२३॥

पुनर्यथा—(दोहा)

वन बितान रवि ससि दियो, फल भख सलिल-प्रवाह।
अवनि सेज पंखा पवन, अब न कछू परवाह ॥७२४॥
सब हित तें विरकत रहत, कछू न संका त्रास।
विहित करत सु न हित समुझि, सिमुवत जे हरिदास ॥७२५॥

इति नवरसनिरूपणम्।

(दोहा)

जयतसिंह नृप-हुक्म तें, 'पद्माकर' लहि मोद।
रसिकन के बसकरन को, कीन्हो जगतविनोद ॥७२६॥

इति श्रीकूर्मवंशावतंसश्रीमहाराजराजेन्द्रश्रीसवाईमहाराज-जगतसिंहाज्ञया कविपद्माकरविरचितजगद्विनोदनामकाव्ये रसनिरूपणप्रकरणम्।

पद्माकर-पंचामृत

४—मधु

प्रबोध-पचासा

(कवित्त)

देव नर किन्नर किते‍क गुन गावत, पै
पावत न पार जा अनंत गुनपूरे को।
कहै 'पद्माकर' सुगाल के बजावत ही,
काज करि देत जन-जाचक जरूरे को॥
चंद की छटान-जुत पन्नग-फटान-जुत,
मुकुट बिराजै जटाजूटन के जूरे को।
देखौ त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ,
पैये फल चारि फूल एक दै धतूरे को॥१॥

(सवैया)

राम को नाम जपौ निसिबासर, राम ही को इक आसरो भारो।
भूलो न भूल की भौरन में, 'पद्माकर' चाहि चितौनि को चारो॥
ज्यों जल में जलजात के पात, रहै जग में त्यों जहान तें न्यारो।
आपने-सो सुख औ दुख दौरि जु औरको देखै सु देखनहारो॥२॥

भूख लगै तब देत है भोजन, प्यास लगै तो पियावत पानै।
त्यों 'पद्माकर' पीर हरै को, सुबीर बड़े बिरदैत बखानै॥
है हम ही में हमारो महाप्रभु राम, इतै पै न मैं पहिचानै।
जैसे बिचित्र सुपत्रन में लिखे बेदन भेद न पुस्तक जानै॥३॥
भोग में रोग बियोग सँयोग में, योग में काय-कलेस कमायो।
त्यों 'पद्माकर' वेद-पुरान पढ्यो, पढ़ि कै बहु बाद बढ़ायो॥
दूनी दुरास में दास भयो, पै कहूँ बिसराम को धाम न पायो।
कायो गमायो सु ऐस ही जीवन, हाय मैं राम को नाम न गायो॥४॥
या जग जानकी-जीवन को जस क्यों इक आनन गाइ अघैये।
त्यों 'पद्माकर' मारग हैं बहु, द्वै पद पाइ कितै-कितै जैये॥
नाम अनंत अनंत कहैं, ते कहे न परैं कहि काहि जतैये।
राम की रूरी कथा सुनिबे को करोरन कान कहौ कहाँ पैये॥५॥

(कवित्त)

आनँद के कंद जग ज्यावत जगबृंद,
दसरथ-नंद के निबाहेई निबहिये।
कहै 'पद्माकर' पवित्र पन पालिबे कों,
चौरे चक्रपानि के चरित्रन को चहिये॥
अवधबिहारी के बिनोदन में बीथि-बीथि,
गीध गुह गीधे के गुनानुबाद गहिये।
रैन-दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये॥६॥

(सवैया)

द्यौस को राव करै जो चहै, अरु राति हू को करि द्यौस दिखावै।
त्यों 'पद्माकर' सीस को सिंधु, पिपीलिका के बल फील फिरावै॥

यों समरत्थ तनै दसरत्थ को सोइ करै जो कछू मन भावै।
चाहै सुमेरु को राई करै, रचि राई को चाहै सुमेरु बनावै ॥७॥

मीठो महा मिसिरी तें मनोहर, को कहै कंदकलान के तैसो।
त्यों 'पद्माकर' प्यारो पियूष तें, कामद कामदुघान के ऐसो ॥
सीतल स्वाद सिरै सब तें, सुचि है जल गंग-तरंग को जैसो।
क्यों न कहै मुख पाँच हू सों, सिव साँचई राम को नाम है ऐसो ॥८॥

(कवित्त)

आवत हू जात खात खेलत खुलत गात,
छींकत छकात चुपचाप ह्वै न रहिये।
कहै 'पद्माकर' परे हु परभात, प्रेम
पागत परात परमातमा न जहिये ॥
बैठत उठत जात जागत जँभात मुख,
सोवत हू सापने न औरे नाथ नहिये।
रैन-दिन आठो जाम राम राम राम रीम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥९॥

आयो मन हाथ तब आइबो रह्यो न कछू,
भायो गुरु-ज्ञान फेरि भाइबो कहा रह्यो।
कहै 'पद्माकर' सुगंध की तरंग जैसे,
पायो सतसंग फेरि पाइबो कहा रह्यो ॥
दान-बल बान-बल विविध बितान-बल,
छायो जस-पुंज फेरि छाइबो कहा रह्यो।
ध्यायो रामरूप तब ध्याइबो रह्यो न कछू,
गायो रामनाम तब गाइबो कहा रह्यो ॥१०॥

आस-बस बास-बस बिबिध बिलास-बस,
वासना बदी को सुर-आसना-लौं हरिहौ।
कहै 'पदमाकर' त्यों अधम अजामिल-लौं,
औगुन हमारे गुन मानि ही वौ धरिहौ॥
गुह पर गीध पर गनिका गयंद पर,
जाही ढार ढरे तवै ताही ढार ढरिहौ।
ह्वै रहौं तिहारे चरनन हीं को चेरो कहूँ,
ऐसो मन मेरो कब मेरे राम करिहौ॥११॥

(सवैया)

और की औरै कथा है कछू, गुन-औगुन मेरे न और गनीजो।
कानन दै चतुरानन या 'पदमाकर' की बिनती सुनि लीजो॥
एक यहै वर माँगत हौं, वर दूजो बिरंचि न भूलि हू दीजौ।
राम को कोऊ गुलाम कहै, ता गुलाम को मोहिं तिलाम लिखीजो॥१२॥

(कवित्त)

औगुन अनंत खरदूषन-लौं दोषवंत,
तुच्छ त्रिसिरा-लौं जा को एक हू न जस है।
कहै 'पदमाकर' कवंध-लौं मदंध, महा-
पापी हौं मरीच-लौं, न दाया को दरस है॥
मंथरा-लौं मंथर, कुपंथी पंथ-पाहन-लौं,
बालि हू लौं बिषई न जान्यौं और रस है।
व्याध हू लौं बधिक बिराध-लौं बिरोधी राम,
एवे पै न तारौ तौ हमारो कहा बस है॥१३॥
सुकृति अनेक ही पै एक हू कही न परै,
टेक ही हमारी केकही हू तें सठिन है।

कहै 'पद्माकर' न छाया है छमा की ऐसी,
काया कलि क्रोह मोह माया की मठिन है ॥
या तें गुह-गीध-लौं सु बीधियो न मो सों राम,
मेरी गति घोर या कठोर कमठिन है।
लंकगढ़ तोरिबे तें रावन सों रोरिबे तें,
मोहिं भवबंधन तें छोरिबो कठिन है ॥१४॥
व्याध हू तें विहद असाधु हौं अजामिल तें,
ग्राह तें गुनाही कहौ तिन में गनाओगे।
स्यौरी हौं न सुद्र हौं न केवट कहूँ को त्यौं न,
गौतमी तिया हौं जा पै पग धरि आओगे ॥
राम सों कहत 'पद्माकर' पुकारि, तुम
मेरे महापापन को पार हू न पाओगे।
सीता-सी सती को तज्यो झूठोई कलंक सुनि,
साँचोई कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे ॥१५॥
ए रे जड़ जीव जानि राखु बेद-भेद यहै,
सुमृति पुरान राखी यहै ठहराय है।
कहै 'पद्माकर' सु माया-परपंचन को
पेखि, परपंच पेखने को सब भाय है ॥
या तें भजु दसरथ-नंद रामचंदजू को,
आनँद को कंद कौसलेस रघुराय है।
जा दिना परैगो काम जम के जसूसन सों,
ता दिना तिहारे काम रामनाम आयहै ॥१६॥
कुटिल कुबुद्धि कुल कायर कलंकी छुद्र,
निपट असुद्ध तऊ हरषत ह्यो परै।

कहै 'पदमाकर' विरोध - अवरोध - बस,
क्रोध-बस ह्वै कै कहूँ काहू सों न त्यो परै ॥
औरन उदास करि पाँचन निरास करि,
त्रास जम-जातना को ल्यावत न ज्यो परै ।
अधम-उधारन हमारे रामचंद्र तुम,
साँचे बिरदैत या तैं काँचे हम क्यों परै ॥१७॥
जोग जप संध्या साधु-साधन सबैई तजे,
कीन्हे अपराध ते अगाध मनभावते ।
तेते तजि औगुन अनंत 'पदमाकर' तौ,
कौन गुन लै कै महाराजहि रिझावते ॥
जैसे अब तैसे पै तिहारे बड़े काम के हैं,
नाहीं तौ न एते बैन कबहूँ सुनावते ।
पावते न मो-सो जो पै अधम कहूँ, तो राम
कैसे तुम अधम-उधारन कहावते ॥१८॥
एकन सों बैर करि, प्रीति करि एकन सों,
एकन सों बैर है न प्रीति कछू गाढ़ी है ।
कहै 'पदमाकर' न होत चितचाही बात,
बात करिबे को अनचाही मीच ठाढ़ी है ॥
एते पै न चेत फेरि केते बाँध बाँधत है,
दंत लागे हिलन सपेद भई दाढ़ी है ।
बाढ़ी कहूँ राम की न भगति हिये में देखौ,
तृसना पिसाचिनि या बिलई-सी बाढ़ी है ॥१९॥
हानि अरु लाभ ज्यान जीवन अजीवन हू,
भोग हू वियोग हू सँयोग हू अपार है ।

कहै 'पद्माकर' इते पै और केते कहौं,
तिन को लख्यो न बेद हू में निरधार है ॥
जानियत या तें रघुराय की कला को कहूँ,
काहू पार पायो कोऊ पावत न पार है।
कौन दिन कौन छिन कौन घरी कौन ठौर,
कौन जानै कौन को कहा धौं होनहार है ॥२०॥

प्रलै के पयोनिधि-लौं लहरैं उठन लागीं,
लहरा लग्यो त्यों होन पौन पुरवैया को।
भीर भरी झाँझरी बिलोकि मँझधार परी,
धीर न धरात 'पद्माकर' खेवैया को ॥
कहा वार कहा पार जानी है न जात कछु,
दूसरो दिखात न रखैया और नैया को ॥
बहन न पैहै घेरि घाटहि लगैहै, ऐसो
अमित भरोसो मोहि मेरे रघुरैया को ॥२१॥

अपने पराये तें सोहाये भोग-बिंजन तें,
तो ही को जिमायो ता तें रसना पतीजियो।
कहै 'पद्माकर' ज्यों तेरियै कही मैं करी,
मेरी कही एक दिना एती मान लीजियो ॥
आपनीयै जानि कै जबान तो सों जाँचत हौं,
बोलत बिलंब एक छिन को न कीजियो।
जंगी जमराज के जसूसन सों काम परे,
रामई को नाम तू हरेई कहि दीजियो ॥२२॥

आस-बस डोलत सु या को बिसवास कहा,
साँस-बस बोलै मल-माँस ही को गोला है।

कहै 'पद्माकर' विचार छनभंगुर या,
पानी को-सो फेन जैसे फलक फफोला है ॥
करम करोरा पंचतत्वन बटोरा फेरि,
ठौर-ठौर जोला फेरि ठौर-ठौर पोला है।
छोड़ हरि-नाम नहीं पैहै बिसराम अरे,
निपट निकाम तन चाम ही को चोला है ॥२३॥
जाट हू धना के सदना के सुद्ध साथी भये,
हाथी हू उबारत न बार मन लाये हैं।
कहै 'पद्माकर' कहे न परैं तेते जग,
जेते कपि-रिच्छन के बिरद बढ़ाये हैं ॥
साधन के हेत पन पाल्यो प्रहलाद हू को,
याद करौ जाय सेबरी के बेर खाये हैं।
राखत हैं राखैंगे रखैया रघुनाथ जन,
आपने की बात सदा राखतेई आये हैं ॥२४॥
देखौ दिच्छ-दिच्छन प्रतच्छ निज पच्छिन के,
लच्छन समच्छ भय भच्छिबो करत हैं।
कहै 'पद्माकर' निपच्छन के पच्छ-हित,
पच्छि तजि लच्छि तजि गच्छिबो करत हैं ॥
सुद्ध सहसच्छ के बिपच्छिन के घच्छिबे को,
मच्छ कच्छ आदि कला कच्छिबो करत हैं।
लच्छिबो करत जस चच्छिबो करत जन,
आपने को राम सदा रच्छिबो करत हैं ॥२५॥
धोखा की धुजा है औ रुजा है महादोषन की,
मल की मँजूषो मोह-माया की निसानी है।

कहै 'पद्माकर' सु पानी-भरी खाल, ता के
खातिर खराब कत होत अभिमानी है।
राखे रघुराज के रहै तौ रहै पानी,
न तौ जंगी जमराज ही के हाथन बिकानी है।
जौ ही लगि पानी तौ लौं देह-सी दिखानी,
फेरि पानी गये खारिज पखाल ज्यों पुरानी है ॥२६॥
आवत गलानि जो बखान करौं ज्यादा, यह
मादा मल मूत और मज्जा की खलीती है।
कहै 'पद्माकर' जरा तौ जागि भीजी, तब
छीजी दिन-रैन जैसे रेनु ही की भीती है॥
सीतापति राम के सनेह-बस बीती जो पै,
तौ तो दिव्य देह जम-जातना तें जीती है।
रीती रामनाम तें रही जो बिन काम तौ, या
खारिज खराब हाल खाल की खलीती है ॥२७॥
गोदावरी गोकरन गंगा हू गया हू यह,
ये ही कोटि तीरथ किये को लाभ लहिये।
कहै 'पद्माकर' सु ज्ञान यहै ध्यान यहै,
यहै सुख-खान सरबस्व मानि रहिये॥
ये ही जप ये ही तप ये ही जग्य जोग यहै,
ये ही भव-रोग को उपाव एक चहिये।
रैन-दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥२८॥
तापहर पापहर कलि के कलापहर,
तीखन त्रितापहर तारक तरैया को।

कहै 'पद्माकर' त्यों प्रगट प्रकासमान,
पोषक पियूष-ऐसो जैसो कामगैया को ॥
मुख सुखदायक सहायक सवन सूधो,
सुलभ सरन्य सरनागत अवैया को ।
मीठो भर-कठवति परत न फीको नित,
नीको निरदोष नाम राम रघुरैया को ॥२९॥

(सवैया)

ये भवबाँधन बाँधिबे को सुख साधन ये ही सदा अभिलाखै ।
त्यों 'पद्माकर' सालिगराम को, कै अरचा चरनोदक चाखै ॥
सुंदर स्याम सरोरुह साँवरो, राम ही राम निरंतर भाखै ।
देह धरे को यहै सुख है, जु विदेहसुतापति में चित राखै ॥३०॥
आसन आदि विलासन सों सुभ साजि सिँहासन पै विसराम है ।
त्यों 'पद्माकर' दीजिये भोग, विभूषन जो तुलसी-दल-दाम है ॥
या विधि औरहू कै अरचा, जपै कामद श्रीप्रभु के गुन-ग्राम है ।
पूजिये सालिगराम ही को नित, सालिगराम में राम को नाम है॥३१॥

(कवित्त)

काहे को बघंबर को ओढ़ि करौ आडंबर,
काहे को दिगंबर ह्वै दूध खाय रहिये ।
कहै 'पद्माकर' त्यों काय के कलेस-हित,
सीकर सभीत सीत घाव ताप सहिये ॥
काहे को जपौगे जप काहे को तपौगे तप,
काहे को प्रपंच पंच पावक में दहिये ।
रैन-दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥३२॥

थंभन में थॉम-सो सुठाम सो सुदंभन में,
दीपक ललाम-सो अँधेरे-से दिगंत में।
कहै 'पदमाकर' गयल में विश्राम-सो,
सरोजन की दाम सो जो सरद समंत में॥
सीतापति राम को सुनाम एक ऐस ही है,
आनँद के आम-सो सु लागत वसंत में।
पावस मे धाम-सो सुग्रीषम में सीत-ऐसो, सीत परे
घाम - सो हिमाम - से हिमंत में ॥३३॥

(सवैया)

मानुष को तन पाय अन्हाय, अघाय पियौ किन गंग को पानी।
भाषत क्यों न भयो 'पदमाकर' राम ही राम रसायन बानी॥
सारँगपानि के पायन सों, तजि कै मन को कत होत गुमानी।
मोटी मुचंड महामतवारिन, मूड़ पै मीच फिरै मड़रानी॥३४॥
और सबै सँग सापनो है, जग आपनो एक हितू रघुराया।
ताहि न भूलि हू भूलियो तू, 'पदमाकर' पेखनो पेख पराया॥
नैन मुँदे पै जहाँ को तहाँ जकि-सी रहि जाति जमाति औ जाया।
माया चलाय कहौ क्यों चलै, चलै आपने संग न आपनी काया॥३५

(कवित्त)

काम-बस सूपनखा नाम गनिका-सी तरी,
क्रोधवस रावन तर्यो जो लंक लाछेई।
कहै 'पदमाकर' विमोह-बस बिप्र तर्यो,
लोभवस लुब्धक तर्यो सो बान-बाछेई॥
औरे गीध गुह ग्राव ग्राह हैं, न गाए परैं,
तेते तरि-तरि गे न केते काछ काछेई।

या तें विधि कौन हूँ कहूँ जो रघुराज ही के,
पाछेई परौगे तो तरौगे यार आछेई ॥३६॥

(सवैया)

या जगजीवन को है यहै फल, जो छल छाँड़ि भजै रघुराई।
सोधि कै संत महंतन हूँ, 'पद्माकर' बात यहै ठहराई॥
है रहै होनी प्रयास बिना, अनहोनी न ह्वै सकै कोटि उपाई।
जो विधि भाल में लीकि लिखी सो बढ़ाई बढ़ न घटै न घटाई॥३७॥

(कवित्त)

संभु तें न सूधो, डरै दूरि दुरगा तें, रहै
जाहि न तृषा है गहि गंगाजल पान की।
कहै 'पद्माकर' सुनी ना सठ सापनेहू,
भाखी बालमीक जो कथा है भगवान की॥
सीतापति-चरन-सरोज तें बिमुख, सुख
चाहत इतै पै भाटी गाँठी अभिमान की।
जैसे नर मूढ़ गाजरन की तुला पै चढ़ि,
आनन उठाय धाट हेरत बिमान की॥३८॥
रिच्छन के वृंद बली बंदर बिलंद तरि,
मोटे मोद-मंदिर भे सुजस ललाम के।
कहै 'पद्माकर' सिला हू तरि सौरी तरि,
पाये पग-पंकज-पराग अभिराम के॥
गुह तरि गीध तरि गनिका गयंद तरि,
केते तरि-तरि भे निवासी निज धाम के।
आरे भवसिंधु में उतारे दैनवारे अबै,
संभु के सँभारे हैं धरन रामनाम के॥३९॥

(सवैया)

जैसे जरा के जरा कहि जागत, जात हू में न रहै छबि छाजी।
त्यों कलिकाल के व्यालन तें 'पद्माकर' भक्ति फिरै भ्रमि भाजी॥
त्यों मुख राम के नाम के लागत, यों उठि जात कुपातक पाजी।
ज्यों छिन एक ही में छुटि जाति है, आतस के लगे आतसबाजी॥४०

पेट को चौरे चपेट सही, परमारथ स्वारथ लागि बिगारे।
त्यों 'पद्माकर' भक्ति भजी, सुनि दंभ के द्रोह के दीह नगारे॥
कौन के आसरे आस तजौं, सुधि लेत न क्यों दसरत्थ-दुलारे।
जोग'रु जज्ञ जपोतप-जाल, बिहाल परे कलिकाल के मारे॥४१॥

यों मन लालची लालच में लगि लोभ-तरंगन में अवगाह्यो।
त्यों 'पद्माकर' गेह के देह के, नेह के काज न काहि सराह्यो॥
पाप किये पै न पातकीपावन जानि कै राम को नेम निबाह्यो।
चाह्यो भयो न कछू कबहूँ, जमराज हू सों बृथा बैर बिसाह्यो॥४२

पातकीपावन हौ तुम राम, रहैं हम पातक में मदमाते।
दीन के बंधु दयाल इकै तुम हौ, हम दीनदसान हीं पाते॥
पालक हौ तुम बिप्रन के, हम हूँ 'पद्माकर' बिप्र सुहाते।
या तें रटौं न हटौं प्रभु-पास तें, हैं तुम तें हम तें बहु नाते॥४३॥

रे दिल बेगरजी दरजी, उर डारि भजै न क्यों तैं सियना है।
त्यों 'पद्माकर' देह के कारन, खानै खुराक पिये पियना है॥
नैन मुदे पै न फेर फितूर को टंच, न टोभ कछू छियना है॥
पेट के बेट बेगारहि में, जब लौं जियना तब लौं सियना है४४॥

बैस बिसासिनि जाति बही, उमही छिन-ही-छिन गंग की धार-सी।
त्यों 'पद्माकर' पेखनि या, अजहूँ न भजै दसरत्थ-कुमार सी॥

बार पके थके अंग सबै मढ़ि मीच गरेई परी हर-हार-सी।
देखै दसा किन आपनी तू, अब हाथ के कंगन को कहा आरसी ॥४५॥

पापी अजामिल पार कियो, जेहि नाम लियो सुत ही को नरायन।
त्यों 'पद्माकर' लात लगे परे बिप्र हू के पग चौगुने चायन ॥*
को अस दीनदयाल भयो † दसरत्थ के लाल-से सूधे सुभायन।
दौरे गयंद उबारिबे को, प्रभु बाहनै छोड़ि उबाहनै पायन ॥४६॥

(कवित्त)

भाये 'पद्माकर' न तैसे भाग जज्ञन के,
जैसे भगवानै भीलनी के फल भाये हैं।
भोजन की सामा सत्यभामा की भुलाई भलें,
दुखी वा सुदामा के सु चाउर चबाये हैं॥
छप्पन सुभोग दुरजोधन के त्यागि करि,
आसा गहि बेग तें बिदुर-घर आये हैं।
धारा धाये फिरत वृथा पै नेम-नीरधि में,
पाये जिन राम तिन प्रेम ही सों पाये हैं ॥४७॥

कीन्ही तुम सेत मैं असेत कृति कीन्ही, तुम
धर्म अनुराग्यो मैं अधर्म अनुराग्यो है।
कहै 'पद्माकर' अखाँग्यो तुम लंकपति,
हम हूँ कलंकपति ह्वैबोई अखाँग्यो है॥
हम तुम हूँ तें अति करम-करैया बड़े,
अंकनि गने पै यों गुमान जिय जाग्यो है।
खीझियो न मो पै सुख लागत भले ही राम,
नाम हूँ बिहारो जो हमारे मुख लाग्यो है ॥४८॥

---

* पाठांतर—त्यों 'पद्माकर' के भ्रनिपात जु लात लगे परे बिप्र के पायन। † कियो।

जा दिन जनम देत ता दिन तें आगे करै,
पय को प्रसव जोग जीवन के हेत है।
कहै 'पद्माकर' अमीर उमराव वा के,
एक ही सो गरजी गरीब स्याम सेत है॥
हम करतूती बड़े किम्मती कहाए, जो या
भाषत भरम सो तौ अधिक अचेत है।
ज्ञान करि देखौ भये काहे को अजान, राम
करुनानिधान सो निदान सुधि लेत है॥४९॥

(सवैया)

को किहि को सुत को किहि को पितु को किहि को पति कौन की को ती।
कौन को को जग ठाकुर चाकर, को 'पद्माकर' कौन को गोती॥
जानकी-जीवन जानि यहै, तजि दे तू सबै धन धाम औ धोती।
हौं तो न लोटतो लोभ-लपेट में पेट की जो पै चपेट न होती॥५०॥

(कवित्त)

सुखद सुकंठ - सखा साहिब-सरन्य सुचि,
सूधे सत्यसंध के प्रबंधन को गहिये।
कहै 'पद्माकर' कलेस-हर कौसलेस,
कामद कबंध-रिपु ही को लै उमहिये॥
राजिवनयन रघुराज राजा राजाधिप,
रूप-रतनाकर को राजी राखि रहिये।
रैन-दिन आठोजाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये॥५१॥

इति श्रीबाँदावासीमोहनभट्टात्मजकविपद्माकरविरचितप्रबोधपचासा समाप्तः।

गंगालहरी

(दोहा)

हरि हर बिधि को सुमिरि कै, काटहु कठिन कलेस।
कबि 'पद्माकर' करत है, गंगालहरी बेस ॥१॥

(कवित्त)

बई ती बिरंचि भई बामन-पगन पर,
फैली-फैली फिरी ईस-सीस पै सुगथ की।
आइ कै जहान जन्हु-जंघा लपटाई फेरि,
दीनन के हेत दौरि कीन्ही तीनि पथ की ॥
कहै 'पद्माकर' सु महिमा कहाँ लौं कहौं,
गंगा नाम पायो सोही सबके अरथ की।
चार्यो फल-फलो फूली गहगही बहबही,
लहलही कीरति-लता है भगीरथ की ॥२॥

कूरम पै कोल कोल हू पै सेष-कुंडली है,
कुंडली पै फबी फैल सुफन हजार की।
कहै 'पद्माकर' त्यों फन पै फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है थिति रजत-पहार की॥
रजत-पहार पर संभु सुरनायक हैं,
संभु पर ज्योति जटाजूट है अपार की।
संभु-जटाजूटन पै चंद की छुटी है छटा,
चंद की छटान पै छटा है गंग-धार की॥३॥

करम को मूल तन तन-मूल जीव जग,
जीवन को मूल अति आनँद ही धरिबो।
कहै 'पद्माकर' त्यों आनँद को मूल राज,
राज-मूल केवल प्रजा को भौन भरिबो॥
प्रजा-मूल अन्न सब अन्नन को मूल मेघ,
मेघन को मूल एक जज्ञ अनुसरिबो।
जज्ञन को मूल धन, धन-मूल धर्म, अरु
धर्म-मूल गंगाजल-बिंदु पान करिबो॥४॥

सहज सुभाय आय एक महापातकी की,
गंगा मैया धोई तू तौ देह निज आप है।
कहै 'पद्माकर' सु महिमा मही में भई,
महादेव देवन में बाढ़ी थिर थाप है॥
जकि-से रहे हैं जम, थकि-से रहे हैं दूत,
दूनी सब पापन के उठी तन ताप है।
भौंची मही वा की गति देखि कै बिचित्र रहे,
चित्र-कैसे लिखे चित्रगुप्त चुपचाप है॥५॥

गंगा के चरित्र लखि भाष्यौ जमराज, यह
एरे चित्रगुप्त मेरे हुकुम में कान दै।
कहै 'पद्माकर' नरक सब मूँदि करि,
मूँदि दरवाजेन को तजि यह थान दै॥
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव, या तें
दूतन बुलाइ कै बिदा के बेगि पान दै।
फारि डारु फरद न राखु रोजनामा कहूँ,
खाता खति जान दै बही को बहि जान दै॥६॥

जान्यो जिन है न जज्ञ जोग जप जागरन,
जन्महि वितायो जग जोयन को जोइ कै।
कहै 'पद्माकर' सुदेवन की सेवन तें,
दूरि रहे पूरि मति-बेदरद होइ कै॥
कुटिल कुराही कूर कलही कलंकी, कलि-
काल की कथान में रहे जे मति खोइ कै।
तेऊ बिस्नु-अंगन में बैठे सुर-संगन में,
गंग की तरंगन में अंगन को धोइ कै॥७॥

जैसे तैं न मो सों कहूँ नेक हू डरात हुतो,
तैसो अब तो सों हौं हूँ नेक हू न डरिहौं।
कहै 'पद्माकर' प्रचंड जो परैगो तौ,
उमंडि करि तो सों भुजदंड ठोंकि लरिहौं॥
चलो-चलु चलो-चलु बिचलु न बीच ही तें,
कीच-बीच नीच तो कुटुंब को कचरिहौं।
एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहि,
गंगा की कछार में पछारि छार करिहौं॥८॥

आयो जौन तेरी धौरी धारा में धसत जात,
तिन को न होत सुरपुर तें निपात है।
कहै 'पद्माकर' तिहारो नाम जा के मुख,
ता के मुख अमृत को पुंज सरसात है॥
तेरो तोय छ्वै कै औ छुवति तन जा को वात,
तिन की चलै न जमलोकन में बात है।
जहाँ-जहाँ मैया तेरी धूरि उड़ि जाति गंगा,
तहाँ-तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात है॥९॥

जमपुर द्वारे लगे तिन में केवारे, कोऊ
हैं न रखवारे ऐसे वन के उजारे हैं।
कहै 'पद्माकर' तिहारे प्रन धारे तेऊ,
करि अघ भारे सुरलोक को सिधारे हैं॥
सुजन सुखारे करे पुन्य उजियारे अति,
पतित-कतारे भवसिंधु तें उतारे हैं।
काहू ने न तारे तिन्हैं गंगा तुम तारे, और
जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं॥१०॥

सुचित गोविंद ह्वै कै सेवते कहाँ धौं जाइ,
जलजंतु-पंति जरि जैबे को अमिलती।
कहै 'पद्माकर' सु जादा कहौं कौन अब,
जाती मरजादा ह्वै मही की अनमिलती॥
जल थल अंतरिच्छ पावते क्यों पापी मुक्ति,
मुनिजन जापकन जो न दुरि मिलती।
सूखि जातो सिंधु बड़वानल की झारन सों,
जो न गंगाधार ह्वै हजार धार मिलती॥११॥

विधि के कमंडल की सिद्धि है प्रसिद्धि यही,
हरि-पद-पंकज-प्रताप की लहर है।
कहै 'पद्माकर' गिरीस-सीस-मंडल के
मुंडन की माल ततकाल अघहर है॥
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य-पथ,
जन्हु-जप-जोग-फल-फैल की फहर है।
छेम की छहर गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर जमजाल को जहर है॥१२॥
हौं तौ पंचभूत तजिबे को तक्यो तोहि, पर
तैं तौ कस्यो मोहिं भलो भूतन को पति है।
कहै 'पद्माकर' सु एक तन तारिबे में,
कीन्हें तन ग्यारह कहौ सो कौनि गति है॥
मेरे भाग गंग यहै लिखी भागीरथी, तुम्हैं
कहिए कछुक तौ कितेक मेरी मति है।
एक भवसूल आयौं मेटिबे को तेरे कूल,
तोहि तौ त्रिसूल देत बार न लगति है॥१३॥
भाषा होति भूषित सु पूरी अभिलाषा होति,
सुजस-लतान की सु साखा ह्वै सुगति की।
कहै 'पद्माकर' त्यों बदन बिसाल होत,
हाल होत हेरि छल-छिद्रन की खतिकी॥
गंगाजू तिहारे गुनगान करैं अजगवै,
सानि होति बरषा सु आनँद की अति की।
पूर होत पुन्यन को घूर होत अघरम,
चूर होति चिंता दूर होति दुरमति की॥१४॥

सूधरो जो होतो माँगि लेतो और दूजो कहूँ,
जातो बन खेती करि खातो एक हर की।
ए तो 'पद्माकर' न मानत है नाथि चलें,
भुजन के साथ है गेरया अजगर की॥
मैं तो याहि छोड़ौं पै न मो को यह छोड़त है,
फेरि लै री फेरि व्याधि आपने बगर की।
सैल पै चढ़त गहि ऊरध की गैल गंगा,
कैसो बैल दीन्हों जो न गैल गहै घर की॥१५॥
जोग अप जागै छाँड़ि जाहु न परागै भैया,
मेरी कही आँखिन के आगे सु तो आवैगी।
कहै 'पद्माकर न ऐहै काम सरस्वती,
साँच हू कलिंदी कान करन न पावैगी॥
लैहै छीनि अंबर दिगंबर कै जोरावरी,
बैल पै चढ़ाइ फेरि सैल पै चढ़ावैगी।
मुंडन के माल की भुजंगन के जाल की,
सु गंगा गजखाल की खिलत पहिरावैगी॥१६॥
लोचन असम अंग भसम चिता को लाइ,
तीनों लोक नायक सो कैसे कै ठहरतो।
कहै 'पद्माकर' बिलोकि इमि ढंग जाके,
वेद हू पुरान गान कैसे अनुसरतो॥
बाँधे जटाजूट बैठि परबत-कूट माहिं,
महाकालकूट कहो कैसे कै ठहरतो।
पीवै नित भंगै रहै प्रेतन के संगै, ऐसे
पूछतो को नंगै जो न गंगै सीस धरतो॥१७॥

पापन की पाँति भाँति-भाँति बिललाति परी,
जम की जमाति हलकंपन हिलति है।
कहै 'पद्माकर' हमेसा दिव्य-बीथिन में,
बानन की रेल-ठेल ठेलनि ठिलति है॥
सुरधुनि रावरे उधारे जग-जीवन की,
छिन-छिन सेन सिवलोक कों मिलति है।
आसन अरघ देत-देत निसिबासर,
बिचारे पाकसासन को साँस न मिलति है॥१८॥

सबन के बीच बीच-समै महानीच-मुख
गंगा मैया तेरे आजु रेनु-कन है गये।
कहै 'पद्माकर' दसा यों सुनौ ता की वा की,
छवि की छटान सों त्यों छिति-छोर छ्वै गये॥
दूत दबकाने चित्रगुप्त चुपकाने, औ
जकाने जमजाल पाप-पुंज लुंज त्वै गये।
चारिमुख चारिभुज चाहि-चाहि रहे ताहि,
पंचन के देखत ही पंचमुख ह्वै गये॥१९॥

कलि के कलंकी क्रूर कुटिल कुराही केते,
तरि गे तुरंत तबै लीन्ही रेनु-राह जब।
कहै 'पद्माकर' प्रयास बिन पावै सिद्धि,
मानत न कोऊ जमदूतन की दाह दब॥
कागज करम करतूति के उठाइ धरे,
पचि-पचि पेच में परे हैं प्रेतनाह अब।
बेपरद बेदरद गजब गुनाहिन के,
गंगा की गरद कीन्हें गरद गुनाह सब॥२०॥

रेनुका की रासन में कीच-कुस-कासन में,
निकट निवासन में आसन लदाऊ के।
कहै 'पद्माकर' वहाँई मंजु मूरन में,
धौरी-धौरी धूरन में पूरन प्रभाऊ के॥
नारन में पारन में देखहु दरारन में,
नाचति है मुकुति अधीन सब काऊ के।
कूल औ कछारन में गंगाजल-धारन में,
मँझरा मँझारन में झारन में झाऊ के॥२१॥

तेरे तीर जौ लौं एक लहर निहारियतु,
तौ लौं कैयो लच्छ सूच्छ लहरन धारती।
कहै 'पद्माकर' चहौं जौ बरदान, तौ लौं
कैयो बरदानन के गान अनुसारती॥
जौ लौं लगौं काहू सों कहन कला एक तौ लौं,
कैयो लच्छ कला के समूहन सँभारती।
जौ लौं एक तारे को हौं रचत कवित्त गंगे,
तौ लौं तुम केतिक करोरि तारि डारती॥२२॥

गंगाजू तिहारे तीर आछी भाँति 'पद्माकर'
देखि एक पातकी की अदभुत गति है।
आइ कै गोविंद बाँह धरि कै गरुडजू पै,
आपनेई लोक जाइवे की कीन्हीं मति है॥
जौ लौं चलिबे को भये गाफिल गोविंद तौ लौं,
चोरि चतुरानन चलाई हंसगति है।
जौ लौं चतुरानन चितैवे चारों ओर, तौ लौं
वृष पै चढाइ लै गयोई वृषपति है॥२३॥

पापी एक जात हुतो गंगा के अन्हाइवे को,
ता सों कहै कोऊ एक अधम अपान में।
जाहु जनि पंथी उत विपति विसेषि होति,
मिलैगो महान कालकूट खान-पान में॥
कहै 'पदमाकर' भुजंगनि बँधैंगे अंग,
संग में सुभारी भूत चलैंगे मसान में।
कमर कसैंगे गजखाल ततकाल, बिन
अंबर फिरैगो तू दिगंबर दिसान में॥२४॥

कैधौं तिहूँ लोक को सिँगार की विसाल माल,
कैधौं जगी जग में जमाति तीरथन की।
कहै 'पदमाकर' विराजै सुरसिंधु-धार,
कैधौं दूधधार कामधेनुन के थन की॥
भूपति भगीरथ के जस की जलूस कैधौं,
प्रगटी तपस्या कैधौं पूरी जन्हु-जन की।
कैधौं कछू राखै राकापति सों इलाका भारी,
भूमि की सलाका कै पताका पुन्य-गन की॥२५॥

जम को न जोर जब पापिन पै चल्यो तब,
हाथ जोरि गंगाजू सों चुगुली करैं खरे।
बड़ेन पै ढरौ पै ना ढरौ देवि तुच्छन पै,
कहै 'पदमाकर' सुनावत हरे-हरे॥
बड़ेन पै ढरे बड़ी पाइये बड़ाई देखो,
ईस पै ढरीं तो तुम्हैं ईस सीस पै ढरे।
तुच्छन को देतीं जैसो नारायन रूप, तैसो
तुच्छ तुम्हैं तुच्छ करि पायन तरे करे॥२६॥

अधम अजान एक चढ़ि कै विमान भाख्यो,
बूझत हौं गंगा तोहि परि-परि पाइ हौं।
कहै 'पद्माकर' कृपा करि बतावै साँची,
देखे अति अद्भुत रावरे सुभाइ हौं॥
तेरे गुनगान ही की महिमा महान मैया,
कान-कान नाइ कै जहान-मध्य छाइहौं।
एक मुख गाये ता के पंचमुख पाये, अब
पंचमुख गाइहौं तौ केते मुख पाइहौं॥२७॥
पापन की पाँति महामंद मुख मैली भई,
दीपति दुचंद फैली धरम-समाज की।
कहै 'पद्माकर' त्यों रोगन की राह परी,
दाह परी दुःखन में गाह अति गाज की॥
जा दिन तें भूमि माहिं भगीरथ आनी, जग
जानी गंगधारा या अपारा सब काज की।
ता दिन तें जानी-सी विकानी बिललानी-सी,
बिलानी-सी दिखानी राजधानी जमराज की॥२८॥
जम के जसूस तिनै जम सों हमेस करैं,
तेरी ठाकुरी को ठीक नेकु न निहारो है।
बड़े-बड़े पापी औ सुरापी द्विज-तापी, तहाँ
चलन न पावै कहूँ हुकुम हमारो है॥
कहै 'पद्माकर' सुब्रह्मलोक बिस्नुलोक,
नाम लै कै कोऊ सिवलोक को सिधारो है।
बैठी सीस गंगा के तरंगा ह्वै अभंगा, ऐसी
गंगा ने उठाइ दीन्हों अमल तिहारो है॥२९॥

बिन जप जज्ञ दान तीछन तपस्या ध्यान,
चाहत हो जो पै तिहूँ लोक में महाउदोत ।
कहै 'पदमाकर' सुनौ तौ हाल, हामी भरौ,
लिखौ कहौ लै कै कहूँ कागद-कलम-दोत ।
गंगाजू के नाम सुने हामी भरे लिखे कहे,
ऐसे चढ़ि जात कछु पुन्यन के पूरे गोत ।
सौ गुने सुने तें औ हजार गुने हामी भरे,
लाख गुने लिखत करोरि गुने कहे होत ॥३०॥

परो एक पतित पराव तीर गंगाजू के,
कुटिल कृतघ्नी कोढ़ी कुंठित कुढंगी अंध ।
कहै 'पदमाकर' कहौं मैं कौन वा की दसा,
कीट परि गये तन आवै महा दुरगंध ॥
पाप हाल छूटि गे सु लूटि गे विपत्ति-जाल,
टूटि गे तड़ाक दै सुनाम लेत भवबंध ।
गं कहे गनेस-भेस दौरि गही बाँह अरु,
गा के कहे गरुड़ चढाइ लीन्हों निज कंध ॥३१॥

सरद-घटा-सी खासी चढ़ती अटा-सी,
दुपटा-सी छिति छीरधि-छटा-सी निरधारिये ।
लज्जा-सी छुटी-सी छारद्वारी-सी गढ़ी-सी गढ़,
मठ-सी मढ़ी-सी औ गढ़ी के ढार ढारिये ॥
कहै 'पदमाकर' सु धौरी-धौरी दौरी आवै,
चौरी-चौरी चंचल सुचारु चिन्हवारिये ।
हरे-हरे छबि नई-नई न्यारी-न्यारी नित,
लहरैं निहारि प्यारी गंगाजू तिहारिये ॥

बिघन बिनास भवपास होत नासै मासै,
नासै पुन्य-पुंज को प्रकासै रंगरंगा के।
सुख की समाजै उपराजै साज छाजै छिति,
घन-सी गराजै राजै सीस ईस नंगा के॥
कहै 'पद्माकर' सुजानै करि ज्ञानै जानै,
तानै मनमानै भोग आनै देव-अंगा के।
सुंदर सुभंगा नित अमित अभंगा आछे,
अघ-ओघ-भंगा ये तरंगा देवि गंगा के॥३३॥
तहाँ आइ भूमि तें लगाइ आसमान हू लौं,
जानि गिरवान औ बिमानन के जुरे थोक।
कहै 'पद्माकर' जो कोऊ नर जैसे तैसे, तन
देत गंगा - तीर तजि कै महान सोक।
सो तौ देत व्याधै बिष दुःखन दिनाई देत,
पापन के पुंज को पहारन को ठोक-ठोक॥
दगा देत दूतन चुनौती चित्रगुप्तै देत,
जम को जरब देत पापी लेत सिवलोक॥३४॥
सुखद सुहाई मनभाई मुनिदेवन के,
निखिल निकाई रूप वेदन में गाई है।
कहै 'पद्माकर' कहाँ लौं साधुताई कहौं,
सब ही पै एक-सी दया-सी बगराई है॥
पुन्यताई धारत उधारत अधमताई,
नीक ठकुराई की ठसक ठहराई है।
जहाँ-जहाँ जम की जमाति कीन्ह करामाति,
तहाँ-तहाँ फिरै देवि गंगा की दुहाई है॥३५॥

गंगाजू के तीर-तीर छोड़े हैं सरीर जिन,
तेऊ गने जात पुन्यवंतन की धुर हैं।
कहै 'पद्माकर' त्यों तिन की जलूसै लखि,
गीरवान सकल सराहैं जुर-जुर हैं।
सारथी गोविंद दीपदानवारे भानु होत,
पंखवारे भारे पाकसासन-से सुर हैं॥
खौरवारे बरुन तमोरवारे तारापति,
चौंरवारे चारु चतुरानन चतुर हैं॥३६॥

एक महापातकी सुगात की दसा विलोकि,
देत यों उराहनो सु आठ हू पहर है।
मीच-समै तेरे उत आप गये कंठ, इत
व्यापि गयो कंठ कालकूट-सो जहर है।
आप चढ़ो सीस मोहिं दीन्ही बकसीस,
औ हजार सीसवारे की लगाई अटहर है।
मोहिं करि नंगा अंग-अंगनि भुजंगा बाँधो,
ए री मेरी गंगा तेरी अद्भुत लहर है॥३७॥

कीजतु फिराद सुनि लीजिये हमारी गंगा,
लाखन के साथी दुःख दिग्गज डिगाये तू।
कहै 'पद्माकर' जु जानत न कोऊ दूजो,
तौन जस जगा-जगा जगद्रुम गाये तू॥
आयो हुतो हौं तो कछु लीबे को तिहारे पास,
जनम के जोरे मेरे पातक हिराये तू।
छोड़ि-छोड़ि तत्र तन सोये ते गरीब जे वै,
ते वै पूरे-पूरे पुन्य-पटल जगाये तू॥३८॥

मुनि मन माते सनमाने सारदादि बंदि,
नारदादि जाने जे बखाने वेद-बानी के।
आप अविनासी हैं बिनासी दुःखजालन के,
पुन्य के प्रकासी प्रन-पूरक सु प्रानी के।
कहै 'पद्माकर' सु पाप-तम-पूषन हैं,
दूषन-रहित भव-भूषन महानी के।
ध्यावौ अब ध्यावौ लोक पावौ देवदेवन के,
गावौ अरे गावौ गुन गंगा महारानी के ॥३९॥

लाइ भूमिलोक तें जसूस जवरई आइ,
जाहिर खबर करी पापिन के मित्र की।
कहै 'पद्माकर' बिलोकि जम कही कै,
बिचारौ तौ करम-गति ऐसे अपवित्र की।
जौ लौं लगे कागद विचारन कछुक तौ लौं,
ता के कान परी धुनि गंगा के चरित्र की।
वा के सीस ही तें ऐसी गंगधार बही, जा में
बही-बही फिरी बही चित्र औ गुपित्र की ॥४०॥

सुरसरि मैया एक पातकी पुकार्यो तोहि,
ऐसो दिव्य दीन्हों तपतेज तोहि तें नै है।
कहै 'पद्माकर' स्वलोक विहि आगे रखि,
करत प्रनाम सुरवृंद सब नै-नै है।
व्याकुल बिलोकि वह बोल्यो देवि देवन सों,
कोऊ ना डराहु तुम्हें और कछु दैनै है।
इंद्र सों कहत मोहिं लनै है न इंद्रलोक,
संभुलोक लैनै के गोबिंद लोक लैन है ॥४१॥

हेरि-हेरि हँसत न चाहत हरषि चढ्यो,
बैल हु बिलोकि मन वा की ओर टरको।
कहै 'पद्माकर' सु देखि कै गरुड़ हू को,
लेखि निज भाग अनुरागि कै न सरको॥
का पै चढ़ौं कौन तजौं चाहत सबन,
यह सोचत पतित पर्‌यो गंगा-तीर पर को।
जौ लौं धरी ठेक रूप हर को न पायो, तौ लौं
पातकी बिचारो भयो चोर भरे घर को॥४२॥
वा को जस कितहूँ न जाग्यो परतच्छपई,
या को धाम-धाम फैलि-फैलि रह्यो जस है।
वा को सुन्यो एक देवलोक में दरस होत,
या को तौ दिखात तिहुँ लोक में दरस है॥
कहै 'पद्माकर' सुदान वह माँगे देत,
ये तौ बिन माँगे सबै देत सरबस है।
आछो अभिराम कहै पूरन सकल काम,
गंगाजू को नाम कामतरु तें सरस है॥४३॥
सारमाला सत्य की बिचारमाला बेदन की,
भारी भागमाला है भगीरथ नरेस की।
तपमाला जन्हु की सु जपमाला जोगिन की,
आछी आपमाला या अनादि ब्रह्मबेस की॥
कहै 'पद्माकर' प्रमानमाला पुन्यन की,
गंगाजू की धारा धनमाला है धनेस की।
ज्ञानमाला गुरु की गुमानमाला ज्ञानिन की,
ध्यानमाला ध्रुव मौलिमाला है महेस की॥४४॥

ज्ञानन में ध्यानन में निगम-निदानन में,
मिलत न क्यौं हूँ हरि ही में ध्याइयतु है।
कहै 'पद्माकर' न तच्छुन अतच्छ होत,
अच्छन के आगे हू अधिच्छ गाइयतु है॥
इंदिरा के मंदिर में सुनिये अनंद-भरे,
बीधे भव-फंद तहाँ कैसे जाइयतु है।
बेदन के वृंद में न पैयै छीरसिंधु में,
सु गंगाजल-बिंद में गुबिंद पाइयतु है॥४५॥
नीर के निकट रेनु-रंजित लसै यों तट,
एकपट चादर की चाँदनी बिछाई-सी।
कहै 'पद्माकर' त्यों करत कलोल लोक,
आभरत पूरे रासमंडल की पाई-सी।
बिसद बिहंगन की बानो राग राचती-सी,
नाचती तरंग ऐन आनँद बधाई-सी।
अघ की अँधेरी कहूँ रहन न पाई, फिरै
धाई-धाई गंगाधार सरद-जुन्हाई-सी॥४६॥
काम अरु क्रोध लोभ मोह मद मातसर्य,
इन की जँजीरन को जारिहै पै जारिहै।
कहै 'पद्माकर' पसारि पुन्य चारौ ओर,
चारौ फल धामन में धारिहै पै धारिहै॥
छोम छल छंदन को बाढ़े पाप-वृंदन को,
फिकिरि के फंदन को फारिहै पै फारिहै।
एकै बार बारि जिन गंगा को पियो है,
तिन्हैं तारनि तरंगिनी या तारिहै पै तारिहै॥४७॥

मुडन की माल देखौ भाल पर ज्वाल कीबो,
छीन लीबो अंबर अडंबर जहाँ जैसो ।
कहै 'पदमाकर' त्यों बैल पै चढ़ाइबो,
चढ़ाइबो पुरानी गजखाल को भलो तैसो ॥
नंगा करि डारिबो सुभंगा भखि डारिबो,
सु गंगा दुख मानिबो न बूझे तें कछू वैसो ।
साँपनि सिँगारिबो गरे में विष पारिबो,
जु तारिबो ऐसो तो बिगारिबो कहौ कैसो ॥४८॥
सूधे भये जे हैं नर गंगा के अन्हाइबे को,
कामी बदनामी कामी कैयक करोर हैं ।
कहै 'पदमाकर' त्यों तिन की अवाइन के,
माचि रहे जोर सुर-लोकन में सोर हैं ॥
बार-बार हाट-सी लगाये लखैं घाट-घाट,
बाट हेरैं तीर में कवै धौं तन बोरहैं ।
एक ओर गरुड़ सुहंस एक ओर ठाढ़े,
एक ओर नौंदिया विमान एक ओर हैं ॥४९॥
आस करि आयो हुतो मैया पास रावरे मैं,
गाढ हू के पास दुख दूरि छुटि-छुटि गे ।
कहै 'पदमाकर' कुरोग में सँघाती तेऊ,
गैल में चलत घूमि-घूमि घुटि-घुटि गे ॥
दगादार दोष दीह दारिद विलाइ गये,
फिकिरि के फंद बिन छोरे छुटि-छुटि गे ।
जौ लौं आउ-आउ तेरे तीर पर गंगा तौ लौं,
बीच ही में मेरे पाप-पुंज लुटि-लुटि गे ॥५०॥

भूमिलोक भुवलोंक स्वर्गलोक महालोक,
जनलोक तपलोक सत्यलोक कल मैं।
कहै 'पद्माकर' अतल में वितल में,
सुतल मैं रसातल मैं मंजु महातल मैं॥
त्यों मैं तलातल मैं पताल मैं अचल चल,
जेते जीव-जंतु बसैं आपत सकल मैं।
बीच मैं न मिलमैं विराजै विस्नु-थल मैं,
सु गंगाजू के जल मैं अन्हाये एक पल मैं॥५१॥

जनम-जनम जिन छोड्यो तौ न मेरो संग,
अंग-अंग नित ही रहे जे लपटाने हैं।
कहै 'पद्माकर' विहारी सौंह गंगा जोग-
जप के जतन में न नेकु अकुलाने हैं॥
तौन पाप मेरे तेरे तीर पर मैया अब,
मिलत न हेरे इत कित धौं हिराने हैं।
कचरे करार में बहे कै बीच धार में, कै
बूड़े वै सेवार में कि बारू में बिलाने हैं॥५२॥

योग हू में भोग में वियोग में सँयोग हू में,
रोग हू में रस में न नेकौ बिसराइये।
कहै 'पद्माकर' पुरी में पुन्य, रौरव में,
फैलन में फैल-फैल गैलन में गाइये।
वैरिन में बंधु में बिया में बंसवालन में,
विषय में रन हू में जहाँ-जहाँ आइये।
सोच हू में सुख में सुरी में साहिबी में कहूँ,
गंगा गंगा गंगा कहि जनम बिताइये॥५३॥

(दोहा)

गिरिस गजानन गिरिसुता ध्याइ, समुझि श्रुति-पंथ ।
कवि 'पद्माकर' ही कियो, गंगालहरी ग्रंथ ॥५४॥

(कवित्त)

भारी-सो भुजंग भागीरथि के सुतीर पर्‌यो,
ताहि लखि खाइबे को तरछत पार भो ।
कहै 'पद्माकर' चतुर्भुज को रूप भयो,
बड़े-बड़े पापनि हूँ ताप को तिसार भो ।
नारद बिसारद हू सारद सराहैं भले,
इंद्र जम बरुन कुबेर परिवार भो ।
गंगा के प्रभाव लखि मुकुति मजाकी मंजु,
सोई अहि गरुड़ के कंध पै सवार भो ॥५५॥

(दोहा)

गंगालहरी जो सुजन, कहैं - सुनै श्रुति - सार ।
ताको गंगा देवि है, सदा सुभग फल चार ॥५६॥

इति पद्माकरकृता गंगालहरी समाप्ता ।

पद्माकर-पंचामृत

तुलसी-दल

राजन के राजा महाराजा श्रीप्रतापसिंह,
तुम सकबंध हम छंदबंध आये हैं।
जानियो न ऐसी कि ये बिगिर बुलाये आये,
गुन तौ तिहारे मोहिं परबस लाये हैं ॥२॥*

सूरत के साह कहै कोऊ नरनाह कहै,
कोऊ कहै मालिक ये मुलुक दराज के।
राव कहै कोऊ उमराव पुनि कोऊ कहै,
कोऊ कहै साहिब ये सुखद समाज के॥
देखि असबाब मेरो भरमैं नरिंद सबै,
तिन सों कहे मैं बैन सत्य सिरताज के।
नाम 'पद्माकर' हराउ मति कोऊ भैया,
हम कबिराज हैं प्रताप महाराज के ॥३॥*

झूमत मतंग माते तरल तुरंग ताते,
राते-राते जरद जरूर माँगि लाइबो।
कहै 'पद्माकर' सो हीरा लाल मोतिन के,
पन्नन के भाँति-भाँति गहने जड़ाइबो॥
भूपति प्रतापसिंह रावरे बिलोकि कबि,
देवता बिचारैं भूमिलोकै कब जाइबो।
इंद्र-पद छोड़ि इंद्र चाहत कबिंद्र-पद,
चाहै इंदरानी कबिरानी कहवाइबो ॥४॥*

कीरति-कतार करतार कामधेनुन की,
सूरति-बिचार घनसार को घरसिबो।

---

* वही।

कहै 'पद्माकर' प्रतापसिंह महाराज,
बोलिबो तिहारो सुधासिंधु को बरसिबो ॥
सहज सुभाइ मुसुकाइबो मनोहर है,
जगत-प्रसिद्ध आठो सिद्धि को सरसिबो।
दिल सों दया सों देखिबोई देव-दरसन,
रीझिबो रसायन है पारस परसिबो ॥५॥*

पुच्छन के स्वच्छ जे तरच्छन को तुच्छ करैं,
कैयो लच्छ-लच्छ सुभ लच्छनन लच्छे हैं।
कहै 'पद्माकर' प्रताप नृप-रच्छ, ऐसे
तुरँग सतच्छ कवि-दच्छन को दच्छे हैं ॥
पच्छ बिन गच्छत प्रतच्छ अंतरिच्छन में,
अच्छ अवलच्छ कला कच्छनन कच्छे हैं।
कच्छी कछवाह के बिपच्छन के बच्छ पर,
पच्छिन छलत च्छ उच्छलत अच्छे हैं ॥६॥†

ज्वाला तें जहर तें फनिंद-फूतकारन तें,
बाड़व की बाढ़ हू तें बिषम घनेरो है।
कहै 'पद्माकर' प्रतापसिंह महाराज,
ऐसो कछु गालिब गुनाहिन पै हेरो है ॥
चक्र हू तें चिल्लिन तें प्रलै की बिजुल्लिन तें,
जम-तुल्य जिल्लिन तें जगत-उजेरो है।
काल तें कराल त्यों कहर काल काल हू तें,
गाज तें गजब्ब त्यों अजब्ब कोप तेरो है ॥७॥‡

---

* वही। † शृंगार-संग्रह, पृष्ठ २७५। ‡ लाला भगवानदीन संपादित, हिम्मत-बहादुर-विरुदावली की भूमिका।

कहर को क्रोध किधौं कालिका को कोलाहल,
हलाहल-हौद लहरात लबालब को।
कहै 'पद्माकर' प्रतापसिंह महाराज,
तेरो कोप देखि यों दुनी में को न दबको॥
चिल्लिन को चाचा है बिजुल्लिन को बाप बड़ो,
धौंकुरो मया है बड़वानल अजब को।
गब्बिन को गंजन गुसैल गुरु गोलन को,
गंजन को गंज गोल गुंबज गजब को॥८॥*

उच्छलत सुजस विलच्छ अनवच्छ दिच्छ-
दिच्छन हूँ छीरधि-लौं स्वच्छ छाइयतु है।
कहै 'पद्माकर' प्रतापसिंह महाराज,
अच्छन में ओज परतच्छ पाइयतु है॥
पच्छ बिन लच्छ-लच्छ विकल विपच्छ होत,
गब्बिन के गुच्छ पर तुच्छ ताइयतु है।
पटकत पुच्छ कच्छ-कुच्छ पर सेस जब,
रुच्छ कर मुच्छ पर हाथ लाइयतु है॥९॥†

पंथ-परिवार निज दारन को छाड़ि,
दावादारन को भाजे कौन सौदा करे जात है।
कहै 'पद्माकर' तुनीरन को बीर त्यों ही,
बानि कै कमानन में रौदा भरे जात हैं॥
साहिब सवाई श्रीप्रताप दल सज्जत,
बिहद नद-नदिन में पौदा परे जात हैं।

* वही। † पद्माकर की काव्य-साधना, पृष्ठ २७।

सौदा विजै-बृंदन को लादिबे को मानों मद-
मैगल मतंगन पै हौदा धरे जात हैं ॥१०॥*

गोला-से गयंदन के गोल खोलिबे में भिले,
राज के इसारे लेत आन के उचट्टा-से।
कहै 'पद्माकर' प्रतापसिंह महाराज,
चकसे तुरंग ते उमंग उठे बट्टा-से॥
आछे अच्छरीन के कटाच्छन तें लच्छ गुने,
पच्छ बिन लच्छ अंतरिच्छ घन-घट्टा-से।
चाकन में चाक-से चतुर्मुख-से चौहट में,
उलट-पलट्टे में पट्टन के पट्टा-से ॥११॥†

पारावार-पार-लौं अपार भिलि भारन,
अरिंदन पै हाल प्रलै-काल के परा परैं।
कहै 'पद्माकर' त्यों ठौर-ठौर दौर-दौर,
दीह दावादारन पै दार के दरा परैं॥
साहिब सवाई श्रीप्रतापसिंह तेरी धाक,
धरा के धरैया धकधक्कन धरा परैं।
चंड चक्र चाप-लौं उदंड दंड दाप-लौं,
सुमारतंड ताप-लौं प्रताप के छरा परैं ॥१२॥*

कंदरन हहरैं अरिंदन की नहरैं,
सुनहरैं उठी धौं का पै कहर-कलाप की।
कहै 'पद्माकर' छतीस छत्रधारिन को,
पारी-सी चढ़ी है त्यों तिजारी तन-ताप की॥

---

* वही, पृष्ठ २८। † शृंगार-संग्रह, पृष्ठ २७४।

बूझत हौं तुम्हैं महाराज श्रीप्रतापसिंह,
कुटिल कला है किधौं कपिल-सराप की।
इंद्र की अटा-लौं नरसिंह की सटा-लौं,
मारतंड की छटा-लौं छटा छहरै प्रताप की॥१३॥*

(छप्पय)

घुवन्न धुंधरित धूर, धूर-पूरति धुर धुम्मह्नु।
'पद्माकर' परतच्छ, अच्छ लखि परत न सुम्मह्नु॥
कूरम-नृप-मातंग, जंग-जंगन जुटि जुट्टहिं।
छकि छुट्टहिं वग छुट्ट, छुट्ट दिग्गजन उलट्टहिं॥
जिमि घन घमंड घुग्घरत घन, मद-निरझर झर-झर झरहिं।
टुकि टरहिं न टिप्पहिं टिपटिपहिं, टकटकाइ टक्कर करहिं॥१४॥†

(कवित्त)

गाँव गज-बाजि दै दराज कविराजन,
पटैल को पराभव, फतूहन फलै गए।
कहै 'पद्माकर' अभै दै राज-रयत को,
मंत्रिन को मंत्र दै न काहू सों छलै गए॥
साहिब सवाई सुख-संपति समाज-साज,
जगत-नरिंदै निज नंदै दै भलै गए।
वास बयकुंठ करिबे कों श्रीप्रताप,
पाकसासन के आसन पै पाँव दै चलै गए॥१५॥‡

लवा-वर्णन

निपट निसोट करैं चोट पर चोट लोटि,
जानत न जुद्ध जुरैं उद्धत अवाई के।

---

* प्रा० काव्य०, पृष्ठ २६। † शृंगार-संग्रह, पृष्ठ २६६। ‡ विशाल भारत, भाग १४, अंक १।

कहै 'पद्माकर' त्यों बलकै बिलंद बली,
ललकै लवीन पर लक्का ज्यों लुनाई के ॥
चंचल चुटीले चिक चाक चटकीले, सकि
संगरत जैन लोथ लंगर लराई के ।
बफ्र के बवा हैं कै छवा हैं छवि ही के, रन-
रोस के रवा हैं कै लवा हैं श्री सवाई के ॥१६॥*

तीतर-वर्णन

पके पींजरान ही तें खोलत खुले परत,
बोलत सो बोल बिजै-दुंदुभी-से दै रहैं ।
कहै 'पद्माकर' चमोटैं करि चोंचन की,
चूकत न चोट चटकोले अंग वै रहैं ॥
तेते तुंग तीतुर तयार नृप कूरम के,
लै-लै फर्र-फर्र कै फतूहन फवै रहैं ।
बासा को गनैं न कछु जंग जुरैं जुर्रन सों,
बाजी-बाजी बेर बाजी बाज हू सों लै रहै ॥१७॥*

नेत्र-वर्णन

सियर-सुपूतरी कृपान-कल-कज्जल त्यों,
दल बरुनीन के छबीले छैल छाजे हैं ।
कहै 'पद्माकर' न आनी जाति कौन पै घौं,
भौंहन के धनुष चितौन-सर साजे हैं ॥
घेरदार घूँघट-घटा के छाँहगीर तरैं,
मदन-वजीर के लिये ही मंजु माँजे हैं ।

* यही ।

बखत बुलंद मुखचंद के तखत पर,
चारु चख चंचल चकत्ता है विराजे हैं ॥१८॥*

रूप-रस चाखैं मुख-रसना न राखैं फेरि,
भाषैं अभिलाखैं तेज धर के भभारवीं।
कहै 'पदमाकर' त्यों कानन विना हू सुनैं,
आनन के बान यों अनोखे अंग धारवीं॥
विन पग दौरैं विन हाथन हथ्यार करैं,
कोर के कटाच्छन पटा-से भूमि मारवीं।
पाखन विना ही करैं लाखन ही वार आँखैं,
पावतीं जौ पाँखैं तौ कहा धौं करि डारतीं॥१९॥†

तिल-वर्णन

कैधों रूप-रासि में सिंगार रस अंकुरित,
अंकुरित कैधों तम तड़ित जुन्हाई में।
कहै 'पदमाकर' त्यों किधौं काम कारीगर,
नुकता दियो है हेम-फरद सुहाई में॥
कैधौं अरविंद में मलिंद-सुत सोयो आनि,
ऐसो तिल सोहत कपोल की लुनाई में।
कैधौं पर्‌यो इंदु में कलिंदि-जल-बिंदु आइ,
गरक गुविंद किधौं गोरी की गोराई में॥२०॥‡

हास-वर्णन

गुल गुलकंद के सुमंद करि दाखन को,
देखहु दुचंद कला कंद की कमाई-सी।

* आँख और कविगण, पृष्ठ १०७। † सुधासर, पृष्ठ ११। ‡ वही, पृष्ठ १६।

कहै 'पद्माकर' त्यों साहिबी सुधा की सबै,
ब्रज-बसुधा में सो कहाँ धौं परी पाई-सी ॥
खारिक खरी को मधु हू की माधुरी को सुभ,
सारद-सिरी को मीसरी को लूटि लाई-सी ।
साँवरी सलोनी के सलोने अधरान ही में,
मंद मुसुकान भरी मंजुल मिठाई-सी ॥२१॥*

परकीया

(सवैया)

धारत ही बन्यो ये ही मतो गुरु-लोगन को डर डारत ही बन्यो ।
हारत ही बन्यो हेरि हियो, 'पद्माकर' प्रेम पसारत ही बन्यो ॥
वारत ही बन्यो काज सबै अब यों मुखचंद उघारत ही बन्यो ।
टारत ही बन्यो घूँघट को पट नंदकुमार निहारत ही बन्यो ॥२२॥†

(कवित्त)

मरगजे हार बेसुमार बारुनी के बस,
आधे-आधे आखर सु ये हू भाँति जपने ।
कहै 'पद्माकर' सु जैसे हैं रसीले अंग,
तैसी ही सुगंध की झकोरन को झपने ॥
जैसे बनि आये आप, तैसी ही बनाओ मोहिं,
मेरो अभिलाष लाख ये ही भाँति थपने ।
लाल-दृग-कोरन में मेरे नैन बोरै अब,
कैधौं इन नैननि निचोरौ नैन अपने ॥२३॥‡

---

* वही, पृष्ठ २०। † सुंदरी-तिलक, पृष्ठ २२। ‡ शृंगार-संग्रह, पृष्ठ २४।

होली-वर्णन

(सवैया)

गैल में गाइ कै गारी दई फिरि तारी दई औ दई पिचकारी।
त्यों 'पद्माकर' मेलि मुठी इत पाइ अकेली करी अधिकारी॥
यौंहैं बबा की करे हौं कहौं यहि फाग को लेहुँगी दाँव विहारी।
का कबहूँ भक्ति आइ हौ ना तुम नंदकिसोर या खोरि हमारी॥२४॥*

(कवित्त)

फहर गई धौं कबै रंग के फुहारन में,
कैधौं तराबोर भई अतर-अपीच में।
कहै 'पद्माकर' चुभी-सी चार चोवन में,
उलचि गई धौं कहूँ अगर-उलीच में॥
हाय इन नैनन तें निकरि हमारी लाज,
कित धौं हेरानी हुरिहारन के बीच में।
उलझि गई धौं कहूँ उड़त अबीर रंग,
कचरि गई धौं कहूँ केसरि की कीच में॥२५॥†

रंगभरी कंचुकी उरोजन पै ताँगी कसी,
लागी भली भाई सी सुजान कखियन में।
कहै 'पद्माकर' जवाहिर-से अंग-अंग,
ईंगुर-से रंग की तरंग नखियन में॥
फाग की उमंग अनुराग की तरंग वैसी,
तैसी छवि प्यारी की विलोकी सखियन में।
केसरि कपोलन में मुख में तमोल भरि,
भाल में गुलाल नंदलाल अँखियन में॥२६॥‡

---

* होली-गुलाल, पृष्ठ १७। † वही, पृष्ठ २४। ‡ श्रृंगार-सुधाकर, पृष्ठ ३०४।

हिंडोला-वर्णन

भौंरन को गुंजन बिहार बन-कुंजन में,
मंजुल मलारन को गावनो लगत है।
कहै 'पद्माकर' गुमान हूँ तें मान हूँ तें,
प्रान हूँ तें प्यारो मनभावनो लगत है॥
मोरन को सोर घन घोर चहुँ ओरन,
हिंडोरन को बृंद छबि-छावनो लगत है।
नेह सरसावन में मेह बरसावन में,
सावन में झूलिबो सुहावनो लगत है॥२७॥*

सावन सखी री मनभावन के संग चलि,
क्यों न चलि झूलत हिंडोरे नवरंग पर।
कहै 'पद्माकर' त्यों जोबन-उमंगन तें,
उमँग उमंगित अनंग अंग-अंग पर॥
चोखी चूनरी के चारो तरफ तरंग तैसी,
तंग अँगिया है तनी उरज उतंग पर।
सौतिन के बदन बिलोके बदरंग आज,
रंग है री रंग तेरी मेंहदी सुरंग पर॥२८॥†

फूलन के खंभा पाट-पटरी सुफूलन की,
फूलन के फँदना फँदे हैं लाल डोरे में।
कहै 'पद्माकर' बितान तने फूलन के,
फूलन की झालरि त्यों झूलति झकोरे में॥
फूलि रही फूलन सुफूल फुलवारी तहाँ,
फूलई के फरस फबे हैं कुंज कोरे में।

* विशाल भारत, भाग ८, अंक ३। † शृंगार-सुधाकर, पृष्ठ ३३७।

फूलझरी, फूल-भरी, फूल-जरी फूलन में,
फूलई-सी फूलति सुफूल के हिँडोरे में ॥२९॥*

तीर पर तरनि-तनूजा के तमाल-तरे,
तीज की तयारी ताकि आई तकियान मैं।
कहै 'पद्माकर' सो उमँगि उमंग उठी,
मेंहदी सुरंग की तरंग तखियान मैं॥
प्रेम-रंग-बोरी गोरी नवलकिसोरी तहाँ,
झूलति हिँडोरे यों सुहाई सखियान मैं।
काम झूलै उर मैं उरोजन मैं दाम झूलै,
स्याम झूलै प्यारी की अन्यारी अँखियान मैं॥३०॥†

विप्रलंभ शृंगार

(सवैया)

बाँसुरी ह्वै लगौं मोहन के मुख माल ह्वै कंठ तजौं नहिं फेरी।
त्यों 'पद्माकर' ह्वै लकुटी रहौं कान्हर के कर घूमि घनेरी॥
पीतपटी ह्वै कटी लपटौं घट तें न घटै चित-चाह जु ए री।
दे बरदान यहै हमको सुनिये गनगौर गुसाइन मेरी॥३१॥

या बन-बाग की मालिनि ह्वै पहिरावहुँ माल बिसाल घनेरी।
त्यों 'पद्माकर' पान खवावहुँ खासी खवासिन ह्वै मुख हेरी॥
श्रीनँदनंद गुबिंद गुनाकर के घर की कहवावहुँ चेरी।
दे बरदान यहै हमको सुनिये गनगौर गुसाइन मेरी॥ ३२ ॥‡

गोकुल के कुल को तजि कै भजि कै बन-बीथिन में बढ़ि जैये।
त्यों 'पद्माकर' कुंज कछार बिहार पहारन में चढ़ि जैये॥

---

* वही, पृष्ठ ३२५। † वही, पृष्ठ ३२७। ‡ लाला भगवानदीन संपादित हि० न० वि०, भूमिका।

है नँदनंद गुविंद जहाँ तहाँ नंद के मंदिर में मढ़ि जैये।
यौं चित चाहत ए री भटू मनमोहनै लै कै कहूँ कढ़ि जैये ॥३३॥*

(कवित्त)

बैठी बनि बानिक सु मानिक महल-मध्य,
अंग अलबेली के अचानक थरक परैं।
कहै 'पदमाकर' तहाँई तन-तापन तें,
बारन तें मुकुता हजारन ढरक परैं॥
बाल छतियाँ तें थकथक ना कढ़त मुख,
मकना कढ़त कर ककना सरक परैं।
पाँसुरी पकरि रही साँसु री सँभारै कौन
बाँसुरी बजत आँख आँसु री ढरक परैं ॥३४॥†

(सवैया)

अंगन अंगन माँहि अनंग के तुंग तरंग उमाहत आवैं।
त्यों 'पदमाकर' आस हू पास जवासन के बन दाहत आवैं॥
मानवतीन के प्रानन में जु गुमान के गुंमज ढाहत आवैं।
बान-सी बुंदन के चदरा बदरा बिरहीन पै बाहत आवैं ॥३५॥‡

बालकृष्ण-वर्णन

(कवित्त)

देखु 'पदमाकर' गोविंद की अमित छवि,
संकर समेत विधि आनँद सों बाढ़ो है।
झिझिकत झूमत मुदित मुसुकात गहि
अंचल को छोर दोऊ हाथन सों आढ़ो है॥

---

* सुंदरी-सर्वस्व, पृष्ठ २७५। † पद्मा० काव्य०, पृष्ठ ३२। ‡ सुंदरी-सर्वस्व, पृष्ठ २३६।

पटकत पाँव होत पैजनी मुलुक रंच,
नेक-नेक नैनन तें नीर-कन काढ़ो है।
आगे नंदरानी के तनिक पय पीबे काज,
तीनि लोक ठाकुर सो ठुनुकत ठाढ़ो है ॥३६॥*

रामनाम-माहात्म्य

जोग जप जज्ञ कर तीरथ किये को फल,
पाइ चुक्यो पल में त्रितापन को तै चुक्यो।
कहै 'पद्माकर' सु सात हू समुद्र-जुत,
रतन-जटित पृथिवी को दान दै चुक्यो॥
जाने बिन जाने जा ने राम को उचार्‌यो नाम,
सो तो परिनाम हित एते काम कै चुक्यो।
तापन को खंड जमदंड हू को दंड, भेदि
मारतंड-मंडल अखंड पद लै चुक्यो ॥३७॥†

गंगा-वर्णन

कलित कपूर में न कीरति कुमोदिनी में,
कुंद में न कास में कपास में न कंद में।
कहै 'पद्माकर' न हंस में न हास हू में,
हिम में न हेरि हारो हीरन के बृंद में॥
जैसी छवि गंग की तरंगन में ताकियत,
तैसी छवि छीर में न छीरधि के छंद में।
चैत में न चैत-चाँदनी हू में चमेलिन में,
चंदन में है न चंदचूड़ में न चंद में ॥३८॥‡

* पद्मा० काव्य०, पृष्ठ २१३। † वही, पृष्ठ ६२। ‡ वही, पृष्ठ २१४।

पद्माकर-पंचामृत

चूर्णिका

टिप्पणियाँ

हिम्मतबहादुर-विरुदावली

१ दंद = द्वंद्व । रच्छस = राक्षस । मघवा = इंद्र । भारथ-समर = महाभारत का युद्ध । पारथ-सखय = अर्जुन के सखा ।

२ अवतंस = सिर का आभूषण, श्रेष्ठ । गिरिराज-इंद्र = राजेंद्र गिरि, हिम्मतबहादुर के गुरु । नरिंद = (नरेंद्र) राजा । नंदन = आनंदित करनेवाले । पृथु-रित्ति = पृथु की रीति से । बित्त = धन ।

३ हाकल = यह मात्रिक छंद है । इसके प्रत्येक चरण में ९, ५ के विश्राम से १४ मात्राएँ होती हैं । अंत में गुरु वर्ण रहता है ।

४ अमरेस = इंद्र । मन-मौज देत = जो मन में आता है वही दे देता है ।

५ तोम-तम = अंधकार का समूह । तिमिरारि = सूर्य । दग्ध = जलाने के लिये । दवारि = (दवारि) दावाग्नि ।

६ दुकूल = वस्त्र । मौज-देतनि = मनमाना दान करनेवालों में ।

७ घमसान = युद्ध । रुद्र = महादेव । दुज = (द्विज) ब्राह्मण ।

८ बाजि = घोड़ा ।

९ जाल = समूह । अवनीप = राजा ।

१० कलि = कलियुग । परतीति = प्रतीति, विश्वास ।

११ सुचंद = श्रेष्ठ ।

१२ नायिका = स्त्री। वत्स = (वत्सल)। कतल = मारना।

१३ खिलवतिन = अंतरंग सखा। सर = बाण। उदोत = प्रकट।

१४ आन = अन्य। दली = नष्ट की।

१५ महूम = (फारसी मुहिम्म) चढ़ाई। गूजर = (गुर्जर) गुजरात। गलीम = (गनीम) शत्रु। लगाइ कै = से लेकर।

१६ खंढी = चौथ, राजकर।

१७ अमल = शासन, हुकूमत।

१९ हरबरे = उतावली।

२० साइत = मुहूर्त।

२१ खुशी = खुश, प्रसन्न।

२२ सुर = देवता, नक्षत्रादि। गुनौ = समझो।

२३ याद-सी = स्मृति के योग्य।

२४ डंका दियौ = प्रस्थान के लिये नगाड़ा बजवाया।

२५ धुकारैं धुकहीं = गड़गड़ाहट हो रही है। लुकहीं = छिपते हैं।

२६ रार = युद्ध।

२७ कुर्री = घराना, टोली। आकरे = निपुण, कुशल। धंधेर = राजपूतों की एक जाति। धाकरे = रोबीले।

२८ बघरू = बाघ के समान। बघेले = राजपूत-विशेष। करचुली = राजपूतों की एक जाति।

२९ रैकवार = राजपूत-विशेष। झला = समूह। हला = हमला, धावा। सुहरवार = राजपूत-विशेष।

३० बैस = एक प्रकार के क्षत्रिय। जुझार = लड़ाके। झमकि = चमकाते हुए। झारत = चलाते हैं। सार = तलवार। गौतम = राजपूत-विशेष। तमकि = जोश के साथ। कटि-कटि = स्वयं कटते हुए।

३१ पड़िहार = राजपूत-विशेष। घमसानहीं = युद्ध में ही। सुलंकी = राजपूत-विशेष। राह-सी० = (काटकर) मार्ग-सा बना लेते हैं।

३२ राणा = राणा-वंशी। जगत॰ = रण-कौशल प्रसिद्ध है।

३३ दुर = (धुर) मुख्य स्थान। हने = मारे हुए। करकरे = चोखे, तेज। दिग्घ = (दीर्घ)। दुवाह = दोनों हाथ से तलवार चलाकर।

३४ जुरत = लड़ने में। फूलत हिया = हृदय प्रसन्न होता है। तोंर = तोमर-वंशी। थों किये = श्रेष्ठ।

३५ सेंगर = राजपूत-विशेष। सिरमौरिहा = श्रेष्ठ।

३६ विल्कैत = राजपूत-विशेष। सफजंग = तलवार का युद्ध। नदवान, नाहर, पिपरिहा, बनाफर, सिपरिहा = राजपूत-विशेष। थलके = जोश में आए।

३७ गौर = गौड़ राजपूत। सिलाह = जिरहबख्तर, कवच। बगमेल = बाग से बाग मिलाकर।

३८ ठाकुर = क्षत्रिय। सनौ = युक्त।

३९ दावहीं = नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। धुकरैं = शब्द करती हैं। हुड़कत हुकरैं = मुठभेड करते हुए हुंकार करते हैं।

४० खाखरे = एक प्रकार का बाजा। साक = धाक। धुकार = आवाज। धसमसैं = धँस जाते हैं। धर के धरैया = शेषनाग, कच्छप आदि।

४१ अरब्बी = ताशा।

४२ जाँगरे = भाट। करखा = जोश उत्पन्न करनेवाले गान।

४३ ठिल्यौ = धावा किया। परने है अभिरि = मुठभेड़ करनी है।

४४ गयंद = (गजेंद्र)। निसान = झंडे। आन = विजय-घोषणा।

४५ चक्क = (चक्र) दिशा। धुक्कहिं = गिर पड़ते हैं। दुवन = शत्रु। मुक्कहिं = छोड़ देते हैं। मज्जहिं = स्नान करते हैं। उथपन-थप्पन = उखड़े को बसानेवाला। जयउ = जीत लिया।

४६ सुखेल = सुंदर पैंतरा दिखानेवाली। बंब = युद्धारंभ में वीरों का रणनाद। हौस = इच्छा। बगमेल = मुठभेड़।

४७ मंडिय = छा गई। धुक्कनि = नगाड़ों की आवाज।

४८ उनमद = मद्युक्त। जौन० = जिन्हें देखकर बादल त्याग दिए जाते हैं, जो अपनी कालिमा और गर्जन में बादलों से बढ़कर हैं।

४९ बिज्जुल = बिजुली। गजत = गर्जन करते हुए।

५० मदनि = बहते हुए मद-समूह से।

५१ सुर = (स्वर)। श्रुति=कान।

५२ परखरैत = पाखर (झूल) पड़े हुए। हुदक = हुंकार। मृग = पशु (घोड़े)। सोभनि = सजावट को सहते नहीं, सिर झटकार रहे हैं।

५३ ताछन = (तक्षण) कावा काटना। ठुमकि = ठटकर।

५४ अंतरिच्छ = आकाश। अवलच्छिय = अपना लक्ष्य बनाया है।

५५ फलंग = उछाल।

५७ अग्रबर = आगे।

५८ सुरनि = स्वरों में। सार = लोहा, हथियार।

६० अकबकात = चौंकते हैं। अलकेस = कुबेर। असंडल=इंद्र। रद = दाँत।

६१ करिनी = हथिनी। हय-गय = घोड़ा-हाथी। दारा = स्त्री। गब्बि = गर्वी, घमंडी। पब्बय = पर्वत। बरन = वर्णन करता है। अराबो = 'अराबा' फारसी में गाड़ी को कहते हैं। जिस गाड़ी पर तोप लदे उसे भी 'अराबा' कहा जाता है। यहाँ 'अराबा' का तात्पर्य है तोपों का एक साथ दगना।

६३ तुपक्कैं = छोटी तोप। चिल्लिका = बिजली। सडक्कैं० = भागकर गए हुए शत्रु समुद्र में डूब मरते हैं।

६४ अतोली = अप्रमाण, बहुत। गिलै आसमानैं = सूर्य को निगल जाती है।

६५ स्याम ओरे = काले ओले। रामचंगी=एक तरह की तोप। संचे=समूह।

६६ जँजालैं = बड़ी तोपें। जामगी = तोप दागने का पलीता। ऊँट-नालैं = ऊँट पर से चलाई जानेवाली तोपें।

६७ गाज = बिजली। गनालैं = एक तरह की बड़ी तोप। गज्जती =

गर्जन करती हुई। मुँगरी = एक तरह की तोप। दिग्घ-दानै = दीर्घदान के बल से।

६८ चक्र = पहिया। भसुंडै = हाथी की सूँड़।

६९ अचाका = अकस्मात्। पन्नगाली = सर्पों की पंक्ति। कुहकुहाना = बोलना। दही हैं = जल गई हैं।

७० घद्दरैं = एक तरह की तोपें। सेरबचे = एक तरह की बंदूक। दब्बे = चोट।

७१ सिप्पे = एक तरह की छोटी तोपें। टिप्पे = घाव। न दिप्पे = नहीं दिखाई पड़ते। छुट्टैं = भागते हैं।

७५ उलत्थैं पलत्थैं = ऊपर-नीचे होते। कलत्थैं = छटपटाते हैं। सुंदरी = स्त्री, पत्नी। दरी = गुफा।

७६ अत्र = अस्त्र, हथियार। चक्र = (चक्र) ओर। दुवन = शत्रु। नक्किय = लाँघ गए। दल-बल = सेना।

७७ हर = महादेव ('हर-हर' शब्द)।

७८ जिरही सिलाही ओपची = (जिरह, सिलाह और ओपच विभिन्न प्रकार के कवचों के नाम हैं) कवचधारी।

७९ घन-घमाके = बादलों का गर्जन। गाढ़ = विपत्ति।

८० मतंग = हाथी। धुरवा = बादलों के स्तंभ। थहे = छा गए। झला = वर्षा। झिली = झींगुर।

८१ दादुर = मेढक। दूँदि = शोर। कीर = सुग्गा। ढाढ़ी = भाट। पूर = प्रवाह, समूह।

८२ निसान = झंडे। बकपंत = बगुलों की पंक्ति। हद = अत्यंत। रति-कंत = कामदेव। बलके = जोश में आए।

८३ फर = रणक्षेत्र। अडोले = अटल। कमनैत = धनुर्धर। दराज = भारी, विशाल।

८४ हला = चढ़ाई। मवास = रक्षा का स्थान। आपु डीलनि = स्वयं अपने शरीर से। पिलो = प्रविष्ट हुआ।

८६ तिहरी = तीन तीन धार। संगर = युद्ध। पैरना = चलना। अराबो धुको = देखो छंद संख्या ४१।

८७ मुचेत = छूटे हुए। बगमेल = मुठभेड़। बेर = देर। झेल = धक्का, भिड़ंत।

८९ निसान = झंडे (लाल)। कृसान = (कृशानु) अग्नि। रोपैं = उपस्थित कर देती हैं। धलना = दगना, चलना।

९० डगि उठे = हिल गए चंचल हो गए। कुहक = आवाज। पुठे = घोड़ों आदि के शरीर का पिछला भाग। कादरता ठए = कायरतापूर्ण।

९१ भान = (भानु) सूर्य। तम-रूप० = भय भयभीत होकर वैसे ही नष्ट हो गया जैसे सूर्योदय से अंधकार।

९२ पसर = आक्रमण।

९४ ओट = रक्षा। माते = लिये। जोट = जोड़।

९५ मक्ताइ कै = पार करके। कस्त = दृढ़ निश्चय। भेटघी = भेटेंगे।

९६ हकाहक = जोर-शोर से।

९७ वदी है = होनेवाली है। मीच = मृत्यु। तचहिगी = तपाएगी, मारेगी।

९८ असी = अमृत। धनंतर = धन्वंतरि। बैद = वैद्य। बिधैं = प्रकार।

९९ जहर० = विष के गहरे समुद्र में। हलाहल = महाविष। केहरि-दाठ = सिंह की घात। आसुर = असुर, राक्षस। गजब = विपत्ति।

१०१ उसालहिं = उखाड दें, भगा दें। बारंगन = अप्सराएँ।

१०२ कह फहत है = क्या लाभ होता है। मुकरंर = निश्चित। गलिन० = गली-गली में।

१०३ सपेट = झपट। दीन पड़ना = दबना।

१०४ जुरन = जुड़ने में, युद्ध करने में। जूझै = मर मिटे। सुद्ध त्रिसुद्ध = तीनों तापों से रहित। स्वर्गापवर्ग = स्वर्ग और मोक्ष।

१०५ परमतत्त्व = ब्रह्म और जीव का विवेक।

१०६ जगजगात = चमकता है। अलेख = अत्यंत।

१०७ पैरी = पीढ़ी। सुबास = स्ववास, ब्रह्मलोक।

१०८ मानधाता = एक सूर्यवंशी राजा। इनके पिता ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया था, क्योंकि उनके कोई संतान नहीं थी। रात में धोखे से इनके पिता वह अभिमंत्रित जल पी गए जो इनकी माता को पीना चाहिए था। फलतः उनके गर्भ रह गया और मांधाता का जन्म पेट फटकर हुआ। ये बड़े प्रतापी चक्रवर्ती राजा हुए हैं। करन = महादानी कर्ण। कुरुनंद = कौरव।

१०९ पटि जात = मिट्टी से भर जाते हैं। धौरहर = राजप्रासाद।

११० झारिये = चलाइए। पति = प्रतिष्ठा।

१११ गुटिका = मंत्र से सिद्ध किया हुआ यंत्र। कवच = शरीर की रक्षा के लिये मंत्रित यंत्र। घमसान = युद्ध।

११२ गुरदा, बगुरदा, दम = एक प्रकार के हथियार। जमधर = एक प्रकार की तलवार।

११३ कुहुँचा = कलाई। हूलि = अंकुश देकर।

११४ पसर = हमला। बेकसर = अत्यंत। जमकातर = तलवार। रुठे = रुष्ट अर्थात् तीव्र।

११५ घलाघली = मार। कोह = क्रोध। उमहीं = उमड़ती हैं।

११६ अवाई = आना। करकरे = करारे, दृढ़।

११७ लोह = युद्ध। लपकत थयी = दौड़ता दिखाई पड़ा।

११९ सैहथी = तलवार। खग्ग = (खड्ग)। बिलाइती = विदेशी।

१२१ रजधान = कानपुर के 'सिकंदरा' और फतेहपुर के 'खजुहा' इन दोनों परगनों को 'रजधान' की रियासत कहते थे। करम = कर्म (भिक्षा-कार्य करनेवालों के लिये)। सरम = शर्म, लज्जा।

१२२ ईसुरी = देवी। अदा करै = बेबाक कर दे, उऋण कर दे।

१२४ राई = रायपद पाना। तौर = ढंग।

१२५ बकसे = दिए।

१२६ ओसरी = पारी।

१२७ उखरी = टूट गई। बखतर = कवच। फरी = फटी, बंद। सिलाह = कवच-विशेष। अलोही = (आलोहित) रक्त से लाल। अनी = सेना।

१२८ सलि रहे = छिद रहे हैं। सीन = सीना।

१२९ सुद्ध = सीधा। तौर = ढंग। हैरत = आश्चर्य।

१३० चट्ट = तुरत। बट्टि दये = बाँट दिए।

१३१ चाँक = धाँका। निसाँक = निःशंक। हुहँकि = जोश के साथ। हरबरिन = शीघ्रता। पेसकबजैं = तलवारें।

१३२ कटा = काट। प्यादे = पैदल। ढक्कन = धक्के।

१३३ पट्टे = पैंतरा।। पर = शत्रु। बहबहे = लड़ाई के हाथ, काट।

१३४ अमर = देवता। ओपन = (हथियारों की) चमक।

१३५ गंगा गिरि = ये हिम्मतबहादुर के भतीजे थे, 'दिलावर जंग' इनकी उपाधि थी। उदग्र = ऊँची। उलछारि कै = उछालकर। जकिबे को = चकपकाने का। घालि = मारकर। टहडहो = बढ़िया।

१३६ उकढ़ि = निकलकर।

१३७ अरिंद = शत्रु। गय = गज।

१३८ बिन अत्थ के = बिना अर्थ के, बेकाम। तुर = (त्वरा) शीघ्र।

१३९ जगतबहादुर = हिम्मतबहादुर के भतीजे।

१४० हुह्कार = जोश-भरे शब्द। बसंत खेलना = रंग या गुलाल लेकर फाग खेलना (यहाँ रुधिर-धार से तात्पर्य है)। उसटाये = उखाड़ दिए, भगा दिए।

१४१ राज गिरि = ये भी हिम्मतबहादुर के भतीजे थे। सक्ति = बरछी। चुनौती देना = ललकारना।

१४२ सिलाही = कवचधारी। ठठेल = धक्का, चोट। सपटो = झपटा।

१४६ भैरव-रारि = भयंकर युद्ध। धारि = सेना।

१४७ कौंधनि = लपकनेवाली तलवार। अजिर = आँगन। छजन तें = छज्जों से।

१४८ को नाहिं॰ = किसको नहीं मारता, सभी मारे जाते हैं। तिर्पित = तृप्त।

१४९ गिरबान = (गरेबान) गर्दन। चनकटैं = थप्पड़। टटैं = भाग जाते हैं।

१५१ धनी = स्वामी। तजहिं० = (शत्रु अपनी) रक्षा में शरीर त्याग देते हैं।

१५४ बिलोड़ना = काटकर गिरा देना। धाँको = बाना। उराउ = उत्साह।

१५५ ओढ़ि = सहकर, खाकर। भसुंड = सूँड़।

१५६ रुंड = धड़। हर = महादेव। बर्यौ = वरण किया।

१५७ झला = समूह। हला = हमला।

१५८ हलकारि = तितर-बितर करके।

१५९ रुट्ठि = कुपित होकर।

१६० दपेट = चपेट।

१६१ दमानकैं = एक प्रकार की छोटी तोपें।

१६२ स्वासा = एक गाँव। दिमान = दीवान।

१६३ उदग्ग = (उदग्र) प्रचंड।

१६६ पटिया = काठ का पल्ला।

१६७ मरमन मैं = मर्मस्थलों में। जुझार = योद्धा। तिन = तृण।

१७० हूलना = अंकुश देकर बढ़ाना। उमाह = उत्साह।

१७१ गौर = क्षत्रियों की एक उपजाति।

१७२ दुरद = (द्विरद) हाथी। फर = रणक्षेत्र।

१७५ कन्हैया = हिम्मतबहादुर के घोड़े का नाम।

१७६ कन्हैया = कंधा। छूटा = बरछी का नाम। कुंभ = मस्तक। महावती = हाथीवान।

१७७ महत = भारी। घूमि कै = चक्कर खाकर। अजब = हाथी का नाम। कुंजर = हाथी। किलाया = (फा० कलावा) हाथी के गर्दन की वह रस्सी जिसमें पैर फँसाकर महावत बैठता है। किलाये आइ करि = महावत के स्थान पर आकर।

१८० त्रिसुद्ध सुद्ध = तीनों तोपों से रहित। बुझहिं = समझते हैं, ध्यान में ले आते हैं। झंकहिं = खीझते है। बयउ = बोया।

१८१ जग्ग = यज्ञ । वग्ग = (वर्ग) समूह ।

१८२ झुमड़े = झूमने लगे ।

१८३ रोसन = रोष, उत्साह । नाका = स्वर्ग । सलाका = सलाई

१८४ भभिरि परे = भिड़ गए ।

१८५ अन्नन की भूकैं = अस्त्रों का फेंकाव । लड़ंगे = लड़ना । बंगे = वक्र, उटक्कर = अंधाधुंध । छक्कर = दाँव-पेंच ।

१८६ धमकि = शब्द करती हुई अर्थात् जोरों के साथ । खंजर = तलवार । सनि = घुसकर । हिलगना = लटकना । गब्बैं = घुसेड़ देते हैं । नब्बैं = नसें ।

१८७ रूरे = सुंदर । हक्का = (हुंक) हुंकार । ढक्का = धक्का ।

१८८ उताले = उतावले । ताले = सीने की रक्षा के लिये पहना जाने· वाला लोहे का तवा । आले = बढ़िया, मजबूत । सूटैं = फेरते हैं । छूटना = पीछे हटना ।

१८९ झुक्का = घूँसा । झिक्का = जोर-शोर की लड़ाई । फिक्का = फेंकने का भाव । चिलता = एक तरह का कवच । झिलम = एक तरह का कवच । बिलमैं = विलंब लगाते हैं ।

१९० थक्के = स्थकित होकर । थरक्कत = काँपते हैं । टक्के = देखते हुए । झमक्के = झमझम शब्द करते हुए । तमक्के = जोश के साथ । तरक्कत हैं = उछलते हैं । छपटे = चिपटे हुए । चपटे = चापट, अच्छी तरह से दाबकर

१९१ दस्ताने = एक प्रकार की तलवार । दस्ताने करि = तलवार फेरकर ।

१९२ कत्लैं करि = काटकर । मगरबी, जुनब्बा = विशेष प्रकार की तलवारें । चापट = दबी हुई । करबी = ज्वार के पौधे का डंठल । गब्बैं = घुस जाती हैं । फर पाटैं = रणक्षेत्र को भर देती हैं ।

१९३ बिज्जुल = बिजली । बंदरकी, बंदरी, सुरती (सूरती), लीलम = विशेष प्रकार की तलवारें । खग्ग = खड्ग । बरकना = हटना ।

१९४ लहरदारैं, लालूवारैं, खुरासानी, निवाजखानी, दलनिधिखानी = विशेष प्रकार की तलवारें। विधि = तरह। समानी = सदृश। कौंधैं = चमकती है।

१९५ नादौटैं, मानासाही, सिरोही, कत्ती = विशेष प्रकार की तलवारें। मोटैं = ढेर। दुबाहीं = चलाई। वाहीं = लगने पर। नहीं क्षुरैं = धार नहीं मुड़ती। जोही = दिखाई पड़ती है। सोही = शोभित होती हैं। करकरी = तीव्र। तत्ती = तप्त, दाहक। बिनसना = नष्ट होना, धार मुड़ना आदि।

१९६ दुरदा = दो दाँतवाले। बगुरदा, गुरदा = हथियार विशेष। गालिब = अच्छी काट करनेवाले। तुर्की तेगा, तोरन तेगा = विशेष ढंग के तेगा। सुबेगा = सुंदर वेगवाले। जिहाजी, दरियाई = विशेष प्रकार की तलवारें। माजी = माँजी हुई, चमकती हुई। सूरन साजी = वीरों के द्वारा धारण की हुई। दिपती = चमकती हैं। घाई = ओर।

१९७ अलेमानी, जुनेदखानी, मिसरी, गुपती = विशेष प्रकार की तलवारें। और० = जिसके समान और हथियार नहीं। निसानी = घाव करके। पानी = आब, चमक। तन० = शरीर के काटने में लग जाती हैं। झक० = झकाझक चमकना।

१९८ हलब्बी, पट्टा = विशेष प्रकार की तलवारें। गब्बी = घुसकर। सीस हलब्बी-सी = हलब्बी शीशे की तरह। चौंड़े = प्रबल। भाँडे = भांड (लोटा आदि बर्तनों की तरह)। धोप = (संस्कृत धूर्वा) तलवार।

१९९ दुधारे = दुहरी धारवाले हथियार। बरदमानी, पिहानी, दुताबी, ऊना = विशेष प्रकार की तलवारें। हर बरदानो = वर देनेवाले महादेव।

२०० काँच = शीशा। सुदम = दमदार। तमाचैं, रूमी, अँगरेजैं, फरंक-साही = विशेष प्रकार की तलवारें। ओप = चमक। तूमी = तुंबी, तुँबड़ी। दुर = दूर।

२०१ झलनि = समूहों को। तकब्बरी, अकब्बरी = विशेष प्रकार की तलवारें। खनक, झनक, ठनक = हथियारों के विभिन्न प्रकार के शब्द।

२०२ चकचक = विशेष प्रकार का हथियार। फूल = प्रसन्नता। उपाटना = उखाड़ना। झपाटा = पैंतरा। अकथी = अकथ्य। जंजीर=सिक्कड़। फाल=बड़े-बड़े डग। फर = युद्धभूमि।

२०३ फटकना = इधर-उधर जाना। ठठेलना = धक्का देना। भट-भेलैं = मुठभेड़। न हूटैं = नहीं हटते।

२०४ करि = हाथी। थक्कर = समूह। तक्कर = बलवान। कुंजर = हाथी।

२०५ पटल = समूह। पटा = वस्त्र। किलाएँ = देखो छंद १७७। बारन = हाथी। पैरना = घुसना।

२०६ हकाहक = घोर लड़ाई। जकाजक = जोश की लड़ाई। थकाथक = हथियारों का शरीर में लगना, काट। कन्हैया = घोड़े का नाम। कन्हैया = श्रीकृष्ण। कन्हैया = कंधा। कहुँचौ = कलाई।

२०७ उमरतें = उमड़ते ही। हरहि = महादेव को। हरा = माला। गिरिजा-नत्था = महादेव।

२०८ चंडी = देवी। रंडी = भाग। मज्जा = चरबी। खद-खद = खाने का शब्द।

२०९ पंका = चक्र, विकट वीर। अतंका = भय। सत = सौ प्रकार की। सपंका = कीचड़युक्त अर्थात् अनुल्लंघ्य। फत्ते = विजय।

२१० छज्जिय = छा गई। निसान = झंडे। सान = शान। अतुल्ले = अतुल, अत्यधिक। किंसुक = टेसू। फतूह = विजय।

२११ कपाली = महादेव।

पद्माभरण

१ राधावर = श्रीकृष्ण ।

४ मंदिर = मकान । मान = समान ।

५ सम सों = जिसकी समता के द्वारा । गनाउ = गिना जाता है ।

६ बर्न्य = उपमेय । अबर्न्य = उपमान ।

९ कुच = स्तन । श्रीफल = बेल ।

११ झख = मछली । चख = (चक्षु) नेत्र । बदन = मुख ।

१२ गज-सम० = यहाँ 'गज' को उपमान न समझना चाहिए । यह उपमा का केवल सूचक है, क्योंकि 'गमन' (गति) का उपमान 'गजगति' है, गज नहीं ।

१३ सुक-सी० = यहाँ 'सुक' पद उपमा का केवल सूचक है, 'नासिका' उपमेय (जो स्वयं लुप्त है) का उपमान नहीं है, क्योंकि उपमान 'शुकतुंड' होता है ।

१४ कोकिला० = यहाँ भी 'कोकिला' उपमान नहीं, उपमासूचक है । 'तान' के लिये उपमान 'कोकिला-तान' है, जिसका कथन नहीं है । कंचन = सोना ।

१५ गज०=देखो सं० १२ ।

१६ बान = वाणी । पिक = कोकिला (देखो सं० १४) । मान = समझो ।

१७ समुझि = समझो । कैलिया = कोयल (देखो सं० १४) ।

१८ अनार = यह केवल उपमासूचक है, दाँत के उपमान 'अनार के दाने' होते हैं । रिस = रोष ।

१९ सुक = सुग्गा, नासिका के लिये उपमासूचक पद। हुव = हुआ। चोप = उत्कंठा, चाव।

२१ अधर = ओठ। विद्रुम = मूँगा। कुच = स्तन। कोक = चकवाक। तम = अंधकार। बादी = प्रतिद्वंदी, विवाद करनेवाले, मुद्दई। बार = बाल, केश।

२२ पियूष = अमृत। मयूख = किरण (के समान देदीप्यमान)। विधान = प्रकार, कहन।

२३ अनुहार = समान। मावस-रैन = अमावास्या की रात्रि।

२६ आन = अन्य।

२८ सेय = (सदृश) समान।

२९ गोत = (गोत्र) समूह।

३० वनिता = स्त्री।

३२ वदन = मुख।

३४ धरैं = धारण किए हुए।

३५ थान = स्थान। उर-बसी = हृदय में बसनेवाली। उरबसी = उर्वशी अप्सरा। रूप-निधान = सौंदर्य का खजाना। पहले दल में 'न्यून' और दूसरे में 'सम' है।

३६ कर = हाथ। तिय = स्त्री। बिय = दूसरी।

३९ चख = (चक्षु) आँख। झख = मछली। सरसिज = कमल। गमन = गति, चाल। मराल = हंस। तरंग = लहर। पानिप = शोभा। बाल = बाला, नायिका। मानसर = मानसरोवर। ताल = तालाब।

४० विषय = उपमेय। है विषय = उपमेय रूप होकर। वाहत = चलाते हैं। कमल में बाण और तलवार चलाने की सामर्थ्य नहीं थी, पर कर (उपमेय) के साथ वह चलाने में समर्थ हो गया है।

४१ जत्र = (यत्र) जहाँ। विषय = वर्णन-प्रकार। तत्र = वहाँ।

४२ मल्ल = योद्धा; चाणूर आदि। जम = यमराज। कहर = आफत

उहानेवाला। काम = कामदेव।

४३ सुधरि = स्मरण, याद। सरासन = धनुष। बाम = टेढ़ा।

४४ गयंद = गजेंद्र, श्रेष्ठ हाथी। मावस = अमावास्या। कुमार = बच्चा। पहले दल में भ्रांतिमान् और दूसरे में संदेह है।

४५ थपै = दूसरी वस्तु (उपमान) की स्थापना करे। नभगंगा= आकाशगंगा का कमल।

४६ अनत = अन्यत्र। ४५ वें दोहे में धर्मी (उपमान) का आरोप है और यहाँ धर्म का—यही अंतर है। यहाँ आरोप दाहकता का है।

४७ और-बिपै = अन्य (उपमान) में।

४८ घनस्याम = श्रीकृष्ण, बादल। अराम = (आराम) बाग। दुसह = जो कठिनता से सही जा सके। दवार = दावाग्नि।

४९ औरै ठाम = अन्य स्थान में। सुधा = अमृत। सो = वह।

५० बच = वचन। पर = दूसरा (व्यक्ति)। कृसान = अग्नि।

५१ दुरावै = छिपाए। पंथ = ढंग। हलावत = हिलाता है। मीत = मित्र, प्रिय। मंथ = मंथन (दधि आदि का)।

५२ व्याज = बहाना। सिरमौर = श्रेष्ठ।

५३ बीन = वीणा। डफ = खँजड़ी के ढंग का बाजा। रस-राग = आनंद के गीत। मिस = बहाना। अनुराग = प्रेम।

५४ माह = में। ता सों = उससे (इसलिये,)। नाह = नाथ।

५६ हिय ल्याहि = हृदय में लाओ, समझो।

५७ अंक = कालिमा। नभ० = आकाश रूपी तालाब का कमल (चंद्रमा) भ्रमरयुक्त (कलंक) है। सरद = (शरद्) ऋतु का। घन = घना। घनसार = कपूर। अभंग = निरंतर।

५८ आन-रत = अन्य में अनुरक्त। बंक = टेढ़ी। मृगांक = चंद्र।

५९ पीन = स्थूल। बिधि = ब्रह्मा। लंक० = कमर के लचकने के लिये। सुभ० = मानो चंद्रमा मेरु की प्रदक्षिणा इसलिये देता है, जिससे

उसका मुख शुभ (कलंकरहित) हो जाय।

६० द्योतक = वाचक।

६१ भेटियतु० = गुण और ज्ञान से भली भाँति भेंट (इनकी प्राप्ति) होती है। पारस = एक पत्थर जो लोहे को सोना कर देता है।

६२ सु = स्व, अपना।

६३ कनकथली = सुवर्ण की स्थली (नायिका)। कंचन-कलस = सोने के घड़े (स्तन)। द्वै द्वैज० = द्वितीया के दो लाल चंद्रमा (नखक्षत)।

६४ अपन्हव = निषेध। सुअलि० = सुंदर भ्रमर (नेत्र की पुतली) और कमल (नेत्र) तेरे ही शरीर में हैं, अज्ञ उसे तालाब में बतलाते हैं।

६५ घूमत = मतवाले हो जाते हैं। सुघर = सुंदर (यहाँ पंडित)। समाज = समूह।

६६ निसाना = झंडे। बिबुध = देवता। झंडों की इतनी ऊँचाई अयोग्य है, पर उसे योग्य कहा।

६७ भनत = कहते हैं। केरो = का। शशि आदर करने योग्य है, पर आदर नहीं करते।

६८ असि = तलवार।

६९ प्रसंग = चर्चा, बात। काजै = कार्य में। पयान = प्रयाण। पी = प्रिय। दरक्यो = चटक गया। मुकत = मुक्ता। तचि = तपकर। (विरहाग्नि से)। ती = स्त्री।

७० चीतौ = चेतो, समझो। पूरब-पर = पूर्वापर। बिपरीतौ = उलटा।

७१ बर्न्य = जिसका वर्णन किया जाय, उपमेय। इकैई = एक ही। चक = (चक्र) एक पुष्प, गुलचाँदनी। नव = नवीन।

७२ अवर्न्य = उपमान। केरौ = का। हेरौ = देखो, समझो। दाख = द्राक्षा, मुनक्का। मधु = शहद। हित = हितुआ, मित्र। अहित = बुराई करनेवाला, शत्रु।

७३ हौं = मैं। बीसहु-बिसे = अर्थात् सब प्रकार से। तो = (तव) तेरे।

साल = (शल्य) दुःख । सौतों को पति के दूसरे के वश में हो जाने का और सखियों को अपने में वैसे वशीकर गुण के अभाव का दुःख है ।

७५ बड़ेनि-सँग = उत्कृष्ट उपमानों के साथ । आनौ = ले आओ । सुरेस= इंद्र । रमेस = विष्णु । सेस = शेषनाग । यहाँ नरेश उपमेय सुरेश आदि उत्कृष्ट उपमानों के साथ प्रबल कहा गया है ।

७६ सर० = तालाब शोभित होता है । जोवन = यौवन ।

७९ पल कलपै = पल (क्षण) को गिनता है । कलपै = कलपता है, दुःखी होता है । घन = बादल । धव = एक वृक्ष । भ्रमत = चक्कर काटते हैं । प्रथम चरण में पद की ('कलपै'), द्वितीय में अर्थ की ('सोभित', 'लसत') और तीसरे-चौथे में पद एवं अर्थ दोनों की ('प्रफुलित' एवं 'भ्रमत' शब्द की दो-दो बार) आवृत्ति है ।

८० पर = परक, वाले । जुदेन = भिन्न ।

८१ निर्झर = झरना । गयंद = गजेंद्र । इसके दोनों दलों में दो उदाहरण हैं । पहले में पृथक् पद 'राजत' एवं 'लसत' हैं, दूसरे में 'नीको' एवं 'भलो' ।

८२ बर्म = कवच, रक्षक अर्थात् निपुण ।

८३ आन = अन्य । 'न रुचना' एवं 'पान न करना' बिंबप्रतिबिंबवत् हैं, एक नहीं ।

८४ रति = तू वैसी ही कला-निधान है, जैसे रति रस की खानि है । यहाँ 'कलानिधानत्व' और 'रसखनित्व' में बिंबप्रतिबिंबत्व है, एकता नहीं ।

८५ जुग = दो । एकतारोप = एकत्व का आरोप । चोप = चाव ।

८६ दातार = दाता । पुरट = सोना । सुबास = सुगंध । जोन्ह = (ज्योत्स्ना) चाँदनी । सुमति = सुबुद्धि ।

८७ चमक = चंचलता । बनाइ = भली भाँति ।

८९ बोध = ज्ञान । सोध = खोज ।

९० दल = पत्ता। द्रुम = वृक्ष।

९१ सिर धुनि = माथा पीटकर (दीपक में जोत का नीचे-ऊपर होना)। सुसुकि = दीपक में बुझते समय की 'सू-सू', सिसकना। घर होना = बुझना। कृस = दुर्बल।

९२ हित = लिये। कर ओड़ना = हाथ फैलाना (माँगने के लिये)। येहु = यह भी फल होता है (कि भीख माँग रहे हैं, पूर्वजन्म में कुछ न देने के कारण)।

९४ विसेप = विशेषता। विलास = आँखों का हावभाव। रंभा = अप्सरा। उहि = उसने (रंभा ने)। यहाँ पहली पंक्ति में 'अधिक' (विलास की अधिकता से) है और दूसरी पंक्ति में 'न्यून' (सुरपुर में नायिका के वास की न्यूनता से)।

९५ रस = आनंद, मकरद। अनुराग = प्रेम, लालिमा। जलजात = कमल।

९६ जनरजन = सहृदयों के मन को आनंदित करने के लिये।

९८ विपुल = भारी। पंकज = कमल। चैन = आनंद।

९९ विपै = में। कर = हाथ, किरण। कला निधान = षोड़श कलायुक्त, कलाप्रिय। यहाँ चंद्रमा और मालती के प्रस्तुत वर्णन से नायक-नायिका रूप अप्रस्तुत का ज्ञान होता है।

१०० आसय = विशेष अभिप्राय। ठान = कहे, वर्णन करे। खग-वाहन = गरुड़ जिसके वाहन हैं। यहाँ शीघ्र आने के अभिप्राय से 'गरुडगामी' कहा है।

१०१ यहाँ अष्ट सिद्धियों के दान करने के अभिप्राय से 'अष्टभुजी' नाम रखा है।

१०२ इस दोहे का अर्थ यदुपति (श्रीकृष्ण) और रघुवीर (रामचंद्र) दोनों पर घटित होगा। यदुपति-पक्ष में—द्विज० = यज्ञपत्नी को तारनेवाले (एक बार श्रीकृष्ण घोर वन में गाय चरा रहे थे। वहाँ

उन्हें भूख लगी। उन्होंने यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणों के पास ग्वालों को भेजा, पर उन्होंने कुछ भी नहीं दिया। तब उन्होंने ग्वालों को उन याज्ञिकों की पत्नियों के पास भेजा। वे भगवान् के लिये नाना प्रकार के व्यंजन लेकर स्वयं उपस्थित हुईं। भगवान् के प्रभाव से उन्हें पतियों ने पुनः ग्रहण कर लिया और वे अपने अविनय के लिये लज्जित भी हुए।—श्रीमद्भागवत, १० पूर्वार्द्ध, २३)। पूतना + मारन में० = पूतना के मारने में धैर्य रखनेवाले। काकोदर = कालिय नाग। दरप-हर=दर्प हरनेवाले। रामचंद्र-पक्ष में—द्विज० = अहल्या को तारनेवाले। पूतनामा + रन में० = पवित्र नामवाले, रण में अत्यंत धैर्यवान्। काकोदर = कौए का रूप धारण करनेवाले (जयंत) का दर्प हरनेवाले। यहाँ पर यदुपति और रघुवीर दोनों वर्ण्य (प्रस्तुत) हैं। यह 'कुवलयानंद' के इस श्लोक के आधार पर बना है—

> त्रात: काकोदरो येन द्रोग्धाऽपि करुणात्मना।
> पूतनामारणख्याता स मेऽस्तु शरणं प्रभुः॥

१०४ गुन = प्रसाद आदि; गुण। भूषन = उपमादि अलंकार; गहने। रस = शृंगारादि; आनंद। बरन = अकारादि अक्षर; गौरादि रंग। पद = शब्द; पैर। राग = गाने की ध्वनि; प्रेम। यहाँ कविता तो अवर्ण्य (अप्रस्तुत) है ही, कामिनी भी अवर्ण्य है, क्योंकि किसी विशेष नायिका का वर्णन कवि का अभिप्रेत नहीं है।

१०५ भूसि० = तीनों पक्षों में एक ही अर्थ लगेगा। नाग० = (१) अन्य नाग (सर्प) जिसके समीप बहुत-से (बेस) रहते हैं; (२) जिसके समीप उत्तम (बेस) नाग (हाथी, ऐरावत) रहता है; (३) जिसके समीप बड़ा-चढ़ा (बेस) नाग (कालिय) रहता है। सुर = देवता। सेस = शेषनाग। सुरेस = इंद्र। व्रजेस = श्रीकृष्ण। यहाँ श्रीकृष्ण वर्ण्य हैं और शेष एवं

सुरेश अवर्ण्य हैं।

१०७ सुचाल० = 'अचैन' तक सभी शब्द दोहरे अर्थवाले हैं। बरने = वर्णन किया। तुरग = घोड़ा।

१०८ बिय = (द्वितीय)।

१०९ आन = (अन्य)।

११० ठिक्ठान = निश्चय समझो।

१११ धीर = धैर्य। सक्र = इंद्र अर्थात् बादल। केवल बड़े दानी से ही माँगनेवाला व्यक्ति प्रस्तुत है।

११२ कृस-तन = दुर्बल शरीर। थकित-अवाज = बोल बंद हो गया है। हनत न = नहीं मारता, नहीं खाता। तृन = घास। मृगराज = सिंह। निर्बल को न मारनेवाला पराक्रमी व्यक्ति प्रस्तुत है।

११३ अनुहार = समान। रासभ = गदहा। गुरु = भारी। गयंद = (गजेंद्र)। भार = बोझ। बड़प्पन का स्वाँग बनानेवाला ढोंगी व्यक्ति प्रस्तुत है।

११४ अवरेख = गिने, समझे।

११५ पट = वस्त्र। बली से बिना समझे शत्रुता करनेवाला विशेष व्यक्ति प्रस्तुत है।

११६ फुरैहि = (स्फुरणा) प्रकट हो। है हि = है ही।

११७ जोइ = जो। बाँके = (वक्र) 'टेढ़े से कोई नहीं बोलता' यह सामान्य प्रस्तुत है।

११९ सुर = देवता। सार = मूलतत्त्व। सखार = खारा (जैसे दूध को मथकर घी निकाल लेने पर जैसे खट्टा मट्ठा रह जाता है—हार जाने पर दाँत खट्टे होते ही हैं)।

१२० आन = ले आओ, समझो।

१२१ गति = चाल। पखान = (पाषाण) पत्थर (की तरह कठोर)।

१२२ करि = से। फुरै = निकले। अनत = अन्यत्र। यहाँ कमल और

भ्रमर को देखकर कोई कह रहा है, इससे वे दोनों तो प्रस्तुत हैं ही, साथ ही किसी नायक के प्रति दूती का यही उलाहना भी प्रस्तुत है।

१२३ सुगम्य० = सुगम बात को वचन की रचना से (घुमा-फिराकर) कहे। साधव = साधना। मिस करि = बहाना करके।

१२४ तित = (तत्र) वहाँ। चातक = अर्थात् वह वियोगिनी चातक की तरह विलाप कर रही है (पहला प्रकार)। पाहुनी = अतिथिनी (नायिका)। सम्मुहाइ = संमुख आकर।

१२७ अहि = सर्प। तैं = तू। जोगी = अर्थात् शिव।

१२८ अन्यसुरतिदुःखिता नायिका है। सखी नायक से रमण कर आई है। हितू = भला करनेवाला। तो-सी = तुझ-सी। मो-हित = मेरे लिये। घाइ = घाव।

१२९ आन = (अन्य)। कान की बड़ाई से मुरली की बड़ाई हुई।

१३१ निज्जु = निश्चित। कूर = मूर्ख। क्रूर = कठोर। अक्रूर = (१) ये कृष्ण को मथुरा ले आने के लिये गए थे ; (२) जो क्रूर न हो।

१३२ सुउक्ति = (स्व + उक्ति) अपनी उक्ति। निहनहु = मारो, क्योंकि चंद्रमा ही के कारण वियोगिनी की विरहाग्नि धधकती है। वह चंदन के लेप से शांत हो जायगी, इसलिये लेप का नाम लिया। यहाँ पूर्वकथित अपनी ही उक्ति का खंडन है।

१३३ झुठ = झूठा, असत्य। भन = कहा जाता है। निषेधाभास = जहाँ निषेध का आभास (मात्र) हो। भावती = प्यारी, नायिका। कहनेवाली सखी नहीं बन रही है, पर काम (नायिका की सिफ़ारिश) सखी का ही कर रही है।

१३४ विधि = आज्ञा। दुर्यो = छिपा। वहीं सुख करो (रहो) यहाँ आकर तो दुखियों को दुःख ही दोगे। पर इसका तात्पर्य है कि यहाँ मत जाया करो, यहीं रहा करो, क्यों दुख देते हो !)।

१३५ असोक = एक वृक्ष ; शोकरहित । बोध = ज्ञान । यहाँ 'अशोक' और 'शोक-वश' का विरोध है, पर 'अशोक' वृक्ष का नाम है इसलिये विरोध का आभासमात्र है, इसी से विरोध का परिहार हो जाता है।

१३६ बैन = वचन । सुनत० = बात नहीं सुनता, कहा नहीं मानता। नैन लगे = नेत्र जुड़े, देखादेखी हुई । लगत० = नेत्र नहीं लगते, नींद नहीं पड़ती । यहाँ दोनों प्रयोग लाक्षणिक हैं, उनके लक्ष्यार्थ से विरोध का परिहार हो जाता है ।

१३७ अंजन-दान = अंजन लगाना । कजरारे = काजल लगे (श्याम)।

१३८ बिय = दूसरे । अंक = (अंकन) निरूपण । उरोज = स्तन। अंकुर = उमाड़ ।

१३९ ताप = गर्मी (विरह की) । तोइ = (तोय), जल (आँसू)।

१४० कनकलता = सोने की लता, (नायिका)। श्रीफल = बेल, (कुच) । दोइ = दो ।

१४१ भो = हुआ । लगे = लगने पर । झार = ज्वाला, लपट । अग्नि की लपट से शीतलता होना विरुद्ध कार्य है ।

१४२ पानिप = पानी, शोभा । दरियाउ = समुद्र ।

१४३ आन रत = अन्य स्त्री में अनुरक्त ।

१४४ लाइ = आग लगाकर, जलाकर ।

१४५ ठाँहि = स्थान । छत = क्षत, घाव । बिथा = व्यथा ।

१४७ अनदाज = ढंग, (इस) प्रकार ।

१४८ सुनायक = स्वनायक, अपना पति । जीवन = जल, जिंदगी ।

१५० ओरे = ओले (उज्ज्वल) । अनभंग = अभंग, परिपूर्ण ।

१५२ मधुप = भ्रमर (उद्धव) । त्रिभंगी = श्रीकृष्ण ।। जोग = योग्य ।

१५३ भूमि = पृथ्वी 'सर्वसहा' कही जाती है ।

१५५ जूझत = मरते हैं ।

१५६ अष्टादस = १८ (पुराण) । षट् = ६ (दर्शन) । चारि = ४ (वेद)।

१५७ सु = सो, वह । मझार = में ।

१५८ विरहजन्य कृशता से छल्ला भुज का गहना हो गया ।

१६१ हनत ही = (लात) मारती थी । प्रवाद है कि स्त्रियों के लात मारने पर अशोक फूलता है । देखिए—

पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्यां
स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात् ।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवातात्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥

दहत = अर्थात् वियोग के समय फूलकर ।

१६५ लघुहिं = थोड़े ही ।

१६६ पियूष = अमृत । जोइ = देखकर ।

१६७ जोइ = जो । जितवार = जीत लेनेवाली ।

१६९ सुधन = स्वधन, अपना धन । सहेत = प्रेमपूर्वक ।

१७० गुंफन = गुँथाव, एक में दूसरे का जुडना । चेतु = समझो ।

१७१ मोप = मोक्ष ।

१७२ सो = वह । और को = अन्य हेतु का ।

१७५ गहब = ग्रहण करना । अर्थालि = अर्थ की पंक्ति । वृप = बैल । सुरसरि-तोय = गंगाजल ।

१७६ उत्तर = पीछेवाला ।

१७७ कृष्ण अधरों में, अधर मुख में, मुख में पलक और पलक में पीक ।

१७९ थान = स्थान ।

१८० कदलि० = केले के खंभे के भीतर का पत्ता । गात = गात्र ।

१८१ आयुध = शस्त्र, हथियार । पात = गिरना ।

१८२ पाखान = पत्थर । उरज = स्तन । स्तनों में काठिन्य होना गुण है ।

१८३ घाल = डाले, रखे । कच = बाल । कुच = स्तन ।

१८४ हय = घोड़ा । गयंद = हाथी । घोड़े से हाथी पर जाना क्रमपूर्वक वर्णित है ।

१८५ विय = दूसरा। तो = था।

१८६ उचार = कही जाती है। अमोघ = अत्यंत उत्तम। फल० = अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष।

१८७ तन० = अर्थात् उसपर मुग्ध होकर। लीक = लकीर। बिसाहि = खरीदकर।

१८८ थपै = स्थापित करे। नाह = नाथ, स्वामी।

१८९ सूल = पीड़ा। कर = हाथ। सूल = त्रिशूल।

१९० केस = बाल। संचारी = संचारी भावों में। संक = शंका।

१९१ सम = समान, एक सदृश। विरुध = विरोध। सरनो = शरण।

१९२ खुलि कै = खुल्लमखुल्ला, मजे में। भटू = (वधू) स्त्रियों का संबोधन। तजि वैठु = छोड़ दे। मीत = मित्र, प्रिय। त्रास = डर। नायिका परकीया है।

१९३ दाहिं = वार, दफे। चख = नेत्र। चकहिं = चकपकाते हैं। सकहिं = सशंक होते हैं।

१९४ तमकना = ज्वरादि से लाल पड़ जाना। तचति = तपती है, पीड़ित होती है। सुसुकति = सिसकती है।

१९५ चहसि = चहस कर के ('हम करेंगे, हम करेंगे' इस प्रकार)।

१९६ सुलटति = उलटे को सीधा करना। कर = हाथ। पट = वस्त्र।

१९७ सुकर = सुगम, सरल। घन घहरान = बादल गरजा।

१९८ अरि-पच्छ = शत्रु के पक्ष का। जोइ = देखकर।

२०० तास = उसका

२०१ आइ = है।

२०२ विरस = बेरस, नीरस। रसना = जीभ, जिसमें रस न हो (रस+ ना)। यहाँ 'रसना' पद के अर्थ का समर्थन है।

२०३ यहाँ वाक्यार्थ (किसी काम के करने में विघ्न का भय नहीं) का समर्थन है।

२०५ हरि = हरण करके। हरि = श्रीकृष्ण। ताहिं = के पास से।

२०६ ताहिं = लिये

२०७ पदवीस = पदवी को। ईस = महादेव।

२०८ खेद = दुःख। बंस = कुल, बाँस। बासुरिन = बाँसुरियों के रूप में।

२१० पंडवसुत = पांडुसुत, पाँचों पांडव।

२१२ महादेव के सिर का चंद्र या गंगातट की बर्फ़ कोई विशेष उज्ज्वल नहीं होती। धवल = उज्ज्वल।

२१५ अमृत० = झूठ की सिद्धि के लिये। आन = अन्य। अहि = सर्प।

२१६ जाहि = जिसको, उसको।

२१७ बोइ = बोकर। 'विष-बीज बोकर अमृत-फल चाहना' केवल प्रतिबिंब है।

२१८ बंछित = इच्छित। चितचही = जिसे कृष्ण चाहते थे। जोइ = जोय, स्त्री (नायिका—परकीया)।

२१९ अधिकारि = अधिक।

२२० गाइ = गाया जाता है, कहा जाता है। सुबस = स्ववश।

२२२ मनभावन = प्रिय। छरा = इजारबंद। आनि = आकर।

२२५ अधर में अंजन (दोष) से गुमान (दोष) होना।

२२६ क्रूर० = क्रूरों की सेना में। पोइस = (फा० पोयः) दौड़। भागना दोष से प्राण बचना गुण हुआ।

२२७ पारावार = समुद्र। अनादर सह लेना गुण से अनादर करनेवालों की मूर्खता का प्रकट होना दोष हुआ।

२२९ सर (तालाब) और सिंधु में तोय (जल) गुण द्वारा चातक को जल मिलना गुण नहीं हुआ।

२३० उलहत न = नहीं निकलता। करील में पत्ते न निकलने (दोष) से वसंत को (हीनता रूपी) दोष नहीं हुआ।

२३१ दोष को भी गुण मानना (किसी उत्कृष्ट गुण के कारण)।

२३३ सारिका = मैना। पहली पंक्ति में मधुर वाणी गुण से दोष है और दूसरी में कर्णकटुता दोष से गुण है।

२३४ प्रकृत = प्रस्तुत। पर-पद = अन्य शब्द। ताहिं = लिये। दोहा = (१) एक छंद ; (२) दो+हा (हाहा = विनय)। 'दोहा' में मुद्रा है।

२३५ प्रकृत = प्रस्तुत। कुज = मंगल। विधि = ब्रह्मा। नरिंद = राजा। यहाँ दिनों के नाम के क्रम से रवि आदि कहे गए हैं।

२३८ कर = हाथ में। मानिक = अर्थात् लाल। बरन = रंग।

२३९ नसे हु = नष्ट होने पर भी, अस्त होने पर भी। जोन्ह = (ज्योत्स्ना) चाँदनी।

२४० पन्नग = सर्प। विषहर = विष दूर करनेवाली।

२४१ आहि = है। करतल = हथेली। अरुन = लाल।

२४२ लीक = लकीर, चिह्न, दाग।

२४३ दुरी = छिपी। लहै न = नहीं पाता (पुतलियों और स्त्री में भेद ही नहीं है)।

२४४ विषै = में। चेप = (चिपकना) लगाओ, समझो।

२४५ पिक = कोयल। पिछान = पहचान।

२४६ उचार = कहा जाय। उजार = उजड़ा। स्वयंदूती नायिका है।

२४७ जहाँ प्रश्न ही की शब्दावली से उत्तर भी निकले। को कहिये० = किसे रात्रि में दुखी कहा जाय ? कोक हिये = कोक (चक्रवाक के हृदय) रात में दुखी रहते हैं। कान० = नई आई स्त्री का वास क्या है (कौन स्थान है) ? कौन० = नई स्त्री के रहने का स्थान कोन (कोण = कोना) है,-वह लज्जा से कोने में ही छिपी बैठी रहती है।

२४८ कई प्रश्नों का उत्तर एक ही हो । कौन श्याम है?—राम (रामचंद्र)। क्षत्रियों का शत्रु कौन था?—राम (परशुराम)। मूसल को धारण करनेवाला कौन था?—राम (बलराम, बलदेव)।

२४९ परासयहिं = (पर + आशय) दूसरे के अभिप्राय को। ईहा = इच्छा, यहाँ चेष्टा। कृष्ण ने दोनों हाथों को जोड़ा (संपुटित किया) अर्थात् कमल जब मुरझा जायगा (संध्या समय जब सूर्य डूबेगा) तब मिलना। स्त्री ने काजल लगाकर सूचित किया कि अंधकार होने पर मिलूँगी।

२५० पर-वृत्त = दूसरे का वृत्तांत (भेद, रहस्य)। मुकुर = दर्पण, शीशा। नायक रात में किसी दूसरी नायिका के यहाँ जगकर आया है, नायिका शीशा दिखा रही है कि तुम्हारा दूसरे के यहाँ रहना मैं समझ गई, अपना चेहरा भली भाँति देख लो। उससे बात लक्षित होती है।

२५१ दुरै = छिपाए। आन = अन्य। नायिका रतिगुप्ता है। उसकी छाती में नखक्षत लग गया है, उसे छिपाकर कह रही है कि घर में केतकी का (केवड़े का काँटेदार) पौधा अच्छा नहीं होता, उर में तथा (अन्य) अंगों में काँटे लग जाते हैं।

२५२ मिस = बहाना। नायिका स्वयंदूती है, बतला रही है कि घर में कोई नहीं है।

२५३ हे मूढ़ मन, विपाद और भारी कंपादि छोड़कर हरि के चरण का भजन कर (कोई सखी नायिका को लक्ष्य कर कहती है कि कृष्ण पास ही हैं विपाद छोड़कर उनसे मिल)।

२५४ नारी = स्त्री ; नाड़ी। सिवाइ = अत्यंत। बैद = वैद्य।

२५५ सखी ने कुंज में पहुँचकर कहा कि कुंज को छोड़कर चलो, यहाँ कभी-कभी काला साँप निकलता है। और सखियाँ तो डर से निकल गईं पर नायिका ने उसका ठीक तात्पर्य समझ लिया। स्याह = काला,

कृष्ण। भुजंग = उपपति। सिख = शिक्षा।

२५६ मरम = भेद, रहस्य। नायिका को रोमांच हो आया। उसे छिपाने के लिये वह अपने ऊपर जल छिड़कने लगी, क्योंकि जल पड़ने से भी ठंढ के कारण रोमांच होता है।

२५७ न्याउ = न्याय। दाउ = दाँव।

२५८ गर्भित = छिपा। आन = अन्य। ठिकठान = निश्चित। जूठो० = अर्थात् लोग किसी स्वार्थ ही के लिये दासता स्वीकार करते हैं।

२५९ काकु = कंठस्वर को बदलकर। और = अन्य। ताहिं = लिये। कलपन कीन्हें = कल्पना करने से (श्लेष या काकु की)। ठाहिं = उस स्थान पर।

२६० ननदी = पति की बहिन; न+नदी (नदी नहीं)। बावरी = बावली; पगली।

२६१ साधु = भले। सौहैं = सामने। सौहैं = शपथ। तुम० = अर्थात् तुमने अपराध किया है।

२६२ फरकत = फड़कते हैं, उछलते हैं। फाँदत = लाँघ जाते हैं। फिरत = घूमते हैं, चक्कर काटते हैं। तुरंग = घोड़ा।

२६३ सीम = सीमा।

२६४ दलनि = दल के द्वारा। ही = थी। हनहि = मारने के लिये।

२६५ गहन = भारी।

२६६ अँग = या संपत्ति किसी का अंग बनकर वर्णित हो।

२६७ तरे = नीचे। यहाँ राधाकृष्ण वंशीवट की महत्ता के अंग हैं।

२६८ तत्व = विचार करके। जोइ = स्त्री, पत्नी। बस्याइ = कठिनता से।

२७० पारस = वह पत्थर जो अपने स्पर्श से लोहे को सोना बना देता है। पदम = एक प्रकार की निधि (पद्म)। ताहिं = लिये। के ताहिं = इसका अन्वय 'निदरत मेरु०' से है।

२७१ सकलत्र = स्त्री-सहित । करन = हाथों से ।

२७२ जहाँ किसी नाम की स्वतंत्र व्युत्पत्ति निकाली जाय, कोई विलक्षण अर्थ लगाया जाय ।

२७३ मोहन = जिसे मोह न हो ।

२७४ ठानिवो = किसी अभिप्राय के लिये ठहराना ।

२७५ ठाहिं = स्थान पर । यहाँ धनुष तोड़ने का पुनः निषेध किया गया है ।

२७६ कहि = कहता है । दसवदन = रावण । बर = श्रेष्ठ । रारि = युद्ध । 'यह न चोरिवो नारि' का पुनः साभिप्राय प्रतिषेध है ।

२७७ अधरन० = अर्थात् अन्य लोगों के अधरों से सारी मधुरता लेकर । 'रचो न०' आदि का पुनः साभिप्राय निषेध है ।

२७८ जित्त = (यत्र) जहाँ । मंद = मूर्ख । यहाँ 'मंद' और 'पंडित' शब्द का पुनः साभिप्राय विधान हुआ है ।

२७९ हेतुमत = कार्य । ठास = स्थान । उनये = घिरे हुए ।

२८० चार = अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष ।

२८५ ठौर = स्थान । बेस = उत्तम । दौर = दौड़, पहुँच । लच्छ = (लक्ष्य) उदाहरण ।

२८८ जहाँ रस किसी (रस या भाव) का अंग हो । यहाँ राम में रति (भक्ति) भाव है, उसका अंग रौद्र रस है । इसी प्रकार रस भी जब रस का अंग हो ।

२८९ यहाँ श्रृंगार रस का अंग (ब्रज को बचाने की कथा का वर्णन करने से दया) वीर रस है । सुकर = स्वकर । भट्ट = बधू (संबोधन) ।

२९० यहाँ चिंता भाव श्रृंगार का अंग है ।

२९१ सौंह = शपथ । तीर = तीर से, बाण से । इंद्रजित = मेघनाद । यहाँ गर्व क्रोध का अंग बनकर आया है ।

२९२ बिय = दूसरा ।

२९३ निगम = वेद।

२९४ सुरिपु = अपने शत्रु को।

२९६ रव = शब्द। यहाँ रिपुरानियों के घूमने से दैन्य भाव व्यंजित है। उसका अंग शृंगार रसाभास है, क्योंकि गँवारों का उनसे रमण करना कहा गया है।

२९७ सपत्नी (सौत) का अपनी सपत्नी पर मुग्ध होना भावाभास है। यही शृंगार रस का अंग है। अलि = भौंरा।

२९८ जहाँ भावशांति किसी भाव आदि का अंग हो।

२९९ भाई के आने से हर्ष हुआ, पर चातक की बोली से (प्रिय-बिछोह के स्मरण से) वह भाव शांत हो गया और उसके हृदय में त्रास आ गया। यहाँ त्रास का अंग (हर्ष की) भावशांति है।

३०१ मृगमद = कस्तूरी। वास = सुगंध। नाह = (नाथ) स्वामी। यहाँ कस्तूरी की सुगंध से पहचानना विबोध रूप भाव का उदय हुआ। यह हर्ष का अंग है।

३०२ बहस = विवाद (दो विरोधी भाव अपने रहने का झगड़ा करते हैं। दोनों रहना चाहते हैं।)

३०३ यहाँ धैर्य और अमर्ष (रिस) दो विरोधी भाव एक साथ हैं, इससे भावसंधि। ये दोनों विषाद (भरि दृग आँसुन) के अंग हैं। अथवा शृंगार रस के अंग हैं।

३०४ मरहि = मिट जाता है। पूरब० = जहाँ पूर्व भाव मिटते चले जाते हैं, और इस प्रकार बहुत-से भाव होते हैं। वह भावशबलता है।

३०५ कोप = कालसा।,यहाँ निर्वेद (धिक०), स्मृति (वह विहार), विषाद (हाय), चिंता (कहा करौं) आदि भाव उठते एवं मिटते जाते हैं। यह भावशबलता अमर्ष (कोप) का अंग है। अथवा अमर्ष भी यदि भावशबलता में ही ले लिया जाय तो सब विप्रलंभ शृंगार के अंग हैं।

२०७ कर-सरसिज = हाथ रूपी कमल (नेत्र से) । अधरा० = (जिह्वा से) । मृदु० = (श्रवण से) । सुवास = सुगंध (नाक से) । कुच = स्तन (स्पर्श से) । त्रास = भय, शंका ।

२०९ जु ही = जो थी ।

२१० सहज = स्वाभाविक । परिमल = सुगंध । अरविंद = कमल । मिलिंद = भ्रमर ।

२११ सारँग, मलार = दोनों राग-विशेष हैं ।

२१२ सत्य हेतु = क्योंकि हेत्वाभास भी होते हैं जो असत्य हेतु हैं, जैसे आकाश के कमल में सुगंध होती है । क्योंकि वह कमल है । जैसे तालाब के कमल में सुगंध होती है । पच्छ = जैसे, इस पर्वत में अग्नि है । क्योंकि यहाँ धुआँ दिखाई पड़ता है । जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है । यहाँ 'पर्वत' पक्ष है । अग्नि साध्य है । धुआँ हेतु है । अलख = अर्थात् जो प्रत्यक्ष नहीं है ।

२१४ गुन = डोर (आलिंगन से वक्षस्थल में माला के दानों का चिह्न उमड़ा हुआ है) । बीस-हु-बिसै = भली भाँति । यहाँ 'बिन गुन के हार' हेतु, नंदकुमार पक्ष, 'करो बिहार' साध्य है ।

२१५ अलख = जो देखा हुआ नहीं था ।

२१६ इंदीवर = कमल । अनुहार = ऐसा । तड़ित = बिजली ।

२१७ अवदात = स्वच्छ ।

२१८ श्रुति = वेद । बच = वचन । पद्धति = धर्मशास्त्र । आगम = शास्त्र । आचार = लोक-व्यवहार के वचन ।

२१९ श्रुति है—अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।१९

२२० स्मृति = धर्मशास्त्र । यह दोहा इस श्लोक का अनुवाद है—

अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा ।
पन्चकन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशिनीः ॥

३२१ ताहिं = लिये । आगम = शास्त्र । उमहि = उमा (पार्वती) को। शास्त्रानुसार पार्वती की पूजा करने से मनवांछित पति मिलता है।

३२२ क्योंकि कहा गया है—

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामा न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥

३२३ वाम = बायाँ। ब्रजराज = श्रीकृष्ण। बाएँ अंगों के फड़कने से कृष्ण के आने की सूचना समझ लेना आत्मतुष्टि है।

३२४ जहाँ किसी सिद्ध न होती हुई बात की सिद्धि के लिये किसी अर्थ की आपत्ति (आरोप) हो वहाँ अर्थापत्ति होती है।*

३२५ देवदत्त मोटा तो है, पर दिन में एक दाना भी नहीं खाता। इसलिये निश्चित है कि रात में खाता होगा।

३२६ जहाँ किसी अभाव के ज्ञान से कोई विशेष ज्ञान हो।†

३२७ यहाँ कटि के अभाव के कारण यह जाना गया कि कटि है ही नहीं। यदि होती तो दिखाई पड़ती।

३२८ ऐसी कहावतें जो बहुत दिनों से चली आती हों पर उनका वक्ता प्रकट न हो। उनके लिये ऐतिह्य प्रमाण है।*

३२९ लोक-प्रवाद = जनश्रुति। यहाँ "नर जीवत सो सुख लहै" में ऐतिह्य प्रमाण है।

३३१ इस संसार में ऐसे भी जड़ जीव होंगे, जिनके हृदय में तुम्हारे नेत्रों के देखने पर भी कामदेव का बाण न लगता होगा। क्योंकि संसार बहुत बड़ा है। यहाँ पर बहुत-से मनुष्यों में से थोड़ों के

---

* अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः।
—पातंजल सूत्र, २४।

† वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता।—षड्दर्शन-समुच्चय।

* अनिर्दिष्टप्रवक्तृक पारम्पर्योपदेशमात्रमैतिह्यम्।—तर्कभाषा।

हृदय में कामबाण का न लगना और भारी संसार में थोड़े-से जड़ जीवों का होना 'संभवालंकार' है।

३१२ तंदुल = चावल। छीर = दूध।

३२३ आय = है।

३२४ सुमार = काट, आघात। खरी = प्रबल। करी = पड़ी हुई है। सुखमा = सौंदर्य। यहाँ 'करी खरी', 'बलि बिरह' आदि में अनुप्रास है। 'मार सुमार' एवं 'हरि हरिये' में यमक है। दोनों अलग-अलग पड़े हैं।

३२५ बिषम = कठोर, भीषण। बिषमसर = कामदेव। बिषम = ताक अर्थात् पाँच। सर = बाण। लगत = (चोट) लगने से। लगत न = (पलकें) नहीं लगतीं। 'बिषमसर' तथा 'लगत' का यमक। 'सुखद सुधा-सम' में 'स' और 'आइ सुनाइ' में 'इ' का अनुप्रास है। 'सुधा-सम' में उपमा है। ये सब अलंकार अलग-अलग पड़े हैं।

३२६ सुमन = फूल, सुंदर मन। सुफल = सुंदर फल, सफलता। आतप = घाम। बारी = (बालिका) हे नवयौवना। बारी = (वाटिका) उपवन। बारि = जल। यहाँ 'बारी' का यमक है, 'आतप-रोस, सुहृदता-बारि' में रूपक है। 'सुमन' और 'सुफल' में श्लेष है।

३२७ 'नामहि के सुनें' में चपलातिशयोक्ति। तथा 'चख-चकोर', एवं 'मुखचंद' में रूपक है।

३२८ उडुगन = तारे। अंक = चिह्न, कालिमा। अवधारि = समझो। दहन = जलाने। दवारि = अग्नि। यहाँ 'उडुगन' को अग्निकण और अंक को धूम कहना रूपक है, यह रूपक उत्प्रेक्षा का अंग है।

३२९ कुघत = बुरी बातें, बदनामी। आलवाल = थाला। झालरी = लहलही। खरी = उत्तम, मजबूत। यहाँ 'जल-बढ़ई' आदि चार रूपक

के पद हैं। 'फाटना' कारण होने पर भी कार्य न होने से विशे-षोक्ति। रूपक विशेषोक्ति का अंग है।

३४० सयान = चतुरता। भजौ = भागो। गन = अस्त। भान = सूर्य। यदि कोई व्यक्ति सायंकाल भ्रमर को कमल में रस लेते देखकर (प्रस्तुत) उसपर यह उक्ति कहता हो और उसका लक्ष्य कोई दूसरा व्यक्ति भी हो (प्रस्तुत) तो प्रस्तुतांकुर। यदि कोई सखी नायक को सचेत कर रही हो तो गूढ़ोक्ति।

३४१ नायिका के मुख की प्रशंसा करके नायक का मान मोचन कराना इष्ट हो तो इंदु-बिंब नायिका का मुख होगा। इसलिये रूपकाति-शयोक्ति। यदि कामोद्दीपन इष्ट हो तो इंदु-बिंब चंद्रमा का उदित मंडल होगा। इसलिये पर्यायोक्ति (दूसरी) होगी। सरसात= प्रकाशित होते हुए।

३४२ वारुनी = पश्चिम दिशा, शराब। अंक = चिह्न, कालिमा। अंक लगाना = आलिंगन करना। यहाँ प्रस्तुत चंद्रोदय वर्णन से अप्रस्तुत नायक-नायिका वृत्तांत प्रकट होता है, यह समासोक्ति है। 'वारुनी' शब्द श्लिष्ट है इसलिये श्लिष्ट समासोक्ति हुई। पर 'मनो' शब्द से उत्प्रेक्षा भी पडी है। दोनों समान प्रबल हैं।

३४३ चटपटी = तत्परता। हुलसी = हर्षित होकर। हुल-सी = शूल-सा। यहाँ मुरली सुनना हर्ष के लिये उद्योग था पर अंत में शूल (पीड़ा) हुआ। यह 'विषम' अलंकार है। हुल-सी (शूल-सा, मानो शूल) से उत्प्रेक्षा। 'हुलसी' में यमक भी है। ये सभी अलंकार समप्रधान हैं।

जगद्विनोद

१ वदन = मुख। नँद-नंदन = श्रीकृष्ण। मुद-मूल = आनंद की जड़।

२ शक्ति = देवी। सिलामई देवी = जो जयपुर में हैं। आमेर = जयपुर की राजधानी। फेर = ओर।

३ जाहिर = प्रसिद्ध। नरनाह = (नरनाथ) राजा।

४ ईस = (ईश) स्वामी। कबित = कविता।

५ छत्र = राजछत्र। छत्रधारी = बड़े-बड़े नरेश जिन्हें छत्र लगता है। छत्रपति = राजराजेश्वर। छिति = (क्षिति) पृथ्वी पर। छेम = (क्षेम) कल्याण। प्रभाकर = सूर्य। दरियाव = समुद्र। हद = सीमा। जागते = जगमगाते हुए। सवाई = जयपुर के राजाओं की उपाधि। कुलचंद = कुल में श्रेष्ठ। रघुरैया = रामचंद्र। आछे = कुशलपूर्वक। कच्छ = कछवाहा वंश में श्रेष्ठ। कन्हैया = श्रीकृष्ण।

६ जगदीश्वर = संसार के स्वामी। कवीस्वर = कवियों में श्रेष्ठ। जोरत = एकत्र करते हैं। जोरि = वर्णन करके। उमहत हौं = उत्साहित होता हूँ। मानसिंहावत = मानसिंह के वंशज। कोंची = कच्ची, अपुष्ट। दराज० = लंबी उम्र। रावरी = आपकी।

७ हित = हितुआ। निधि-नेहु = प्रेम के खजाना। सरस = रस से युक्त।

८ जाहिर० = लिखता है। हित = लिये।

९ सिरे = श्रेष्ठ। सुरस = वह (शृंगार) रस।

१० जुगति = युक्ति, सामर्थ्य। जथामति = बुद्धि के अनुरूप।

१२ सुरंग = अच्छे वर्णवाले। अनंग० = काम-भाव से। तरंग० = सुगंध की लहरें। लंक = कमर। परजंक = (पर्यंक) शय्या। अंबर = आकाश। दल = पत्ता।

१३ जाहिरै० = प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है। उमहै = लहराती हुई बहती है। बेनी = चोटी। सुखदेनी = सुख देनेवाली। सेनी = (श्रेणी) पंक्ति, धारा। बाल = नायिका। ताल = तालाव।

१४ घरै = घर में। नवल० = नवयौवना। सुगंध० = सुगंध फैला रही है। हारन० = हार वालों में उलझ गए हैं, उन्हें सुलझा रही है। घूमनि = घिराव। ऊरुन० = दोनों जंघाओं के बीच में दबाकर। आँगी = चोली। दूनरि = दोहरी-सी होकर, नीचे को ओर इतनी झुक गई है कि शरीर दोहरा हो गया है। चौवर = चार बार परत करके, चौहरा करके। पचौवर = पाँच परत करके। चूनरि = लाल रंग की पीली या सफेद बूटियों की चद्दर।

१५ सहज = स्वभावतः। सहेली = सखियाँ।

१६ बाम = स्त्री, नायिका।

१७ बच = वचन। काय = (काया) शरीर। लज्जासील = (लज्जाशील) लज्जा से युक्त। सुभाय = स्वभाव।

१८ तेरे० = (स्वकीया नायिकाओं के गुणों की जहाँ गणना होती है, वहाँ) एक तेरा ही नाम लिखा जाता है। पगी = लीन। पेखियतु है = दिखाई पड़ती है। सुबरन = सुंदर वर्णवाला (श्लेष से सुवर्ण = सोना)। रूप = सौंदर्य। सील० = शीलरूपी सुगंध।

१९ पीछू = (पश्चात्) पति के खा लेने के बाद। पिछिले छोर = रात के पिछले भाग में। भावती = नायिका। भोर = प्रातःकाल।

२१ तरुनई = जवानी, यौवन। ता सों = उसे। प्रवीन० = जो शृंगार की बातों में पटु हैं।

२२ अलि = सखी। या = इस। बलि = सखी, नायिका। माधुरई =

मधुरता। कुच = स्तन। चढ़ती उनई-सी = कुचों का उठान चढ़ रहा है, स्तन उभड़ रहे हैं। नितंब = चूतड़। चातुरई = चतुरता। जानि० = अंगों की इस चढ़ा-ऊपरी में न जाने कमर को कौन लूट ले गया (और अंग तो उभड़ रहे हैं पर कमर पतली होती जा रही है)।

२३ गजगति० = हाथी के आने की आवाज सुनकर। बिधु = चंद्रमा। रूपकातिशयोक्ति अलंकार होने से यहाँ 'गज-गति' = मंद चाल; 'शेर' = कटि; 'बिधु' = मुख; 'कमल' = नेत्र। (विरोधाभासालंकार भी है)।

२५ प्रमानियतु = प्रमाण माना जाता है। ज्योति = प्रकाश। अलख = (अलक्ष्य)।

२६ मति-अवदात = स्वच्छ बुद्धिवाले।

२८ यहाँ नायिका और सखी के प्रश्नोत्तर हैं। गात = (गात्र) शरीर। अंग = कुच, स्तन। आँगी = चोली। भट्ट = (वधू) स्त्रियों का पारस्परिक संबोधन।

२९ स्वेद = पसीना। भेद = रहस्य। व्रत० = आँखों ने भी आँसुओं का व्रत धारण कर लिया है, इनमें आँसू आ जाया करते हैं। तनकौ = थोड़ा भी। धौं = न जाने। द्वैक = दो-एक दिन से।

३१ उकसौहैं = उभड़ते हुए। उरज = स्तन। धनि = (धन्या) नायिका के लिये संबोधन। विलोकियतु = देखी जाती है। पीर = पीड़ा।

३३ जराय-जरी = रत्नजटित। खरी = खड़ी होकर। बगारत = फैला रही है। सौंधे = सुगंधित। कंचुकी = चोली। कौंधे = लपलपाहट, चमक। दुंदुभी = नगाड़े। औंधे = उलटकर रखे हुए। भाजि० = मानो लड़कपन (यौवन से युद्ध में हार जाने के कारण) दोनों नगाड़ों को औंधा कर भाग गया है।

१४ वृषभान० = वृषभानु की पुत्री राधिका। दुरि = छिपकर। दुति = (द्युति) कांति। रसभीने = रसमय, सरस। मसि भीजना = मूँछों के स्थान में बालों की कालिमा का होने लगना।

१५ उचौनि० = ऊँचे स्तनों को जंघाओं से छिपाकर। तन तकि = शरीर को ध्यान से देखती हुई। अन्हाति = स्नान करती है।

३७ उलही = (उल्लसित)। दुलही = नायिका। हुलसै = (उल्लास) प्रसन्न हो रही थी। उज्यारी = चाँदनी, चमक। डरपी = डर गई। चकी = चकित हुई। चमकी = चंचल हो गई।

३८ गहत = पकड़ते हुए। ढिग = पास। नाह = (नाथ) पति।

३९ परतीत = (प्रतीति) विश्वास। विबुध = पंडित।

४० पतियाना = विश्वास करना। आनन = मुख। रुचि = कांति, चमक। कमान = धनुष। कानन० = भौंह रूपी धनुष कानों में आकर लग गया है, आँखें तिरछी करने लगी है। प्रीतमैं = पति को।

४१ डग देना = ध्यान से देखना। छिनक = क्षणभर को भी। छबीले = नायक।

४२ लाज = लज्जा। मदन = काम (की इच्छा)।

४३ चालि = गौना होने पर। मृनाल = कमल-नाल। सूरति = शक्ल, स्वरूप। रति = कामदेव की स्त्री। संभु = महादेव (कुच)। मौज = तरंग, इच्छा। मनोभव = कामदेव। जुबान = जबान, जिह्वा।

४४ इकंत = (एकांत) भली भाँति। दुनारि = दो स्त्रियोंवाला। हूँचे० = लज्जा और काम के कारण नायिका के नेत्र न तो नायक को भली भाँति देख ही सकते हैं और न देखने से रुक ही सकते हैं, उनकी अवस्था दो स्त्रियाँ रखनेवाले पति की तरह हो रही है।

४५ ललित लाज = सुंदर लज्जा (अत्यंत नहीं, थोड़ी)। केलि = क्रीड़ा। खानि = खान। मानि = मानो, करो।

४६ दंपति = पति-पत्नी। गुपति = गुप्त स्थान में। मेरे जानि =

मेरे विचार से। मनमथ = (मन्मथ) काम । नेजा = भाला। मानि० = काम के भाले के भय से। अमेजे = (फा० आमेज़न) युक्त। रंगनि अमेजे = रंगयुक्त। बेंदा = मस्तक पर पहना जानेवाला एक गहना। ललाट = भाल। मजेजे = (फा० मिजाज़) अर्थात् मध्य भाग। हेमगिरि = सुवर्ण का पर्वत, सुमेरु। शृंग = चोटी। कलंक = कालिमा। कलानिधि = चंद्रमा। करेजा = कलेजा।

४७ हिमंत = अगहन और पूस के दिनों में।

४९ पट = वस्त्र। पियै = पति को। खासी = भली भाँति। सिगरी० = रातभर। परगासी = (प्रकाशी) संलग्न रही। गुलाबन० = प्रातःकाल जब गुलाब की कलियाँ चटचट करके खिलती हैं। चपला = बिजली। आँगुरी० = जिससे नायक गुलाब का चटकना सुनकर चला न जाय।

५० कोककला = कोकशास्त्र में बताए हुए कामक्रीड़ा के ढंग। अवरेखि = (अवलेख) सोच-सोच करके। बिमुद = (विगत मुद) खिन्न, उदास। कुमुद = कुई जो प्रातःकाल मुरझा जाती है।

५१ रीति = ढंग। अनंग-झरी = कामक्रीड़ा। हरा = हार। सरासर = सरं से, तुरत। सेज = शय्या। सुघरी = सुंदर घड़ी, सुअवसर। उघरी = (सं० उद्घाटन) प्रकटित। नीबी = फुफुँदी। सुधि = स्मरण, ख्याल।

५२ नागरी = चतुर, नायिका। सुरति = कामक्रीड़ा। अँगोछि = कपड़े से शरीर को पोंछकर। बसन = वस्त्र।

५५ परंद = पक्षी। पखियाँ = पक्ष, डैने। चौंर० = मुछेल करें। श्रम० = थकावट दूर करें। नेक = थोड़ा। न अघैये = चित्त में संतोष नहीं होता। झुकाझुक = दिव्य सौंदर्य। झपाक = शीघ्रता से। झखियाँ = मछलियाँ। ऐसे० = इस सौंदर्य को देखने के लिये ये शीघ्रता से इधर-उधर हो जानेवाली मछलियाँ (आँखें) दीं, जो स्थिर होकर

देख ही नहीं सकतीं। विरंचि = ब्रह्मा। अनंत = अगणित।

५६ भाल पै लाल गुलाल = मस्तक पर गुलाल (दूसरी नायिका के पैर का महावर) लगा है। गेरि = डालकर, पहनकर। गजरा = फूलों की भारी माला। अलबेलौ = विचित्र। गुलाब० = गले में नायिका के आलिंगन से मोती के हार के दाने नायक के वक्षस्थल पर उभड़ आए हैं, जहाँ दबाव के कारण पड़ी हुई ललाई भी है, इसीसे नायिका उन्हें गुलाब का गजरा कहती है। बनि थानिक = स्वरूप बनाकर। कै = कि। झोरिन = गुलाल से भरी हुई झोलियों को। झेलो = फेंको। रंग = प्रेम, रंग। बलबीर = बलराम के भाई, श्रीकृष्ण। मेलौ = डालो।

५७ रमन = पति। रावरे० = आपके पास, आप में।

५९ थके = थके। बिकाने = बिके हुए। ठाये हौ = स्थित हो, शोभित हो। रंग-बोरे = रंग में डुबोकर। कुसुंभी = कुछ लाल रंग।

६० दाहक = जलानेवाले। नाहक = व्यर्थ। मुहि = मुझे। सुबस = (स्ववश) अधीन। परसो० = जाकर उसके पैर पकड़ो (मैं पैर छूने से न मानूँगी)।

६२ बलि = नायिका का संबोधन। रोस० = न चाहनेवाले पर क्रोध ही करके क्या किया? आँसुन० = आँसुओं को बढ़ाकर, आँसुओं की झड़ी लगाकर।

६५ जगर-मगर = जगमगाहट। केलि-मंदिर = शयनागार। बगर-बगर = प्रत्येक कोठरी और दालान में। बगार्यौ = फैलाया। चटकदार = कांतिमान। अनुसार्यौ = आगे कर दिया, बढ़ा दिया। सैनन = इशारे करने में। पसार्यौ = फैलाया, दिखाया। बार = दफे, समय।

६६ दरस = देखते ही। अछेह = (अछेद्य) अत्यंत। तेह = रोष। गेह-पति = नायक।

६७ तरजन = बिगड़ना, डपटना, डाँटना। ताड़न = मारना।

६८ परोस = पड़ोस, पास के घर से (सौत के यहाँ से)। खरै-खरै = खरी-खोटी। धन = (धन्या) नायिका। धनी = पति, नायक। हनति = मारती है। हरै-हरै = धीरे-धीरे।

६९ तेह-तरेरे = क्रोध से चढ़े। अँगोट = छिपाकर।

७१ छवि० = छवि इतनी भरी है कि छलक रही है। पीक = पान की। अलक = लट। श्रम० = पसीना अधिक हो जाने से लटों के छोर से टपकने लगा। रूपखानि = अत्यंत रूपवती। अजाने = (अज्ञान) मानो कुछ जानती ही नहीं। परसत = छूते ही। मन-भावन = नायक। भावती = नायिका। ऐसी उपमानै छ्वै = ऐसे उपमान को छू रही हैं, ऐसी उपमा देने योग्य हो गई हैं। अरविंद = कमल (नायक के नेत्र)। चंद = नायिका का मुख। मान-कमनैत = मान रूपी धनुर्धर ने। रोदा = प्रत्यंचा, धनुष की डोर। कमानैं = धनुष। विन० = नायिका की भौंहें। मानो ..है = मानों मान रूपी धनुर्धर ने चंद्रमा को कमलों के ऊपर चढ़ाई करने के लिये प्रेरित करके उसे विना प्रत्यंचा के दो धनुष दे दिए हैं (नायिका की भौंहें नायक के लाल नेत्रों को देखकर मान के कारण चढ़ गईं)।

७१ अनत० = रात में अन्यत्र (दूसरी नायिका से) रमण करनेवाले। सुरति = स्मरण से। गहकि = उमंगपूर्वक। गुनाह = दोष। छ्वन = छाया भी छूने नहीं देती।

७४ रह्यो० = जिन्हें देखकर जहाँ-तहाँ नहीं रहा जा सकता (पति आकृष्ट ही हो आता है)। पिछौंहैं = पीछे की ओर से। बासर = दिन। बासर० = दिन बिता-बिताकर। सुदृग० = आँखमिचौनी का खेल। ख्याल = खेल। हितै-हितै = प्रेम उत्पन्न करके। नैसुक = थोड़ी-सी। नवाइ० = गर्दन झुकाकर। औचक = अचानक। अचूक विना चूके। चितै-चितै = देख-देखकर।

७५ जल-बिहार = जलक्रीड़ा। पिय प्यारि = नायक और नायिका। सहेलि = सहेली, सखी। चुभकी = डुबकी। केलि = खेल।

७६ परपुरुपरत = अन्य पुरुष में अनुरक्त। बाम = स्त्री। बहुरि = दूसरी।

७७ और = अन्य। हिए राखि = हृदय में रखकर (विचारकर)। रस-रीति = रस की पद्धति।

७८ लगि = तक। भारत = वृत्तांत, लंबी-चौढ़ी कथा। भनैं = कहें। गुन० = गुण को अवगुण नहीं समझ लेते हैं। लौं = तक। सहेली = हे सखी!। नीके कै = भली भाँति। श्याम रंग = काला रंग; कृष्ण का प्रेम। हौं तौ० = मैंने श्रीकृष्ण से गुप्त प्रेम तो कर लिया परन्तु उसे तोड़ते नहीं बनता।

७९ नायिका का पति उसे झुला रहा है। हिँडोरे = झूले पर। बसन सुरंग = सुंदर रंगीन वस्त्र। हरि = कृष्ण (उपपति)।

८० सरस = रसीला। रस लीन = प्रेमासक्त। परवीन = (प्रवीण) चतुर।

८१ दुहुँ दिसि = दोनों ओर (मेरे और प्रियतम के पक्ष में)। दीपति (दीप्ति) चमक, रौनक। आनँद में अनुरागैं = हर्षित हो जाय। दई = दैव। ब्यौंत = उपाय। देखे० = देखने पर बुरा चाहनेवाली स्त्रियों (चवाइनों) की आँखें जलें। अंक भरना = आलिंगन करना।

८२ करतार = भगवान। सियराय = ठंढो पड़ जाय, दूर हो जाय। यार = उपपति। क्वाँरपन = लड़कपन (अविवाहित अवस्था)।

८३ पट = छः। बहुरि = दूसरी।

८४ ललित = सुंदर। पठई = उठी। अनुसयना = अनुशयाना।

८५ कन्धत = लक्षणों के लिये नाम ही प्रमाण है, नाम से ही उनका लक्षण भी समझ लेना चाहिए।

८७ आली = सखी। हौं = मैं। ही = थी। ता पै = उसपर। तमैनी पड़ना = क्रुद्ध होना। बनिता = स्त्री। ऊधमिनि = ऊधम मचाने-

वाली। घोरि डारी = घोलकर मेरे ऊपर उड़ेल दिया। बेसरि = नाक का एक गहना। बिलोरि डारी = बिगाड़ दी। रंग-रैनी = एक प्रकार की चूनरी। कंचुकी = चोली। कसनि = बद। बिथोरि डारी = खोल दी।

८८ रैन = (रजनी) रात्रि। विदारनि० = शरीर को विदीर्ण करनेवाली। जरी = जली हुई अर्थात् बुरी। बाय = (सं० वायु) हवा।

८९ उमंगनि = उत्साह से। छाजतीं = शोभित हैं। भजी = मैं भागी। भीजी = भीग गई। उलीचैं = डालते हैं। रपटे = फिसलकर गिर पड़े।

९० बिचल्यौ = फिसल गया। भरी० = इन्होंने आकर गोद में उठा लिया। कहा = क्या। तकना = देखना।

९१ दुहाई खाउँ = शपथ खाती हूँ। कन्हैया = श्रीकृष्ण। साँकरी = संकीर्ण, तंग। दाँउ = मौका। दधि-दान = दही का कर। अमनैक = ढीठ, अहंमन्य। बनमाली = श्रीकृष्ण। लख्यो = देखा है। मृग-अंक = चंद्रमा।

९२ हुरिहारिन = होली खेलनेवाले। घोप = शब्द (अश्लील गीत)।

९५ धनी = मालिक (पति)।

९६ पागे = अनुरक्त। रस = प्रेम। पाहुनी-सी = अर्थात् घर में रहती ही नहीं। अवसेरे रहैं = उसकी प्रतीक्षा ही करनी पड़ती है। इग फेरे रहैं = मुझसे अप्रसन्न रहती हैं, मेरे घर नहीं आतीं। घनस्याम = काले बादल, श्रीकृष्ण।

९७ चीर = वस्त्र। अहीर के = अहीर के पुत्र। पीर = कष्ट।

९८ कनक-लता = सुवर्ण की लता, नायिका। श्रीफल = बेल, कुच। बिजन = निर्जन। बावरे = पागल। मधुप = भ्रमर, नायक।

१०० मंजुल = अशोक। मंजुल = सुंदर। कुरबिंद = माणिक। चवाई = चुगली करनेवाली। फिरि = मुँह फेरकर। पूतरी० = फिरंग देश के

लोगों की पुत्री के समान, अत्यंत गोरे रंगवाली। अनूतरी = बिना बोले, चुपचाप। मिलै = मिलाकर। अनिद = सुंदर। आये = आए हुए। रस-मंदिर = आनंदगृह, केलिगृह। इंदीवर = नीला कमल। मुखारविंद = मुखकमल।

१०१ धूँघुरित करि = धुंध-सा छाकर। मीड़न के मिस = मलने के बहाने से।

१०२ आन-रत = अन्य पुरुष में अनुरक्त। कला-निधान = कलाविद्।

१०३ छुटी = छूटी हुई, खुली हुई। उपटी = साट उभड़ी हुई। मकराकृत = मगर के आकार के। भुज-मूल = बाहुमूल, कंधे के निकट। का परी है = क्या पड़ा है, क्या करना है।

१०४ बीतवे ही = बीतनी थी, होनी थी। आँजना = नेत्रों में अंजन लगाना। किहि लाज = किस लिये। लुकंजन = (सं० लोपांजन) ऐसा अंजन जिसके लगा लेने से लगानेवाले को कोई देख नहीं पाता। ख्याल = बात। मति० = नेत्रों को लाल मत करो, क्रोध न करो। ख्याल के खंजन = खेल के खंजन, क्रीड़ा करनेवाले खंजन पक्षी के ऐसे। रेखित = चिह्नित, नखक्षत लगे हुए। कंचुकी = चोली। केंचुकी = पतला, महीन। कुच-कंजन = कमल (कली) के ऐसे कुचों को।

१०५ कंत = पति। जागती = जागते हुए। जात = व्यतीत होती है। द्यौस = (सं० दिवस) दिन।

१०७ रसबीजनि० = प्रेम का बीज बो चलती है। कनैखिन० = तिरछी नजरों से देखती है।

१०८ बिपिन = जंगल, निर्जन वन। बीथी = गली। प्रबल = अत्यधिक। कामकलित = कामयुक्त। बलि = बलिहारी। बाम = स्त्री।

११० बीथी = गली। ही = थी। रसाल = आम। ताल = ताड़। नेहिन० = प्रेमियों का प्रेम और अद्भुत ढंग की प्रीति देखने को मिली।

आनँद० = अद्वितीय रूपवाला आनंद। बाल = बाला, नायिका।

१११ प्रेम-बस = आसक्त। मति-मैन = (मैन = मदन) कामवासना में जिसकी बुद्धि रहे, मुदिता नायिका। रैन = रजनि, रात।

११२ विघटन = नष्ट होना।

११३ परम० = अत्यंत निकटवाला पड़ोसी। अराति = आर्ति, दुःख। सूने० = अपने अत्यंत निकटवाले पड़ोसी के सूने घर में पड़ोसिन का आना सुनकर चतुर नायिका को ऐसा जान पड़ता है मानो विपत्ति ही आ गई हो, क्योंकि उस पड़ोसी से उसका प्रेम है और पड़ोसिन के आ जाने से उसे अब स्वच्छंदतापूर्वक पड़ोसी से मिलने में बाधाएँ पड़ेंगी। ताप = गर्मी, ज्वर। ताप० = ज्वर चढ़ आया। जऊ = यद्यपि। बिलानी० = गड़ी जा रही है।

११४ सौति० = सौत का संयोग नहीं है अर्थात् तेरे कोई सौत नहीं है। लागत = लगते ही, आते ही। नायिका के दुखी होने का कारण यह है कि वसंत के लगने से पतझड़ होगी। जिससे उसका वन का घना संकेतस्थल नष्ट हो जायगा।

११५ होनहार = आगे होनेवाला, भावी। अभाव = कमी।

११६ भावी संकेत के नष्ट होने का अनुमान करके नायिका दुखी है उसे सखी समझा रही है। चालौ = गौने की बात। करि = करो। तित = वहाँ। अलि = भ्रमर। चाइ = चाव, आनंद के साथ। थोक = समूह। लोने = लावण्यमय, सुंदर। झपि० = लटककर घेर रहे हैं।

११७ निघटन = अधिकता से घटता देखकर। धन = (धन्या) नायिका। सरोवर० = तालाब के जल में। नायिका गुलाबों के घटने से अपने भावी संकेतस्थल के नष्ट होने का अनुमान करके दुखी है, उसको सखी समझा रही है कि गुलाब के सुंदर पुष्प के अब न मिल सकने के कारण तू दुःख क्यों कर रही है!

११८ सुरत-सँकेत = विहार करने का संकेतस्थल । रमन-गमन = नायक का जाना और वहाँ से लौट आना ।

११९ पीतपटी = पीला वस्त्र, श्रीकृष्ण का पीतांबर । थकी = स्थकित हो गई । थहरानी = काँपने लगी । नीरज = कमल, आँख । छीरज = चंद्रमा, मुख । नीर-नदी० = कमल से नदी निकलकर क्षीणछवि होते हुए चंद्रमा पर फैल गई अर्थात् नायिका के नेत्रों से आँसू निकलकर उसके मलिन मुख पर गिरने लगे । गुंज की माला देखकर नायिका ने समझ लिया कि नायक संकेतस्थल से जाकर लौट आया है । नायक ने ही वन में गुंज की माला बनाई है ।

१२० कल = सुंदर । अतर = इत्र । बोय = (बू) खुशबू, सुगंध । भाभी = भौजाई । इत्र की सुगंध से नायिका ने समझ लिया कि नायक यहाँ आकर लौट गया है ।

१२१ और = अन्य पुरुष । रति = प्रेम । रमनि = रमण, नायिका । निकेत = घर ।

१२२ आरस = आलस्य । आरत = आर्त, उदास । सीस-पट = सिर पर का वस्त्र । गजब० = गजब ढाती है । धार = समूह । सुचि = अच्छी । बिथुरि = फैलकर । छिति = पृथ्वी, फरस । छरा = नारा जिससे स्त्रियाँ फुफुँदी बाँधती हैं या लहँगा कसती हैं । छिति० = जमीन पर नारे का छोर छहरा रहा है अर्थात् नारा फरस से छू जाता है । भोर = प्रातःकाल । केलि-मंदिर = क्रीड़ागृह । एक कर कंज = एक हाथ में कमल लिए हुए है ।

१२३ तन० = शरीर का वर्ण सुंदर है । सुबरन बसन = सुंदर रंग के वस्त्र हैं । सुबरन० = सुंदर वर्ण अर्थात् अक्षरवाली उक्ति कहने का उसके मन में उत्साह रहता है । धनि = (धन्या) नायिका । सुबरन-मै = सुवर्ण अर्थात् सोने से युक्त । सुबरन ही = सुंदर वरों अर्थात् नायकों की ही ।

१२५ लक्ष्य = उदाहरण ।

१२६ प्रतीति = विश्वास, निश्चय । दुखिताइ = दुःखिता ही ।

१२७ दूती नायक से रमण कर आई है । उससे और नायिका से प्रश्नो- त्तर हो रहा है । स्वेद = पसीना । साँवरे = श्रीकृष्ण, नायक । दुहाई = कसम, शपथ । वा को० = उसका मन चुरा लाई है, उसके साथ रमण कर आई है ।

१२८ पीक-लीक = पान की पीक की रेखा । निरंजन = अंजन से रहित, नायक ने आँखों का चुंबन किया है इसी से । पुलक = रोमांच । बाद = विवाद । झूठवादिन = झूठ बोलनेवाली । धूतपन = धूर्तता । पापी = पातक करनेवाला अर्थात् नायक । बापी = बावड़ी । दूती के शरीर में जो चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं वे स्नान करने से भी हो सकते हैं ('पीक-लीक' को छोड़कर) और रमण करने से भी । नायिका व्यंग्य से कह रही है कि तू नायक के पास नहीं गई किसी बावड़ी में स्नान करने गई थी अर्थात् तूने नायक से रमण किया है, मैं यह बात समझ गई हूँ ।

१२९ आइ = है । अलि = सखी । बसाइ = वश ।

१३० नायिका ने मान किया है इससे नायक व्यग्र है उसे सखी समझा रही है कि आप घबरायँ मत, अभी बादलों के छाते ही नायिका आप-से-आप मान छोड़ देगी । मनभावती = मन को भानेवाली, नायिका । सोर = शब्द, ध्वनि । घरीक = एक घड़ी में । हरुवै = धीरे से, चुपचाप । गरवै = गले में ।

१३१ और = अन्य बातें । तौर = ढंग, हावभाव । अमोल = अमूल्य । सुहाग = सौभाग्य प्रकट करनेवाला शृंगार । तमोल = तांबूल ।

१३२ रस-धाम = रस की पद्धति जाननेवाले ।

१३३ मायके का नाई उसे विदा कराने के लिये आया है, नायिका

सखी से पति के प्रेम की चर्चा करती हुई उससे बिदा करवा देने की प्रार्थना कर रही है। माई = माता। भाभी = भौजाई। बीरन = भाई। राखति० = मुझसे प्रेम करती है। माइके = नैहर। यह उदाहरण स्वकीया नायिका का है।

१२६ तरके = तड़के, सवेरे। गोरस = दूध। पग धारो = बाहर गई। धौं = न जाने। हित = लिये। खोर = गली। काँकरी = कंकड़ी। लौट = पलटकर। छिन = क्षण। चाखनहारो = चखनेवाला। यह उदाहरण परकीया का है।

१२७ अनखाति = चिड़चिड़ाती है। विरह-धरी = विरह अर्थात् दु:ख से जलती हुई। बिललाति = व्यग्र हो रही है। नायिका अपने प्रेम का गर्व करके अपनी सौत की दुर्दशा सखी को सुना रही है।

१२८ नायिका चंद्रमुखी कहने से क्रुद्ध होती है क्योंकि वह कलंकी चंद्र की उपमा अपने मुख के लिये उचित नहीं समझती। इसी पर किसी सखी की उक्ति है। भटू = (वधू)।

१२९ नायिका अपनी सखी से कह रही है। नेत्रों को मृग और मछली के समान कहने से उसे क्रोध हुआ तो वह उठकर पड़ोस के घर में चली गई। इससे उसके क्रोध की शांति हो गई और कहनेवालों से भी बिगाड़ नहीं हुआ। रस रखना = प्रेम बनाए रखना।

१४३ उदित उद्दीपन तें = उद्दीपनों के उदित होने से।

१४४ सिख = सलाह, राय। छपाकर = क्षपा (रात्रि) करनेवाला (विशेषण)। छपाकर = चंद्रमा। बेदन = (वेदना) पीड़ा। मोचना = गिराना। उलही = (उल्लसित) बढ़ी हुई। दुरावै = छिपाती है।

१४५ बालम = (वल्लभ) प्रिय। ह्याँ ही = यहाँ पर। च्वै-सी० = चू सी गई (कृश हो गई)। छबि-छाँहीं = (उसकी) छवि की छाया।

वाले मोहन के न रहने से है) । अभीर = अहीर, ग्वाला । मीत = मित्र । आठएँ = आठवें । पाखैं = पक्ष । आठएँ पाखैं = चार महीने पर भी । सीत = जाड़ा ।

१५५ अंकुस० = जिसके पैर में अंकुश और हाथ में कमल का चिह्न होता है उसे लक्ष्मी बहुत मिलती है और लोग उसके वश में रहते हैं । यार = प्रेमी ।

१५६ अनत = अन्यत्र । अवदात = स्वच्छ ।

१५७ झपकौहैं = उनींदे । झुकि = रुष्ट होकर । झहराइ हू = (प्रेम से) झकझोरने पर भी । अंक लगना = आलिंगन करना ।

१५८ गुन = डोर ।

१५९ ख्याल करि कै = क्रीड़ा करके । पौंचा = पहुँचा, कलाई । हरेई-हरे = धीरे-धीरे । नायिका नायक के अन्यत्र रमण से इतनी दुखी हुई कि उसके शरीर में शैथिल्य से कृशता आ गई और गहने ढीले पड़कर खिसक गए ।

१६१ अमी के = अमृतमय । पीके हैं = पीक के दाग लगाए हैं । नायिका ने नायक के नेत्रों का चुंबन किया है इससे नेत्रों में पान की ललाई लग गई है और नायक ने ओठों से उसके नेत्रों का चुंबन लिया है इससे ओठों मे अंजन लग गया है ।

१६२ बलम = (वल्लभ) पति । नायक भूलकर दूसरी स्त्री का नाम ले लेता है, उसी पर नायिका की उक्ति है ।

१६३ ठगौरी डालना = मुग्ध करके वश में कर लेना । अरज = विनय ।

१६४ कै अमनैकी = मनमानी करके, हठ करके । बजि कै = डंके की चोट, खुल्लमखुल्ला । घनै की = घन की सी, बादल की सी (चातक बादल से प्रेम करता है और बादल उसपर पत्थर बरसाता है) ।

१६५ रुख = चेहरा । रँग = तमाशा । रुख राखैं = प्रतीक्षा करती हैं ।

मरजी = चित्तवृत्ति । मजा = आनंद । मजाकैं = (मजाक) विनोद की बातें ।

१६६ गोकुल = नगर (यहाँ नगर के लोग) । हेत = लिये ।

१६७ गोसपेंच = कान का एक गहना । पेंच = गहना । वारि० = न्यौछावर कर आए । पगरी० = पगड़ी में लगा आए हो (नायिका के मनाने में नायक उसके पैरों पड़ा है) । वे गुन० = वे गुणों से युक्त, अत्यंत मन लुभानेवाले । बेगुन० = बिना डोरवाले (आलिंगन से नायिका की माला के दाने नायक के वक्षस्थल पर उभड़ आए हैं, उनमें दानों के चिह्न तो हैं, पर डोर नहीं है) । सार = गोटी । पासा० = चौपड़ खेलकर । मनुहारिन = नायिका । मनुहारि = मनावन करके । पासा ..आए हौ = हे हरि आप किस मन-भावती के साथ चौपड़ खेलकर उससे जीतकर और उसका मनावन करके अपना मन हारकर आ रहे हैं ।

१६९ साह = (साधु) महाजन ।

१७० वारी = (बाल) छोटी, नवजात । उपचार = दवा । कितीकौ = कितने ही । भेद = रहस्य । ज्यान = हानि (हानिकारक) ।

१७१ अतन = शरीरहीन, कामदेव ।

१७२ नायिका स्वयं पश्चात्ताप कर रही है । बितान = चँदोवा । गहव = बड़ा । गिलमैं = (फा० गिलीम) मुलायम । जगाज्योति = जगमगा देनेवाला प्रकाश । अखिल = समग्र । मैन = (मदन) कामदेव । बिलसैं = देर तक ठहरते हैं । न लीन्ही हिल-मिल मैं = आदरपूर्वक उनका स्वागत नहीं किया । अन्वय—हाय मैं प्रभा की झिलमिल मैं मिल रही हौ ।

१७३ कहर = क्लेश (वियोग-जन्य) ।

१७४ हे = थे । बजमारे = वज्र का मारा, भीषण (गुमान का विशेषण) ।

सों = से (इसके कारण) । हाय के = आह के । दवारे = दावाग्नि । मैन = मदन । ऐन = ठीक, एकदम । उसास अनुसारे सों = उसासें छोड़ने से । हान = हानि । गुन = (गुण) भलाई ।

१७५ घमंड = बादलों का घिराव । पावस = (प्रावृट्) वर्षा (नायिका के विरह-जन्य ताप से सूखा पड़ने लगा है) ।

१७६ पियूष = अमृत । सुख० = उपपति कर लेने पर भी कलह करके क्लेश सह रही हूँ । उपहास० = परपुरुष से प्रेम करने की बदनामी का भय (कसक) केवल उसासें भरते रहने से तो दूर न होगा । हूक = पीड़ा ।

१७७ नायिका अपने मान को संबोधन करके कह रही है । सभीत गो = भयभीत होकर चले गए । मुद्दई = शत्रु ।

१७८ सरसाने = आप्लावित, युक्त । सुधारस-साने = मीठे । अनतैं = अन्यत्र । बखाने = कहने से क्या लाभ । पारि = गिराकर, मारकर ।

१७९ दाहिये = जला जा रहा है (भाववाच्य) अर्थात् जल रही हूँ । छैल = नायक । छगूनी = छोटी अँगुली, कानी अँगुली । छला = मुँदरी, अँगूठी ।

१८१ लौं = तक । मजेज = मिजाज । सुंदर० = अच्छे मिजाज से, भली भाँति । तन० = शरीर जल रहा है (विरह के कारण) । तमीपति = चंद्रमा । तेज पर = प्रकाश की तीक्ष्णता से । लौं = समान । लेज = (रज्जु) रस्सी । लचकि० = जिस प्रकार रस्सी द्वारा खिंचने पर लता लचक जाती है, उसी प्रकार भारे लज्जा के वह नतमस्तक हो गई । बीरी = पान की गिलौरियाँ । पीरी = पीतिमा, पीलापन । सीरी परी = ठंढी पड़ी हुई ।

१८२ गूजरी = (गुर्जरी) नायिका । ऊजरी = उजड़ी हुई, अस्तव्यस्त (नायक आकर लौट गया है) । ऊजरी = उज्ज्वल । तेज = तीक्ष्णता ।

१८३ पूर = धारा। पूरि रह्यो = भर आया है। गहब = गंभीर।

१८४ सजन = (स्वजन) पति। विहूनी = विहीन। अधपक्यो = अधपका अर्थात् कुछ पीलापन लिए हुए।

१८५ लंक = कमर। मखतूल = रेशम। ताग = डोरा। दाग = पीड़ा। राग = प्रेम। बिराग = वैराग्य। कहर = आफत। गाज = (सं० गर्ज) बिजली। अरगजा = चंदनादि का लेप।

१८६ रँग-रँग-भरी = नायक लेटकर चला गया है इसी से।

१८७ गंजन = हृदय तोड़नेवाला। सुगुंज = सुंदर गूँज (पक्षियों का कलरव)। दोष-सनि = अत्यंत दोषमय। गुंजन० = गुंजाओं से भरा होकर (नायक आकर लौट गया है, गुंजा की माला के दाने इधर-उधर डाल गया है)। खोज = पता। ख्याल = खेल, क्रीड़ा। घालन लग्यो = चोट करने लगा। सूखन = (शोषण) सुखाने लगा। सुबिब = कुँदरू। मींजन = मरोड़ने। अंक = शरीर। बजि कै = डंके की चोट, खुल्लमखुल्ला।

१८९ माल = माला (नायक से मिलनेवाली)। सटकि गई = निकल भागी। सहेट = संकेत-स्थल। दलनि = समूहों द्वारा। छैल = नायक। छंद = कपट।

१९० मैन-मूरति = मदनमूर्ति, नायक।

१९२ अनागम-कारन = न आने का कारण। मोचै = छोड़ती है, गिराती है। मोचै० = संकोच के कारण (पति के दिए हुए) हार को देखती रह जाती है, उसे उतारकर (क्लेश के कारण) फेंक नहीं देती। निबाहि = निर्वाह करके (क्योंकि चैत्र की चाँदनी उसे दुःख दे रही है)। अवलोचै = व्यथा दूर करे। लोचै = अभिलाषा करती है।

१९३ अटा = अटारी, छत। कित = कहाँ।

१९३ सिरानी = बीती । गुनि = सोचकर, विचारकर । हहरानी = व्यथित हो गई । सूल = कंटक । फर = अर्थात् शय्या पर ।

१९६ बास = वासना । और बास तैं = और किसी भाव से, अन्य कारण से । गास = फँसावट । प्यौ = प्रिय, नायक । सो = वह । तलास तैं = हे सखी, तू इसकी खोज कर । जवास = काँटेदार झाड़ी, गर्मी रोकने के लिये जिसकी टट्टी लगाई जाती है । रास = समूह । सासतैं = विपत्तियाँ । न राखत हुलास तैं = इनमें तू उल्लास को क्यों नहीं बचाती । न लाउ० = तू खासकर खास मत लगा । आसतैं = (आहिस्ता) धीरे-धीरे । न जाव उठि बास तैं = घर से उठकर चली क्यों नहीं जाती ।

१९८ का गुन = क्या बात । बार = देर । बीर = हे सखी । बेदरद = निर्दय (नायक) । लूक = चिनगारी । लौं = से । लाइ आउ = लगा आ, जला आ ।

१९९ नायिका संकेतस्थल में कदंब से पूछ रही है ।

२०० भावतो = नायक । तान-तरंग = संगीत में, गाने में । मनि-हार = मणिमाला ।

२०१ कलपित कैरे हैं = केले के वृक्ष लगाए हैं । खासे = अत्यधिक । खुस-बोइ = सुगंध । हीरन के = हीरों के बने । उजेरे हैं = जला रही हैं । चोखी = तीव्र । चँगेरे = फूल रखने की डाली ।

२०४ सैन = शयन (समय के) । लाइ = लगाकर ।

२०५ लगालगी लगनि मैं = प्रेम के आधिक्य से । उमकि उठै = उमंग से भर जाती है । चिराग = दीपक । झिलि = अंधकार । झेलि = प्रविष्ट होकर । झरहरी = रंध्रयुक्त, जिसमें छेद हों । झाप = चिक या परदा । झमकि उठै = जेवरों का झमाझम शब्द कर देती है । दर = स्थान । दरीखाना = अर्थात् कमरा । दुरि = छुप-छिपकर । दामिनी = बिजली ।

२०६ पीठ दै = नजर बचाकर।

२०७ चहचही = सुंदर। चहल = कीचड़। चंद्रक = चमकदार। चुनी = चुन्नी, रत्न। आब चढ़ी है = चमचमा रहे हैं। फराकत = (फा० फराख़) लंबा-चौड़ा। फरसबंद = ऊँची समतल भूमि। फाब = छवि, शोभा। महताब = चाँदनी, छटा। गुल = गुलगुली, मुलायम। गादी = गद्दी। गिलमैं = कालीन। गजक = नाश्ता। गिंदुक = (सं० गेंडुक) तकिया। गुले० = गुलाब के फूल की।

२०९ सोसनी = (फा० सौसन) ललाई लिए हुए नीला। दुकूल = साड़ी। रोसनी = ज्योति। घूमनि = चक्कर, विराव। तंग = कसी हुई। अँगिया = चोली। तनी = कसी है। तनिन तनाइ = बंदों से खींचकर बाँधी हुई। छपा = रात्रि। खरी = खड़ी है। छरी = अप्सरा।

२११ उसीर = खस। जीरे = जियरा, हृदय। पुरैन के पात = कमल के पत्ते। जनु पीरे = गर्मी से मानो पीले पड़ गए हैं। गजगौहर = गजमुक्ता। चाह = इच्छा। सिवार = (शैवाल)। सीरे = ठंढे, शीतल।

२१२ अमोलिक = अमूल्य। सुरुख = अच्छी। हार = सीप की माला इसलिये पहन ली कि नायक से मोती की माला माँगूगी।

२१४ नायक का वचन नायिका से। नौल = (नवल) नई आई हुई। औझकि उझकि = एकाएक निकलकर। झझकनि = हिचक, संकोच (कुछ खीझ लिए हुए)। सुरझि = सुलझकर, निकलकर। बेस = सुंदर। गहनि = पकड़ना।

२१५ नायिका का वचन नायक से। सूधी सहौ = सिधाई से रहने को मिलेगा (तुम्हारे ऐसा टेढ़ा न होगा)। लला = प्रिय।

२१६ सतरैबो = रुष्ट होना। उमहौ = उमंगित रहो। नायक का वचन नायिका से है।

२१७ भट्ट = (वधू) नायिका का संबोधन। लट्ट = मुग्ध।

२१८ सखी का वचन नायिका से। भूल० = भूलभुलैया की कला ही पकड़ ली है, सबको भूलते ही जा रहे हैं। मेली = डाली ('नहीं')।

२१९ सुबस = (स्ववश) अपने अधीन।

२२० रचि रही = ललाई छा गई है (पान की)। सुगंध = सुगंध फैलाकर। खौर = लेप। सुहाग = सौभाग्य (का चिह्न)। सबेरौ = शीघ्र। गेरौ = डालो (क्योंकि आलिंगन में बाधक होगा)। नायिका का वचन नायक से।

२२१ अंगराग = शरीर में लगाने के सुगंधित द्रव्य आदि। घरजी न = मना नहीं किया। प्रवीन = हे प्रवीण (नायक)।

२२२ उझकि = उचक्कर। झमकि = झमाझम शब्द करके। झाँकी = निहारा। बिसरि...तमासा की = खेल का ख्याल ही न रहा, जो खेल खेल रहे थे उसे छोड़ बैठे। चहूँघा = चारों ओर। तमोर = (तांबूल)। तरौना = कान में पहनने का एक जेवर। बासा = (वास = स्थान) उसकी उक्त स्थान में रहने की मुद्रा। नासा = नासिका।

२२३ लटि = शिथिल होकर। भाईं-सी = खराद पर घुमाकर बनाई हुई, सुडौल। भमरि गो = उलझकर गिर गया। अरि गो = अड़ गया। हेर्‌यो चाह्यो = आगे का रास्ता तलाश करना चाहा। हरें-हरें = धीरे-धीरे।

२२४ तरुन-तन = युवक। चवाई = बदनामी करनेवाला।

२२५ छाक = शराब पीने के बाद खाई जानेवाली वस्तु। अँगिया = चोली। ही = हृदय, वक्षस्थल। रंग-हिँडोरे = झूले के खेल के आनंद में। मिचकी = पेंग। मचकौ = झुककर पेंग मत बढ़ाओ। करिहाँ = कमर।

२२६ धरनीधर = श्रीकृष्ण । 'और' की बात से यह गणिका लक्षित कराई गई है । सखी का वचन नायिका से है ।

२२७ बोलि पठावै = बुलवाए ।

२२८ किंकिनी = करधनी । बाजनी = बजनेवाली । पायल = पायजेब । पाँय तें नाई = पैर से निकालकर फेंक दी । पात = पत्ता । खरके = खड़कने से । भाई = सुंदर । बैस = (वयस्) अवस्था । हरें-हरें = धीरे-धीरे ।

२२९ नायिका का संदेश दूती नायक से कह रही है । नवबेलि-सी = नई लता के समान । उलहि = उल्लसित होकर, उमंगपूर्वक ।

२३० हूले = आँकुस से चोट करने पर भी । आँदू = हाथियों के पैर में डाला जानेवाला सिक्कड़ । गथि = मजबूती के साथ । सोसनी = देखो छंद सं० २१० । ठमका = ठमककर, रुक-रुककर । ठुमकी = ठसक के साथ । ठमकी = नाज-नखरेवाली ।

२३२ सखी और नायिका का प्रश्नोत्तर है । भावते = नायक । लानै = लिये ।

२३३ घूमके = विराव । तोम = समूह । तुलत = उपमा के योग्य होते जाते हैं (हीरे तारे-से जान पड़ते हैं) । हैकल = घोड़ा आदि के पैर में पहनाया जानेवाला जेवर । खोर = गली । खुसबोह = सुगंध ।

२३४ दू पर = दोनों में । सुर = स्वर (स, रि, ग, म, प, ध, नि) । अगमन = पहले ही ।

२३५ दूती का वचन नायिका से । अथाई = बैठक, जमावड़ा । छीन० = रात मत बिता । बदन० = मुख छिपाकर । छपाकर = चंद्रमा । अथै गयो = अस्त हो गया ।

२३८ सही साँझ तें = संध्या के आरंभ होते ही ।

२३९ छल-सी = कपट की तरह (गुपचुप) । कानन = उपवन । मखतूल = रेशम ।

२४० सारँग = वस्त्राभूषण । सारँगनयनि = मृगनयनी । सारँग = (नायक के द्वारा बजाया) बाजा ।

२४१ आँगो = चोली । पाँमरी = (सं० प्रावार) दुपट्टा । खुही = सिर पर कोना बनाकर ओढ़ी जानेवाली घोघी ।

२४३ कचरति = कुचलती हुई । लाग = लगाव ।

२४४ मजीठ = लाल रंग । माठ = मटका, गागर ।

२४५ अवरेख = जानना, समझना । चटक = तेज ।

२४६ सफरी = मछली । हरजै = हानि । उपचार = दवा । मरजै = रोग, बीमारी । मथुरै = मथुरा को । बरजै = मना करे ।

२४८ खेरी = खेड़ा, गाँव । गेरी = गिराया । गुलाब के द्वारा बसंत का आगमन सूचित करके नायक को रोकना चाहती है ।

२४९ बलम = प्रिय । मूरि = जड़ी ।

२५० बराइबे कौं = रोकने के लिये । तीते पर = तीव्र लगने पर, वियोग के दुःख की असह्यता से । आँसुओं से स्नान करके वर्षा का आगमन बताया, वर्षा में विदेश-गमन निषिद्ध है । बालम = (वल्लभ) प्रिय । रीते पर = घर के (तुम्हारे चले जाने से) खाली हो जाने पर, घर छोड़ने पर ।

२५१ नायिका सखी से कह रही है । कैलिया = कोयल । डलहे = लहलहाते ।

२५२ असन = भोजन ।

२५३ झार = ज्वाला, लपट । झरसी = झुलसी हुई । नाखै = फेंकती है । मालती की माला मार्ग में डालकर नायक को वर्षा का आगमन सूचित कर रही है ।

२५४ चाह = खबर । सुकंत = स्वकंत, अपने पति को ।

२५५ धनी = महाजन, नायक । अरि जैहै = अड़ जायगी ।

२५६ फबत = शोभित (फाग का विशेषण) । फजिहत = परेशानी ।

आँचि = माँगकर। धमार = फाग के गीत।

२५८ वास-वास = फूलों से सुगंधित करके। गूँदि = गूथकर। गज-गौहर = गजमुक्ता। खसवीजन = खस के पंखे। पौनखाने = गवाक्ष, झरोखे आदि।

२५९ दुरागमन = गौना। वानि = वाणी, बात।

२६० दुराइ० = छिप रही है।

२६१ सखी का वचन सखी से।

२६२ हीरा-हार = हीरों का समूह। तुंग = ऊँचे। तोरन = नकली फाटक, यहाँ बंदनवार। झलाझल = चमक-दमकवाले। पौरि = फाटक।

२६३ मुद = प्रसन्नतापूर्वक। आन = कसम।

२६४ प्रान० = पड़ोसिन (नायिका) के तो प्राण-से पढ़ने आ रहे हैं, उनके आने से उसके विरह से निकलते हुए प्राण बच जायँगे।

२६५ रमनि = रमणी, नायिका।

२६६ रसाला = सरस।

२७० मुहै = मुझे। परिचारिका = दासी। मगन० = आनंदित रहो।

२७३ मान = प्रमाण (तक)। घानै = चोट। ताजी = नवीन। राजी० = अनेक उठने से रोएँ सोभित हुए, रोमांच हो आया। सौहैं = = सामने। सौहैं सुनि = शपथें सुनकर। कमान = धनुष।

२७४ अवाँगी = नीची कर ली। हाँगी भरना = हामी भरना। नायक नायिका को कुलख देखकर 'मौनं सर्वार्थसाधनम्' का ध्यान कर चुप रह गया। नायिका का मान भी काफूर हो गया।

२७६ सरोष = रुष्ट। कोष = खजाना।

२७७ नायक आप बीती कह रहा है। उरझाइ = उलझाकर, बहकाकर।

२८० ही = (हृद्) हृदय। कदंब = समूह। रतनाकर = समुद्र। आगर = निपुण।

२८३ औनो = घर । कौनो = कोई । सलौनो = (सलावण्य) सुंदर ।
२८४ चालि आई = नैहर से विदा होकर पतिगृह में आई ।
२८७ पा = (पद) पैर ।
२८९ हिलोरे = तरंग, उमंग । हेम = सोना । निहोरा = अनुरोध, आग्रह ।
२९२ मधु = शराब ।
२९३ गजय = वेढब । गुनाही = अपराधी ।
२९४ सहित = हितकारी । घट = शरीर ।
२९५ कंद = कलाकंद, बरफी । दाख = (द्राक्षा) मुनक्का । सिरै = बढ़कर । मधु = शहद । निसीठी = नीरस ।
२९६ उरसिज = कुच, स्तन ।
२९७ बारवधू = वेश्या । अलज = निर्लज्ज । अभीत = निर्भय ।
२९८ कंचुकी = चोली । घट = शरीर । बटा = गेंद । दू = दो । विधि = ब्रह्मा । विधि = विधान । लोट = त्रिवली । पटा करिबे को = मार गिराने के लिये । कटा = काट, मार ।
२९९ माहँ = खराद पर चढ़ाकर । गळगाजत = गरजते हुए । छाक = शराब के बाद का नाश्ता । छलहाई = छल करनेवाली । छिक = चैन, आराम । रस = आनंद ।
३०० जाहिर = प्रकट, प्रत्यक्ष । घरहाई = चुगली करनेवाली ।
३०१ छरा = इजारबंद । अदा = लटक । वारि - विलासिनी ती = वेश्या । अखरा = अक्षर (वाणी) ।
३०२ सीकरनि = सी-सी करना । बिसाति = बकत ।
३०५ उदित = प्रचलित ।
३०६ बाल = नायिका । बिहाल = विह्वल, बेचैन । बगारौ = प्रसार, प्रभाव ।
३०७ शुराफा = अफरीका का एक जंगली पशु जो अपने जोड़े के साथ रहता है । रूसना = कोप करना । सयान = चतुरता ।
३०८ सुमन = पुष्प, सुंदर मन । सेली = माला । निरखि = देखो ।

३०९ दाऊ = बलदेव । पौरि = दरवाजा । बखरी = घर ।

३१२ दह = (ह्रद) सरोवर ।

३१४ सलोने = सुदर । सबुज = अर्थात् कुछ-कुछ काले । झिल्ली = झींगुर । महत = महत्त्व । दई = दैव ।

३१५ वैस ही = उसी प्रकार । भेंटवी = भेटूँगा ।

३१६ यह उपपति का उदाहरण है । गेहपति = स्वामी ।

३१७ यह वैशिक नायक है । पारस = पारस मिलने से लोहे से सोना बनाकर वेश्या को दे सकेगा । मुरकि = लौटकर ।

३१८ नायकाभास = नायक का आभास-मात्र है, वास्तविक नायक नहीं ।

३१९ पाता = पत्र । पसारि॰ = प्रेम के व्यवहार करके । रतिराता = प्रेम से अनुरक्त (चित्त) । विभाव = उद्दीपक चेष्टाएँ । अबूझ = अज्ञ । वीसबिसे = निश्चय ।

३२२ लच्छ = (लक्ष्य) उदाहरण ।

३२५ बैसी = बैठी हुई । उनै-सी = उमड़ी हुई, छाई हुई ।

३२६ कानि = मर्यादा ।

३२७ अडोल = निश्चल ।

३२८ चख = नेत्र ।

३२९ सीवी = सीत्कार । नीवी = फुँफुदी ।

३३० खोर = गली ।

३३१ सचिव = मंत्री, सलाहकार, साथी ।

३३७ मोचै = दूर करे ।

३३८ धरकि = धुकधुकी की धड़कन के साथ । भूसित॰ = छवि शोभित होकर पृथ्वी के धरातल को छा रही है । गवि कै = डूबकर, सन-कर । क्षरिप = परदा ।

३४१ नाखी = फेंक दी । कोक = कामशास्त्र के एक आचार्य । कारिका = सूत्र । रसाल = आम । मंजरी = बौर ।

१४२ पछीत = पीछे की ओर।

१४४ उतन = उस ओर, उधर। कारो चोर = काले कृष्ण।

१४६ झोरि = परस्पर एक-दूसरे को झोंका देकर। झमाइ = एकत्र होकर। इकहाऊ = एकाएक। नैसुक = कुछ-कुछ। हर = हल। ऊसर = (ऊसर) खेत।

१४७ हलकाय = हिलाकर। ख्याल = तमाशा।

१५१ छवा = एड़ी। डाँकत = पच्चीकारी करने से।

१५२ अनी = नोक। अनियारे = तेज, चोखे।

१५३ लग = प्रेम। झेल = देर। सर कौ = समता के लिये। सर-सेल = बाण और भाला। घलाघल = चोट।

१५६ भरभरात = विह्वल होती है। घनघरात = गरजने से।

१५७ द्रुत चाल = तेज चाल से। सर = समता। मैनहिं = कामदेव ने ही। हरैं = धीरे से।

१५८ नाइ = नीचे करके।

१६१ इहाँई० = यहीं तुम्हारे ब्याह का चलन हो जाय (मथुरा में नहीं) यह कहकर श्रीकृष्ण की बड़ाई करती हैं।

१६४ सटा = फैलाव। लटा = लट। घटा = शोभा, ज्योति-प्रदर्शन। घालि = मारकर। कटा = काट, मार।

१७१ तरनि० = यमुना। तारापति = चंद्रमा। ताती = गर्म, तप्त (विरह से)। काम० = कामदेव कत्ल करनेवाला होगा और कुंज कटार होगी। अबाती = बिना वायु की, भीतर-ही-भीतर जलनेवाली। नेह = तेल और प्रेम।

१७३ तासन = एक प्रकार का जरदोजी कपड़ा। गिलमैं = गद्दे। मखतूल = रेशम। झरपैं = परदे। झुमाऊ = झूमनेवाली। रंगद्वारी = रंगमहल के द्वार पर। सँवारी = सजाई हुई।

१७४ विजन = निर्जन। खोरि = गली।

३७७ बाम = स्त्री। हमाम = गर्म पानी का हौज।

३७८ केलि = खेल, क्रीड़ा। कलित = सुंदर। किलकंत = किलकता है। पिक = कोयल। पलास = टेसू। पगंत है = पगा है, छाया है। दिगंत = दिशाओं का छोर। बीथी = गली। बगरो = छाया है।

३७९ डौर = ढंग। झौंर = गुच्छा। अवाज = ध्वनि।

३८० लरजत = हिलते हैं। लुंज = टूटे हुए। बिसासी = विश्वासघाती। भुंज = भूजते है।

३८१ लूकैं = लुएँ, गर्म हवा। ऊकना = जलाना। हूकना = पीड़ा से व्याकुल होना।

३८२ छाम = महीन। जलाक = गर्म हवा। बेस = बढ़िया। वाटी = वाटिका। सीतल-सु-पाटी = चटाई। गजक = नाश्ता।

३८३ मल्लिका = चमेली। मुहीम = चढाई। दुंदै = शोर करते हैं।

३८४ चरजना = भुलावा देना। लरजना = हिलना। तरजना = ताड़न करना अर्थात् दुःख देना।

३८५ झरसत = झुलसता है। मवासो = किला, घर। अवासो = (आवास) घर।

३८६ तालन = ताड़ वृक्ष। ताल = सर। माल = माला। छान = छानी, छवाव। छता = छत्र।

३८७ सनाको = शब्द की तुमुलध्वनि।

३८८ छाकियतु है = छकते हैं, संतुष्ट होते हैं। थाकियतु है = कहे जाते हैं। तरनि = सूर्य। तमोल = (तांबूल) पान।

३८९ गिलमैं = गद्दा। गुनीजन = संगीत आदि गानेवाले। चिराग = दीप। गजक = शराब के बाद खाया जानेवाला नाश्ता। गिज़ा = खाद्य पदार्थ। कसाला = कष्ट।

३९२ छरा = इजारबंद। निशा = निश्चय। रंग = उमंग। झारि = एकदम।

३९७ रागना = अनुराग करना।

४०० अटा = अटाला, ढेर। हटा = हाट, बाजार। पटा = पटाव, सौदा। घलाघल = मार। कटा = कत्ल।

४०१ बेस = बढ़िया। मुकता० = मुक्तारूपी अक्षत (चावल) से।

४०२ अँग० = अंग में सिवार लिपट गया है। झार = एकदम। बारि-बिहार = जलस्थान।

४०७ अध-अखरान = आधे अक्षरों से, टूटी फूटी वाणी से।

४०९ पारि = लिटाकर। तंत = (तंत्र) घात। थिरकी = हिल उठी। बात = हवा। जलजात = कमल।

४११ मोहित = प्रेम से मुग्ध होने से।

४१२ अनभावतो = अनचाहा। हहरात = घबराता है। बेसर = नथ।

४१५ भेद = रहस्य। बेदन = पीड़ा। ही = थी। बीर = स्त्रियों का संबोधन।

४१६ झख = मछली।

४१७ जीव-गन = लोग, मनुष्य। गोय = छिपाकर।

४१८ उताल = तेज। मूठि = मारण-प्रयोग।

४१९ अँगोट = ओट, आड़।

४२१ छिए = छूने से।

४२८ कसकै = पीड़ा होने का भाव दिखलाते हैं। कर मसकै = हाथ से मलती है।

४२९ पैठ = बाजार।

४३६ मयंक = (मृगांक) चंद्र। सुत० = पृथ्वी का टेढ़ा पुत्र, मंगल (लाल रंग)।

४३९ गिरैया = पगहा। छाजत है = शोभित होवे है।

४४० किंकिनी = करधनी ।

४४२ झझकाइ = झिझककर । झुकी = रुष्ट हुई ।

४४५ मजीठ = लाल रंग । माठ = घड़ा ।

४४६ दराज = बड़े, विशाल ।

४४८ उछाहीं = उत्साह से ।

४५० ईठ = (इष्ट) मित्र, प्रिय ।

४५१ चमू = सेना । मूके = फेंकने से । ढूके = घात में ।

४५२ छूत = (छुवत) छूती है ।

४५७ दृगंचल = आँख की कोर । कुच-कुंभ = कुंभ (घड़े) के ऐसे कुच । उचारे = उच्चारण । ही = हृदय । तुंग = बड़े-बड़े ।

४६० अभीर = (आभीर) अहीर ।

४६३ तमाल = अर्थात् तमाल के कुंज में मिलना । अंचल० = पर्वतों के संधिस्थल में मालती फूलने के समय मिलूँगी ।

४६४ निधिबन = एक बन जो ब्रज में है । हीर० = अर्थात् रात में चंद्रोदय के समय मिलूँगी ।

४६५ सिताब = शीघ्र ।

४६६ दरियाव = समुद्र ।

४६८ बेद = लक्षण के ग्रंथ ।

४७३ अवगाह्यो = स्नान किया । बिसाह्यो = मोल लिया ।

४७६ लीक = देखा । लंक = कमर । लुनाई = सुंदरता (पतलापन) ।

४७९ अँगिया = चोली । बिसासी = विश्वासघाती । अनैसो = बुरा । चवैया = चुगली करनेवाली । पारि गो = सुला गया ।

४८२ उसासी = उच्छ्वास । दहा कियो = जलाया । कंकालिनि = अर्थात् जिसका शरीर भी किसी काम का नहीं था । कहवत = कथन ।

४८५ वारुनी = शराब । रसाले = सरस । अभीत = निर्भय ।

४८८ मुकताहल = (मुक्ताफल) मोती । इंद्रवधू = लाल रंग का छोटा बरसाती कीड़ा ।

४८९ धुलकन = कंप ।

४९१ जेर = दबे हुए । सेर = शान से ।

४९२ महंत = महात्मा । विधि = ब्रह्मा । लीक = रेखा ।

४९३ बनचर = जंगल में रहनेवाले, स्थलचर । बन-चर = जलचर ।

४९५ झपैं = मुँदते हैं (नींद से)। बहाली = धोखा ।

४९६ वलित = युक्त ।

४९७ अपोच = उत्तम ।

५०१ निगम = वेद । आगम = शास्त्र ।

५०२ बादहि = व्यर्थ ही । बाद = विवाद । बदी के = बुराई करके । मति = मत, नहीं । बंज = व्यापार । बिषै-बिष = विषय रूप जहर । रसनाम = आनंददायक नाम ।

५०३ डीठि = दृष्टि, विचार से ।

५०५ छिलत = चलता हुआ । मरोर = उमंग । तब सों = उस समय से । तकैयन = ताकनेवाले । मेह = वर्षा, झड़ी । मेह = मेघ । दब सों = दबकर । बेन = बंशी । उनमद = मदमस्त । रब = बोली ।

५०६ कंज-मृनाल = कमलदंड । कलानिधि = चंद्रमा और कलाविद् (नायक)। मित्र = सूर्य और यार (नायक)।

५०८ बलाइ = आफत । दीन मिलाइ क्यों = क्यों मिला दिया, क्यों दोनों की भेंट हुई । चंग = चर्चा (बदनामी की)। उमही = उमड़ी ।

५०९ लटपटाति = व्याकुल है । मेह = वर्षा (आँसुओं की)।

५११ भापियो० = कुछ कहना चाहती है । रुमंच = रोमांच । तनकौ = थोड़ी भी ।

५१३ बेप = रूप, आकार । खिखि = रुखाई से । खिरकि = खिड़की देकर ।

५१७ अमरख = रोष ।

५१८ नेक हू = थोड़ा भी । उमंड करि = उत्साहित होकर । बिचलु न = विचलित न हो । कचरिहौं = कुचलूँगा ।

५१९ अरथ = लिये ।

५२१ बानी० = सरस्वती की सुंदर वाणी । तिल-उत्तमा = तिलोत्तमा नामक अप्सरा । चंद कीरनै = चंद्र की किरणें । मखतूल = काला रेशम । गनगौरि = पार्वती ।

५२२ गुल = फूल । गालिब = दावादार, बढ़कर ।

५२४ कुसुंभ = पीला रंग कुछ ललाई लिए । बासर = दिन । आमरन = आभूषण । हिलिन = सखियों को । हितै = विनय करके । चाँदनी = प्रकाश । चौसर = विस्तार । चौक = दाँत का चौका । चाँदनी = प्रकाश ।

५२५ हौंस = अभिलाषा । धौस = दिन ।

५२७ माती = मतवाली । पैग = पैर । तुंग = ऊँची । बिघाती = घातक । छरा = इजारबंद । सरबोर भई = भीग गई ।

५३० हरहार = महादेव का हार, सर्प ।

५३२ प्रसेद = प्रस्वेद, पसीना ।

५३३ ह्यौ = हृदय । अन्हैयतु है = स्नान करता है । रस = आनंद, आह्लाद ।

५३४ अँगी = चोली । उर = कुच ।

५३६ स्यान = चतुराई की बातें । सालै = पीड़ा करती है । लै = (लाल को) लेकर क्या करेगी । घालै = (घूँघट) करे ।

५३९ सिंधु-तनया = लक्ष्मी । अमंद = उज्ज्वल, दिव्य । सुधाई = (सुधा ही) अमृत ही । गिरीस = महादेव । तारन० = चंद्रमा तारापति कहलाता है । कुल० = कृष्ण चंद्रवंशी थे, इसलिये चंद्रमा उनके कुल का आदिपुरुष (कारण) हुआ । हाल = तुरत के, थोड़े

पितों के । ज्वाल = (ज्वाला) अग्नि । लुआर = (ज्वाला) लपट । द्विजराज = ब्राह्मण, चंद्रमा का सिरोमणि ।

५४० पारत = डालता है । अपति = अप्रीति ।

५४१ चहचही = अति सुंदर । गुमकी = गमकना । चौक = तिलक । लहलही = सुंदर, मनोहर । मंग = पगार । मजा = आनंद । मरगजी = मलिन । आँगी = चोली । छेद = छिद्र । सरसार = (फा० सरशार) निमग्न । सनोई = दुबोई हुई । उहाँ = वहाँ । परी है = पड़ी है । परी = अप्सरा । परजंक = पलंग ।

५४२ निरमूल = बेजड़ । टपरे = छोटे छोटे । फूल रह्यो = प्रसन्न हो गया, खिल गया ।

५४४ ह्याँ = यहाँ । इलाज० = दवा कर मरूँगी । चेतत = होश में आते-आते । जुल्मिन = भीषण । ताप = गर्मी, ज्वर ।

५४५ अजब = विचित्र । अजार = व्याधि । दाम = दुर्बल ।

५४७ छलछाई = घल । भादयो = छेंका, रोका । अपने० = अपनी शक्ति भर । पै = निश्चय । नाँई = (न्याय) तरह ।

५४८ पैज = (प्रतिज्ञा) प्रतिज्ञा का व्रत । सिताब = (फा० शिताब) शीघ्र । सहगौन = (सहगमन) पति के मरने पर सती होना । रती = प्रीति । मो = मेरी । मति = बुद्धि । पयान = (प्रयाण) । पुरंदर = इंद्र ।

५४९ हने = काटे । नजरि = भेट । सीस = (शीर्ष) ऊपर ।

५५० सरसात = बढ़ते हैं, उत्पन्न होते हैं ।

५५१ अनियारे = तीक्ष्ण । ढायल = शिथिल । धन = (धन्या) नायिका ।

५५४ नीठि = कठिनता से । इंगुरो = कालिमा । नेह-अँटकी = प्रेममग्न । औघट = दुर्गम, दुर्घट (स्थान) ।

५५५ भभरि = घबड़ाकर ।

५५७ कलाम = कथन, विनय । खोरि = गली ।

५५८ प्रीतमैं = प्रियतम से।

५६१ छीनी = क्षीण, दुर्बल। धौं = न जाने।

५६३ स्वै रही = काट रही है (लज्जा और कार्य को त्यागे दे रही है)। च्वै रही = उदित हो रही है। छकी = मस्त। उझकी = चकपकाई हुई।

५६४ हलैं न = हिलते नहीं। अटपटे = अजीब, विचित्र।

५६६ जाहिर की = प्रगट किया, बताया। झँझरी = किवाड़ों के बीच का रंध्र। सिरकी = चिक या टट्टी की तीलियाँ। थिरकी-थिरकी = नाचती हुई।

५६७ चकरी = एक खिलौना जिसमें डोर बाँधकर फिराते हैं, चकई।

५६८ गनगौरि = चैत्र शुक्ल तृतीया के दिन गणेश और गौरी का पूजन होता है, उसे बुंदेलखंड में 'गनगौर' कहते हैं। फैल = (फा॰ फेल) कार्य। हिते रहे = अनुरोध करते फिरते हैं। गौरी = स्त्रियाँ (पूजन में आई हुई)। गनगौरि = पार्वती।

५७० अगवारे = घर के बाहर आगे की ओर। तौ = था। न जान्यो गयो = समझ में नहीं आया। ख्याल = ध्यान। बींध्यो = छिद गया।

५७१ अलिन्द = भ्रमर। तम = अंधकार।

५७२ सिरे = श्रेष्ठ, प्रधान।

५७७ दृगन = आँखों में। पगन लगी = लिप्त होने लगी। लगन = प्रीति।

५७८ [illegible] = दूत, धाम। आहि = है।

५८० चंद्रभगा = राधा की सखी का नाम। विसाखा = राधा की सखी। [illegible] = [illegible]। ललिता = एक सखी।

५८१ दिखसल = [illegible]। मृदुगात = कोमल अंगवाले।

५८३ [illegible] = [illegible]। बच = बचन।

५८४ [illegible] = हरि। [illegible] = महादेव।

५८६ नद्दत = गरजते हुए। बिहद् = अत्यधिक। दल-वद्दल = सेना का समूह। चहै = आवश्यकता हो तो। चक्र = दिशा। पलैया = पालनेवाला। पैंजपन = प्रतिज्ञा का बाना। परि भापत = निश्चित रूप से कहता हूँ। रीतौ = खाली, जनशून्य। अभीतौ = निर्भय। इन्द्रजीतौं = इंद्रजीत (मेघनाद) को भी।

५८७ वक्ष = वक्षस्थल, छाती। अक्ष = अक्षयकुमार (रावण का पुत्र)।

५८९ वंका = (वक्र) विकट। चोप = चाव। वाहिबे = चलाने। धूरधान = धूल की राशि।

५९२ भीत = दीवार। छीका = सिकहर।

५९५ मादा = मेद, चरबी। मज्जा = नली के भीतर का गूदा। सलीती = झोली। खराब० = बुरी दशावाली।

५९८ इंदु = चंद्रमा (मुख)। अरविंद = कमल (नेत्र)। कीरवधू = सुग्गी (नासिका)। मोती = (दाँत)। तम = अंधकार (केश)। रवि० = सूर्य की गर्मी (प्रकाश) से वह अंधकार दबता नहीं और खुल आता है (केश और अधिक चमकने लगते हैं)।

५९९ सुरराव = इंद्र। अगस्त्य-प्रभाव = वे तो समुद्र को सोख गए थे, (इन्होंने तो केवल पुल ही बाँधा है)।

६०१ अकारथ = व्यर्थ। बैस = (वयस्) उम्र।

६०२ घाद = विवाद। दुरास = दुराशा। कायो = शरीर।

६०३ आन = मर्यादा की रक्षा की चिंता।

६१४ अटक = रोक, बाधा।

६१५ विपुलित = अत्यधिक। दृगंचल = पलक। उरगपुर = सर्पलोक, पाताल।

६१८ छंद = कपट। ढौर = ढंग। बनि कै = भली भाँति, पूरे-पूरे।

६१९ ईछन = कटाक्षपात। पुरैन = कमल के पत्ते। मीच = मृत्यु।

६२० घलाघल = मार। ठोकर = चोट। चेटक = जादू।

६२१ पीकन लगे = पी-पी शब्द करने लगे ।

६२४ कीरतिकिसोरी = राधिका ।

६२५ वीर = हे सखी ।

६२६ धमार = होली के गीत । फगुआ देना = फाग खेलकर भेंट देना ।

६२७ लाह् = आग ।

६३० साधा = साध, इच्छा ।

६३१ होस = अभिलाष ।

६३२ सौंहनि० = भली भाँति (अत्यधिक) कसमें खाने पर ।

६३३ राह० = (इसका मन रखना चाहो तो) दूसरे के मार्ग में पैर मत रखना । आन-बान० = कसमें खाकर अन्य का बखान मत करना ।

६३४ आनि = अन्य ।

६३५ भरें = पहनाने से । बस्याई = बड़ी कठिनाई से ।

६३६ नीकी = भली । अनैंसी = बुरी । हायलै = घायल (से) । पायलै = पायजेब को । पाइ लगि = पैरों तक । बेनी पाइ = चोटी को पाकर (देखकर) । पाय लगि = पैरों पड़कर । पाइ लागियतु है = पाकर हृदय से लगाते हैं । सखी का वचन नायिका से है ।

६३८ निदान = अंत में ।

६३९ सूत = सूत्र से, आधार पर ।

६४० पावन = पवित्र, अच्छा, भला । उसीर = खस । तावन = तपानेवाला । मदार के गीत = शाह मदार के संबंध के गीत । 'गंगास्नान के लिये जाते समय शाह मदार के गीत गाने लगना' लोकोक्ति है ।

६४२ भाँती = हर तरह से । आपने० = अपने भाग्य में लिखी हुई । उलहै = निकले ।

६४३ चाप = धनुष । ताय = तपाकर । तारापति = चंद्रमा । तापतौ =

जलाता । थापतौ = स्थापित करता ।

६५२ झपकि = शीघ्रता से । झलौ = समूह । छलौ = प्रेम की माया । ठगौरी = मोहिनी । मेला = भीड़ (समूह) । मझार = बीच । हेला = खेल । छाह छ्वै = पास आकर । छराछोर = इजार-बंद का छोर ।

६५३ चोरिन = चुपके-चुपके । ही = थी । हाल = अभी । फेर = जादू । कतरे = टुकड़े । करिहाँ की = कमरवाली ।

६५६ खुशाल = अर्थात् सुगंधित । खुसबोही सौं = सुगंध से । जोग जोही = देखने योग्य । सौं = वह ।

६५९ आक = (अर्क) मदार । आँकना = बतलाना । परिरंभन = आलिंगन । छकना = मस्त होना, भाव में मग्न होना । बाकिबो० = बकती रहती है ।

६६० उमहत हैं = उल्लसित हैं । उरूजे = उलझे । रसे हैं = प्रविष्ट हैं ।

६६३ ओरे-लौं = ओले की तरह । अचाक = अचानक । घोरे = घोले । सीरे = शीतल । उपचार = दवा । घनसार = कपूर । चुरना = पकना, जलना ।

६६७ प्रमथ = महादेव के गण । प्रमथपति = प्रमथों के नायक ।

६६८ दिगंबर = नग्न (महादेव) । पाहुनी = आमंत्रित स्त्रियाँ । उछाह = (उत्साह) उत्सव । उमाह = उमंग ।

६६९ हलधर = बलदेवजी ।

६७३ कै = कि । धनी = स्वामी । वाहिए = फेंक दीजिए, रखिए ।

६७४ रोदत = रोने लगे ।

६७६ अधर-दसन = ओठ चबाना ।

६७८ बारि = जल (समुद्र का) । बल-अनंत = अत्यंत बलशाली । त्रिकूट = लंका की तीन चोटियाँ (सुवेला, लंका, निकुंभिला) । अच्छ = अक्षयकुमार । निरच्छ = रक्षाहीन, निस्सहाय (अकेला) ।

रुच्छ = रुक्ष (क्रुद्ध) । उचारौं = कहता हूँ । तिच्छ = (तीक्ष्ण) प्रचंड । गंत = (गनत) गिनता हूँ ।

६७९ चब्ब० = ओठों को चबाते हुए । गब्ब = गर्व ग्रहण करके ।

६८१ बिय = (द्वितीय) दूसरा ।

६८२ मोर = मोड़ना ।

६८४ कुंदन = सोना ।

६८५ अत्र = (अस्त्र) हथियार, यहाँ कवच । संगर = युद्ध । लंगर = ढीठ । अतंका = (आतंक) दबदबा । फलात = उछलते हुए । फाल = डग । फलंका = (फलक) आकाश । तड़ाक = शीघ्रता से । तड़ातड़ = तारियों की ध्वनि । तमंका = जोश ।

६८६ ललाई = लालिमा (प्रताप की) । परिघ = एक हथियार, लोहाँगी । रौदा = प्रत्यंचा । न मात = नहीं अँटता ।

६९० परे = पैरों पर गिरे । चायन = चाव से । सुभायन = स्वभाव से । वाहनै = सवारी (गरुड़) को । उवाहनै० = नंगे पैरों ही ।

६९४ बकसि दये = दान में दे दिए । वितुंड = हाथी । षोड़स = दान सोलह प्रकार के होते हैं—भूमि, आसन, जल, वस्त्र, दीप, अन्न, पान, छत्र, सुगंधि, फूलमाला, फल, शय्या, पादुका, गो, सोना और चाँदी । डीठि = दृष्टि ।

६९५ हेम = सोना । हलके = हाथियों का झुंड । वितर = बाँटना । गंज-गज = हाथियों का समूह । बकस = देनेवाला । गोइ रही = रखवाली कर रही हैं ।

६९९ धान = धान्य । आगम = शास्त्र । मंदर = पर्वत । पुरंदर = इंद्र ।

७०२ गोपादि = गोपन (आकारगोपन = अवहित्था) आदि ।

७०३ झिलिम = कवच । झला = समूह । झप्यो = ढका हुआ । तेगवाही = तलवार चलानेवाले । सिलाही = शस्त्रधारी, सैनिक । अक्बक = अंडबंड । गनीम = शत्रु । इलाही = हे ईश्वर ।

७०४ जलन = तपन । जलाफ = रद । जाल = समूह । अमा = खजाना, पूँजी । जोम = जोश । निगाह = (अ० अफगार) शस्त्रधारी । रंग-अवगाह = रणरंग को थहानेवाले । छायादार = छाया करनेवाले । दिवाकर = सूर्य । दल्ल = सेना । दिग दाहै = दिशाओं को जलानेवाले । कला = प्रवीणता । कुल्लि = संपूर्ण । फहर = आफत । कुंत = भाला ।

७०५ धुंधुरित = (धुंध मे) छाया हुआ । धून = धुआँ । पग = पाग, पगड़ी । मग = मार्ग । गंतरान = (तड़ितवान) बादल का सा गर्जन ।

७०६ मृगराय = (मृगराज) सिंह ।

७१० अंत्र = आँत । गिलत = निगलती है । अरुन = लाल । उरगिनि = सर्पिणी । हरबरात = शीघ्रता करती है, हड़बड़ी करती है । पलपंगत = मास का ढेर । रक्त = रक्त । चकचकाइ = चकित होकर ।

७१५ अयान = (अज्ञान) । हौं = हूँ । हौं = मैं । कान० = सबको सुनाऊँगा । पंचमुख = अर्थात् महादेव होकर ।

७१६ माली = समूह । उताली = शीघ्रता । खुसाली = प्रसन्नता । थाली = छली । काली = कालीय नाग ।

७१७ फिरत = फिरता है ।

७१८ अरु पानी = और आब ।

७२४ वितान = चँदोवा । दियो = दीपक । भख = भक्ष्य, भोजन ।

७२५ विरकत = विरक्त ।

प्रबोध-पचासा

१ जरूरे = आवश्यक । पन्नग = सर्प । फटा = फन । जूरा = जूड़ा ।

२ भीर = जमघट । चाहि = देखकर । चारो = चारा । वळजात = कमल । जहान = सांसारिकता । आपनो-सो = अपने ही (दुःख-सुख) के समान । और = अन्य ।

३ पाने = पानी ।

४ देखो जगद्विनोद, संख्या ६०१ ।

५ किते = कहाँ । अनंत = असंख्य । अनंत = नित्य । जनैये = बताया जाय । रूरी = सुंदर ।

६ जगत-वृंद = जीवों का समूह । चौरे = चोर । बीधि-बीधि = लग-लगकर । गीध० = गिद्ध और गुह को तारकर परच जानेवाले ।

७ द्यौस = (दिवस) दिन । पिपीलिका = चींटी । फील = हाथी ।

८ कंदकला = कलाकंद, एक प्रकार की बरफी । तैसो = के समान । पियूष = अमृत । कामद = मनोवांछित देनेवाला । कामदुधा = कामधेनु । स्वाद = स्वादिष्ट । सिरै = बढ़कर ।

९ खुलत गात = शरीर खुलते हुए, कपड़ा उतारते समय । छकात = खा पीकर अघाते समय । परे हु परभात = प्रातःकाल होने पर । प्रेम पागत = (किसी के) प्रेम में लीन होते समय । परात = भागते हुए । जहिये = छोड़िए । नाध नहना = कार्य ठानना ।

१० बान-बल = बाण के द्वारा, युद्ध से । बितान = यज्ञ ।

११ आस = आशा। पास = एक साथ रहना। पागना = मद।

१२ गनीजो = गिनिएगा। चतुरानन = ब्रह्मा। बिरंचि = (विरंचि) ब्रह्मा। बिलास = गुलाल का गुब्बार।

१३ कबंध = एक सिरकटा राक्षस जिसे राम ने मारा था। दापा = दबा। मंथर = दुष्ट। पंथ-पाहन = मार्ग का पत्थर (अहल्या)। व्याध = बहेलिया (वाल्मीकि)। बिराध = एक राक्षस जिसे राम ने मारा था।

१४ ही = थी। कठिन = दुष्टा (कठोर)। छमा = पृथ्वी। कलि = पाप। मलिन = नदी। पीसना = लगना (तारने में)। कमठिन = कछुपी। छोरना = छुड़ना।

१५ निहद = पकड़कर। सबौरी = शबरी। सुद = शंबूक। गौतमी० = अहल्या।

१६ भेद = तत्त्व। परपंच = खेल। पेखना = कठपुतली का खेल। भाय = (भाव) रंगढंग।

१७ सुद = शूद्र। हो = हृदय। त्यों परै = नीचा पड़ना। पाँच = पंच। ज्यों = जी में। काँपे = निरुत्साह।

१८ साधु = अच्छे। अगाध = अत्यधिक। रिझावते = प्रसन्न करते।

१९ मीच = मृत्यु। घात० = घात करने के लिये मृत्यु खड़ी है, मृत्यु का समय आ गया है। बाँध = बंधान। सफेद = उज्ज्वल। बिसासिनि = विश्वासघातिनी, दुष्टा। बिलई = बिल्ली।

२० ज्यान = घाटा। कहा धौं = न जाने क्या।

२१ पयोनिधि = समुद्र। लहर = झोंका। भीर = भीड़ (नाव पर चढ़नेवालों की)। झाँझरी = पुरानी, टूटी-फटी। वार = नदी के इस ओर का किनारा। अमित = अत्यधिक।

२२ सोहाये = स्वादिष्ट। बिजन = (व्यंजन) खाद्य पदार्थ। हरेई = धीरे से।

२३ आस = लालच। फलक फफोला = पानी के बुलबुले में का पतला आवरण। जोका = गाँठ। चोला = खोल।

२४ धना = यह एक जाट और ईश्वर-भक्त था। सदना = यह एक कसाई था, जो बटखरे के स्थान पर शालग्राम की बटिया से मांस तौला करता था और तर गया। सुद्ध = शुद्ध (अत्यंत)।

२५ दिच्छ = दिशा। पच्छिन के = अपने पक्षवाले के। लच्छन = लाखों। समच्छ = समक्ष। निपच्छी = जिसका पक्ष करनेवाला कोई नहीं है। पच्छि = गरुड़। लच्छि = लक्ष्मी। गच्छिबो० = जाया करते हैं। सहसच्छि = सहस्राक्ष, इंद्र। बिपच्छी = शत्रु। धच्छिबे को = मारने के लिये। मच्छ = मत्स्य। कच्छ = कच्छप। कच्छिबो० = काछा करते हैं, किया करते हैं। लच्छिबो० = लक्षित किया करते हैं, लखते रहते हैं। जस = जैसा। यच्छिबो० = दास जैसा यक्षण (पूजन) किया करते हैं (उसे)।

२६ धुजा = ध्वजा। रुजा = कोढ़। मँजूसी = सदूक, पिटारी। निसानी = चिह्न। खातिर = लिये, वास्ते। पानी = संमान। खारिज = खाली। पखाल = मशक।

२७ देखो जगद्विनोद, सं० ५९५।

२८ गोकरन = गोकर्ण तीर्थ (यह मालाबार में है)।

२९ कलाप = समूह। मीठो भर कठवति = परिपूर्ण मधुर।

३० बाँधन = बंधान।

३२ दिगंबर = नग्न। सीकर = जल के कण। बात = हवा। पंचपावक = पंचाग्नि (चारों ओर अग्नि और सिर पर सूर्य)। दहिये = जलिए।

३३ धाम = टेक। सुदमन = दंड। दिगंत = दिशा। दाम = माला। समंत = समय। अराम = (आराम) बगीचा। हिमाम = हम्माम, गर्म पानी का हौज।

३४ रसायन = रसीली। सारँगपानि = (शार्ङ्गपाणि) विष्णु, राम। मुचंड = स्थूल। मूड = सिर। मीच = मृत्यु।

३५ पेखनो = तमाशा । जकि-सी = चकपकाई हुई । जमाति = मंडली । जाया = स्त्री । माया = धन ।

३६ गणिका = पिंगला नाम्नी वेश्या, जो सुग्गे को राम का नाम रटाती थी । काछे = लांछित किया । बिप्र = अजामिल । लुब्धक = व्याध (वाल्मीकि) । ग्राव = पत्थर (अहल्या) । काछ काछना = रूप धरना, स्वाँग बनाना । आछे = भली भाँति ।

३७ देखो जगद्विनोद, सं० ४९२ ।

३८ गाजरन० = गाजर ऐसी तुच्छ वस्तु का तुलादान करके स्वर्ग की ओर अपने लिये विमान आने की आशा से देखना भारी मूर्खता ही होगी ।

३९ रिच्छ = भालु । बिलंद = भारी । मोद = हर्ष । सिला = पत्थर (अहल्या)। सौरी = (शबरी) भिल्लिनी । गीध = जटायु । गयंद = (गजेंद्र) हाथी । निज धाम = राम का धाम । उतारे = उतराई । सँभारे = भजे हुए । बरन = अक्षर ।

४० कलिकाल० = दुष्ट, कपटी, छली लोग । भाजी फिरै = भागती फिरती है । कुपातक = बुरे पातक, भारी पाप । पाजी = दुष्ट । आतस = अग्नि ।

४१ चौरे = हे दुष्ट । चपेट = डाँट । लागि = लिये । दीह = (दीर्घ) बड़े, भारी । आसरे = भरोसे । बिहाल परे = अर्थात् बंद हो गए हैं ।

४२ देखो जगद्विनोद, सं० ४७३ ।

४३ दसान = दशाओं को । सुहाते = अच्छे । नाते = संबंध ।

४४ बेगरजी = किसी की परवा न करनेवाला । भजै = भजन करे । सियनाहै = (सीतानाथ) रामचंद्र को । खानै० = भोजन करना और पानी पीना है । नैन० = नेत्र मुँद जाने पर (मरने पर)। फेर = फिर । फितूर = घाटा, कमी । टाँच = सिलाई । डोभ = टाँका । छियना = छूना । फेर० = मरने पर न तो घाटे की सिलाई ही रहेगी और न सीने में हाथ ही लगाना पड़ेगा । बेट = वास्ते, लिये । बेगारहि में = बेगारी में, व्यर्थ ही ।

४५ वैस = अवस्था, वयस्। बिसासिनि = विश्वासघातिनी। उमही = उमड़कर। पेखनि = (प्रेक्षण) दृश्य। या = यह। अजहूँ = (अद्यापि) अब भी। दसरत्थ-कुमार = राम। सी = श्री। मीच = मृत्यु। हर-हार = सर्प। कंगन = कंकण। आरसी = दर्पण, शीशा।

४६ देखो जगद्विनोद, सं० ६९०।

४७ भीलनी = शबरी। सामा = सामग्री। आसा गहि = साभिलाष। बेग तें = शीघ्रता से। धारा० = नेम रूपी समुद्र की धारा के पीछे व्यर्थ ही दौड़ते फिरते हैं, नेम के फेर में व्यर्थ रहते हैं।

४८ सेत = उज्ज्वल, अच्छी। असेत = काली, बुरी। अखाँग्यो = (आ + खंड अथवा खड्ग) मारा। अखाँग्यो = (अंग + क्षेप = अँगाखना से बिगड़कर) स्वीकार किया है। अंक = लेखा। मुख लगना = धृष्टता से बात करना। मुख लाग्यो = जपता हूँ।

४९ पय = दूध। प्रसव-जोग = उत्पत्ति का प्रबंध। गरवी = भारी, महान् (धनी)। स्याम = काला। सेत = गोरा। किम्मती = गुणवान्। भरम = (भ्रम) भूल। निदान = अंत में।

५० को = कौन। ती = स्त्री। ठाकुर = स्वामी। चाकर = सेवक, नौकर। गोती = संबंधी। धोती = अर्थात् कपड़े-लत्ते। चपेट = संकट।

५१ सुकंठ = सुग्रीव। कबंध = एक राक्षस। उमहिये = उत्साहित हूजिए। राजी = प्रसन्न।

गंगालहरी

१ थेस = उत्तम।

२ धई = धोई। ती = थी। विरंचि = ब्रह्मा। बामन = अर्थात् विराट् (त्रिविक्रम) रूप धारण करने पर पृथ्वी नापते समय ब्रह्मलोक में पैर पहुँचने पर ब्रह्मा ने उन्हें धोया था। ईस = महादेव। सुगाथ की = सुंदर गाथावाली, पवित्र-कीर्ति। जह्नु = एक ऋषि, इनकी जंघा में गंगाजी छिप गई थीं, फिर भगीरथ के प्रार्थना करने पर वहाँ से निकलीं। इसी से गंगा को जह्नुजा भी कहते हैं। इनका स्थान वर्तमान भागलपुर में था। तीनि पथ = गंगा त्रिपथगा कहलाती हैं। स्वर्ग (मंदाकिनी), मर्त्य (भागीरथी), पाताल (भोगवती)। सोही = शोभित हुई। अरथ = काम, प्रयोजन। गहगही = अत्यंत उमंग से। बहवही = फैलकर चलना, बढ़ना। लहलही = प्रफुल्लित।

३ कूरम = कच्छप। कोल = शूकर। कुंडली = फन। फैल = फैलाव। थिति = (स्थिति) ठहराव। रजत = चाँदी। रजत-पहार = कैलास।

४ जीवन = प्राणियों का।

५ सहज सुभाय = प्रकृतिगत स्वभाव। आप = जल। थिर थाप = स्थिर स्थापना (उसकी गणना होने लगी)। जकि-से = चकपकाए से। दूनी॰ = पापों के शरीर में ताप होने लगा, वे जलने लगे। बही = जिसमें मनुष्य के कामों का लेखा रहता है।

६ थान = स्थान। बिदा॰ = इनको विदा का पान दो अर्थात् अब इनका कोई काम ही नहीं रह गया। इन्हें बर्खास्त कर दो। फरद =

(अ० फर्द) लेखा। रोजनामा = जिसमें प्रतिदिन का कार्य लिखा जाता है। खाता = वह बही जिसमें एक-एक आदमी का ब्यौरेवार हिसाब अलग-अलग रहता है। खत जाना = लिखकर पूरा हो जाना (हिसाब पूरा कर देना)।

७ जोय = स्त्री। जोय = देखकर। पूरि = पूरी तरह। कुराही = कुमार्गगामी। अंगन = आँगन। अंगन = अंगों को।

८ देखो जगद्विनोद, सं० ५१८।

९ धौरी = (धवल) उज्ज्वल। निपात = गिरना। सरसात = फैल जाता है। तोय = जल। बात = वायु। बात = चर्चा। धूरि = गंगातट की। धूरि० = नष्ट हो जाना।

१० बन के = वन की भाँति। अघ = पाप। सुखारे = सुखी। उजियारे (करे) = प्रकट किया, प्रकाशित किया। कतारे = पंक्ति, समूह। तारे = पार किया। तारे = तारा, नक्षत्र।

११ सुचित = निश्चित। सेवते = रहते (क्षीरसागर में)। पंति = पंक्ति, समूह। अमिलती = (अमिलित) अलग हो जाती, इधर-उधर भागती। अनमिलती = (अमिल) बेजोड़, विषम, खराब। अंतरिक्ष = आकाश। मुनिजन० = यदि छिप जाने पर फिर मुनियों और जापकों को न मिलती। झार = ज्वाला।

१२ लहर = उमंग। गिरीस = महादेव। पुन्य = पवित्र। फैल = विस्तार। फहर = फैलाव। छहर = छहराव, छिटकाव। कहर = आफत ढानेवाली, नष्ट करनेवाली।

१३ पंचभूत = पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों से बना शरीर। भूतन० = भूतनाथ, महादेव। ग्यारह = रुद्र (महादेव) ग्यारह होते हैं। गति = मुक्ति। भवसूल = सांसारिक पीड़ा। कूल = किनारे। त्रिसूल = त्रिशूल (तीन पीड़ाएँ), महादेव का शस्त्र।

१४ भाषा = वाणी। सुगति की = अच्छी, भली। हाल = शीघ्र। हेरी =

देखी। छतिकी = खत जाना, दूर हो जाना। अजगवै = (सं० अयुक्त) अचानक, एकाएक। अति की = अत्यंत वर्षा होती है। पूर = प्रवाह। दुरमतिकी = दुर्बुद्धि।

१५ सूधरो = सीधा। दूजो = दूसरा (जोड़ मिलाने के लिये)। हर = हल, गोईं। ए तो = यह तो। नाथि = नाक को छेदकर डोर पहनाने पर। गिरैया = पगहा। फेरि है = लौटा दे। अगर = घर। गैल = मार्ग।

१६ जाग = याग, यज्ञ। परागै = प्रयाग को। कलिंदी = कालिंदी, यमुना। कान करना = सुनना, ध्यान देना। अंबर = वस्त्र। दिगंबर = नग्न। जोरावरी = बलपूर्वक। जाल = समूह। गजखाल = गजचर्म। खिलत = पोशाक।

१७ असम = विषम (तीन)। लाइ = लगाकर। ठहरतो = ठहराया जाता। अनुसरतो = कहता, वर्णन करता। कूट = शिखर। काल-कूट = विष। ठहरतो = स्थित रहता, गले में रुकता।

१८ पाँति = पंक्ति, समूह। भाँति-भाँति = अनेक प्रकार से। हलकंपनि = भय से, आतंक से। बान = बाण। सैन = (सैन्य) सेना, समूह। पाकसासन = इंद्र। साँस न मिलना = छुट्टी न पाना।

१९ बीच = मध्य। बीच-समै = ठीक मौके पर। रेनुकन = बालू के कण। छिति = क्षिति, पृथ्वी। चुपकाने = चुप हो गए। चकाने = चकपका गए। लुंज ल्वै गए = लँगड़े हो गए अर्थात् नष्ट हो गए। (ल्वै = लवण = काटना)। चारिमुख = अर्थात् ब्रह्मा। चारिभुज = अर्थात् विष्णु। चाहि = देख-देखकर। पंचन = पंचायत अर्थात् (देव) समाज। पंचमुख = पाँच मुख अर्थात् महादेव।

२० दाह = जलन, दुःख। दप = भय, आतंक। पेच में = चक्कर में। प्रेतनाह = यमराज। बेपरद = खुल्लमखुल्ला। गजब = अर्थात् अत्यंत।

गुनाही = अपराध करनेवाले, पापी। गरद = धूल। गरद करना = धूल कर देना, नष्ट कर देना।

२१ रेनुका = बालू। रास = ढेर। कास = एक प्रकार का पौधा। निवास = रहने के स्थान। लदाऊ = लदाव, भराव।

२२ सूच्छ = सूक्ष्म। अनुसारती = कह देती है। कला = गुण, महिमा। तारे = तरा हुआ। कबित्त = कविता।

२३ गाफिल = असावधान। हंस = ब्रह्मा की सवारी। चितैबे = देखने के लिये (दृष्टि दौड़ा रहे थे)। वृष = बैल। वृषपति = महादेव।

२४ अपान = अपनत्व, घमंड, रोष। अंबर = वस्त्र। दिगंबर = नग्न।

२५ सुरसिंधु = क्षीरसिंधु। जलूस = चमक। जह्नु-जन = जह्नु ऋषि। राकापति = चंद्रमा। इलाका रखना = संबंध रखना। सलाका = दंड (मेरुदंड)।

२६ हरे हरे = धीरे-धीरे। ढरो = द्रवो, पिघलो, अनुकूल हो। ढरे = धारण किया।

२७ देखो जगद्विनोद, सं० ७१५।

२८ दीपति = दीप्ति। दुचंद = दुगुनी। राह पड़ना = मार्ग बंद हो जाना। रोगन० = रोगों के मार्ग बंद हो गए। दाहक = जलन। गाढ़ = गाढ़ी, भीषण। गाज = बिजली। दाह० = दुःखों पर बिजली की भीषण अग्नि पड़ी, उनपर वज्रपात हुआ, वे नष्ट हो गए। जानी-सी = समझ-सी ली गई। बिलानी = लुप्त, नष्ट।

२९ ठाकुरी = स्वामित्व, प्रभुत्व। नेकु = थोड़ा। सुरापी = शराब पीने-वाले। द्विज-तापी = ब्राह्मणों को दुःख देनेवाले। अमल = राज्य।

३० उदोत = उदय, उत्थान। हाल = समाचार, गंगा की कथा। हामी भरो = हुँकारी भरो, जो कथा कहे उसकी कथा को सुनते समय 'हूँ हूँ' करना। (यहाँ चार बातें कही गई हैं, सुनना, हामी भरना, लिखना और कहना)। गोत = (गोत्र) समूह।

११ पराठ = पड़ाव, डेरा। कुढंगी = कुमार्गगामी। हाल = तुरत। लुटि गे = लुट गए (विपत्ति दूर हो गई)। ठहाक = तड़तड़ शब्द करके। गनेस-बेस = गणेश वेशधारी देव ने।

१२ खासी = पूर्ण, ठीक। अटा = अटाला, ढेर। छिति = पृथ्वी पर दुपट्टे के समान। छारदारी = चारदीवारी। मढ़ी = (मठी)। ढार = ढंग। धौरी = (धवल) उज्ज्वल। चौरी = चौड़ी। चिह्न-वारियै = चिह्नवाली। हरे-हरे = धीरे-धीरे।

१३ होत० = नष्ट होना भासित होता है। नासै = नष्ट हुए। (पुन्य) को। उपराजै = उत्पन्न करती है। गराजै = गरजती है। सुजानै० = सुजान व्यक्ति ही ज्ञान करके (समझकर) जान सकता है। ज्ञानवान ही समझता है। तानै = फैलाती है। आनै = लाती है। देव-अंगा के = देवताओं के अंगवाले, देवों के। सुअंगा = (शुभ+अंग) सुंदर अंगवाले। अभंगा = जो भंग न हो, परिपूर्ण। अघ-ओघ = पापों का समूह। भंगा = नष्ट करनेवाला।

१४ लगाइ = लेकर। गिरवान = (गीर्वाण) देवता। थोक = समूह। ब्याधै = व्याधियों को। बिष देत = जहर देता है, मार डालता है। दुखन०= दु:खों को दिनाई (खुजली) देता है, दु:ख व्याकुल हो जाते, नष्ट हो जाते हैं। पापन० = पापों के पुंज को पहाड़ों के सिर ठोंक-ठोंक देता है। वे पहाड़ों में जाकर निश्चल हो जाते हैं, पत्थर होकर नष्ट हो जाते हैं। चुनौती = ललकार। जरब देना = नीचा दिखाना।

१५ ठकुराई = प्रभुत्व। ठसक = शान, धाक।

१६ धुर = श्रेष्ठ। जलूसै = प्रताप। गीरवान = देवता। जुर = एकत्र होकर। पंखवारे = पंखा झलनेवाले। पाकसासन = इंद्र। खौरवारे = चंदन लगानेवाले। तमोर = तांबूल।

१७ मीच = मृत्यु। आप = जल। बकसीस = दान। हजार० = शेषनाग। अटहर = सिर पर पगड़ी की सी फेंट।

३८ फिराद = पुकार। साख = प्रसिद्धि (हाथियों के कारण)।

३९ पाप० = पाप रूपी अंधकार के लिये पूषण (सूर्य) हैं। महानी = बड़ी।

४० जवरई = जबरन। वही = जिसमें उस पापी के कर्मों का लेखा था। चित्र० = चित्रगुप्त।

४१ नै-नै = नमित हो-होकर। तुम्हें० = और कुछ देना है यह समझ-कर डरो मत।

४२ टरको = खिसक गया। अनुरागि = प्रेम होने पर भी। हर = महा-देव। भरा घर = जहाँ सभी प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ हों। चोर ऐसे घर में इसी सोच में सवेरा कर देता है कि किसे ले चलूँ और किसे छोड़ूँ।

४३ परतच्छपई = प्रत्यक्ष ही। सबै = सबको। सरस = बढ़कर।

४४ सार = तत्त्व। माला = समूह, हार। भाग = भाग्य। आप = जल। मान = संमान। धनेस = धनपति। गुमान = ज्ञान का अभिमान। ध्रुव = ध्रुव की। मौलि = मुंड।

४५ निगम = वेद। निदान = निरूपण। ही = हृदय। तच्छन = तक्षण। अच्छन के आगे = आँखों के समक्ष। अधिच्छ = (अध्यक्ष) परमात्मा, साकार ब्रह्म। इंदिरा = लक्ष्मी। सुनिये = सुना जाता है। बीधे = लगे हुए, फँसे हुए। भव-छंद = सांसारिक मायाजाल।

४६ रेनु = बालू। चाँदनी = सफेद चादर। लोक = लोग। आवरत = घेरा। राग रामना = राग से गाना। ऐन = ठीक। अघ = पाप। अँधेरी = अंधेर, अंधकार।

४७ मातसर्य = (मात्सर्य) द्वेष। छंद = कपट। बारि = जल। तारनि = तारनेवाली। तरंगिनी = नदी।

४८ ज्वाल = अग्नि। अडंबर = सामान। बूझे = पूछने से।

४९ झासी = धोखा देनेवाले। सोर = शोर,। हाट-सी० = बाजार-सा

लगाकर, चारों ओर से घेरकर। चाट० = प्रतीक्षा कर रहे हैं। तन० = शरीर को जल में न जाने कब घोरेगा, स्नान करेगा। नाँदिया = नंदी, बैल। बिमान = पुष्पक, इंद्रलोक ले जाने के लिये।

५० हुतो = था। गाढ़ = विपत्ति। पास = (पाश) जाल। छुटि० = भाग गए। सँघाती = साथी। घुटि० = प्राण घुटकर मर गए। दीह = (दीर्घ) भारी। आठ० = आऊँ, पहुँचूँ।

५१ भूमिलोक० = ऊपर के सात लोक। कल = सुंदर। अतल से कताल० = पृथ्वी के नीचे के सात लोक। अचल० = चराचर। न बिलमैं = बिलंब नहीं लगाते।

५२ तौ = था। जोग० = योगादि करने से भी जो नहीं घबराए थे। हिराने = खो गए। कचरे = दब गए। करार = कगार, तट की ऊँची भूमि।

५३ रस = आनंद, हर्ष। नेकौ = थोड़ा भी। पुरी० = पुण्यपुरी में, स्वर्गादि। रौरव = नरक। फैलन = विस्तीर्ण स्थान में। फल० = अच्छी तरह। गैल = गली, संकीर्ण स्थान। बंसबालन = लड़के बालों में। बिषय = भोग-विलास। धुरी = अत्यंत पूज्य स्थानाधिप होने पर भी। कहूँ = कहीं भी रहें।

५४ गिरीस = महादेव। श्रुति = वेद।

५५ भागीरथि = गंगा। तरछत = नीचे होकर (जल में से)। ताहि० = गरुड़ को अपने खाने की ताक में देखकर जल में से होकर सर्प गंगा-पार निकल गया। तिसार = (अतिसार) संग्रहणी। ताप० = ताप ज्वरातिसार हो गया, पाप नष्ट हो गए। सारद = सरस्वती। प्रभाव = प्रभाव से। लखि = देखा। मजा की = आनंददायिनी मुक्ति। अहि = सर्प। गरुड़० = अर्थात् विष्णु रूप बनकर।

५६ सुजन = सुजान। श्रुति = वेद। सार = तत्त्व, निचोड़। सुभग = सुंदर। चार० = अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष।

फुटकर

१ कामद = कामनादायक । कलानिधान = कलाविद् । किल = निश्चय । कैसे = के समान । महत = अत्यंत उच्च । मजेजवंत = (उच्च) स्वभाववाले । तनै = तनय, पुत्र । कूरम = कछवाहे । मान० = मानसिंह के वंशज ।

२ बसु = धन । सुवरन = (सुवर्ण) सोना । सुवरन = (सु + वर्ण) सुंदर अक्षर । सकबंध = (स + कबंध) धड़ के सहित, वह वीर जिसका सिर कट जाने पर धड़ लड़ने में लगा रहे, भारी शूर ।

३ सूरत० = कोई मुझे सूरत का महाजन समझता है । दराज = बहुत । राव = छोटे राजा । उमराव = बड़े पदाधिकारी । असबाब = साज-समान । भरमैं = धोखा खाते हैं । सिरताज = श्रेष्ठ, उत्तम ।

४ मतंग = हाथी । ताते = तीव्र । राते = लाल रंग के । जरद = कुछ पीला रंग लिए लाल । पन्ना = एक रत्न ।

५ कीरति० = कीर्ति की पंक्ति, यश-समूह । करतार० = कामधेनु कर देनेवाली है, मनवांछित फल देनेवाली है । सूरति० = स्वरूप का ध्यान (देखना) । घनसार० = चंदन का घिसना है, अत्यंत शीतलता देनेवाला है । सुधासिंधु = अमृत का खजाना । देव० = देव-दर्शन के समान फलदायक । रसायन = वे औषधियाँ जो वृद्धता और व्याधि को दूर कर देती हैं । पारस = वह पत्थर जो लोहे को भी सोना बना देता है । परसिबो = स्पर्श करना ।

६ पुच्छन० = स्वच्छ अर्थात् बढ़िया पूँछवाले । तरच्छ = (तरक्षु) सिंह । लच्छ = (लक्ष) लाख । लच्छे = लांछित, युक्त । नृप० = राजाओं के रक्षक । ततच्छ = तत्क्षण । कविदच्छ = कविदक्ष, कविश्रेष्ठ । दच्छे = दे दिए हैं । पच्छ = (पक्ष) पंख । गच्छत = जाते हैं ।

अंतरिच्छ = आकाश। अच्छ = (अक्षि) आँख। अवलच्छ = (अपलक्ष) दिखाई न पड़ना। अच्छ०= (औत्सुक्य) हो जाने की कला जिन्होंने काछ रखी है, उक्त कला में निपुण हैं। कच्छी = कच्छ (गुजरात) देश के घोड़े। कछवाह = कूर्मवंशी। विपच्छ = शत्रु। वच्छ = (वक्ष) छाती। पच्छिन० = पक्षियों को भी उड़कर चलने में छलते हैं, हरा देते हैं। उच्च० = ऊपर की ओर भली भाँति उछलते हैं।

७ गालिब = दावादार, ब्याह। चिल्लिन = वज्र। जिल्लिन = चमक। कहर = आफत ढहानेवाला। गाज = वज्रपात। गजब्ब = विचित्र, बढ़कर।

८ कहर = भयानक आफत। हलाहल० = विष का भारी बहबहा। लबालब = ऊपर तक भरा हुआ। दुनी = दुनिया। चिल्लिन = वज्र। अजब = विचित्र। गब्बिन० = गर्वियों को नष्ट करनेवाला। गुसैल = क्रोधी। गुरु = उस्ताद। गंजन = नाश। गंज = ढेर। गुंबज = सिरा। गजब = वैचित्र्य।

९ विलच्छ = विलक्षण। अनवच्छ = (अनवच्छिन्न) अखंड, बेरोक टोक। दिच्छ० = प्रत्येक दिशा में। छीरधि = क्षीरसागर की तरह। अच्छ = आँख। ओज = तेज। पच्छ = (पक्ष) सहायता (न मिलने से)। लच्छ = (लक्ष) लाखों। बिपच्छ = शत्रु। गुच्छ = समूह। तुच्छ = तुच्छता छा जाती है, उनका घमंड दूर हो जाता है। पुच्छ = पूँछ। कच्छ = कच्छप। कुच्छ = (कुक्षि) अर्थात् पीठ पर। रुच्छ कर = रुष्ट होकर।

१० पंथ = पंत उपाधिधारी, दक्षिणी महाराष्ट्र। दारन = स्त्रियों को। दावादारन० = दावादारों (जो वीर होने का दावा करते हैं) के पास भाग कर जाते हैं। कौन० = सौदा करने कौन जाता है,

भिड़ने की हिम्मत कौन रखता है। तुनीर = तरकस। रौदा = प्रत्यंचा। बिहद्द = बेहद, अत्यंत। नद्द-नद्दिन में = नद-नदियों में। पौदा० = कीचड़ होता जा रहा है, सेना के चलने से इतनी अधिक धूल उड़ती है कि उससे पटकर नदियों का पानी कीचड़ हो जाता है। सौदा = सामान। मैगल = मदगलित।

११ गोला० = हाथियों की गोल को खोल देने (भगा देने के लिये) वे घोड़े गोले की भाँति झोंके से टूट पड़ते हैं। खिलना = घुस पड़ना। रान = जाँघ। रान० = (सवार की) जाँघ का इशारा पाते ही वे बाण की सी उचाट भरते हैं, बाण की भाँति स्थान से उछलकर शत्रु पर टूटते हैं। बकसे = दान दिए। उमंग० = उमंगित होने पर बटा के समान चक्कर (कावा) काटते हैं। बट्टा = बटा, वह गोल-गोल गेंद जिसे बाजीगर उछालते और झोंके से अपने शरीर के चारों ओर घुमा दिया करते हैं। आछे = अच्छे। अच्छरी = अप्सरा। लच्छगुने = लखगुने (तीव्र)। पच्छ = पंख। लच्छ = लक्ष्य करते हैं या लक्षित होते है। अंतरिच्छ = आकाश। घन० = बादल की घटा के समान (आकाश में) छा जाते हैं। चाकन = चाकना, किसी वस्तु को रेखा आदि से घेर देना। चाकन० = लोगों को घेर लेने में। चाक = चक्र। चतुर्मुख = चार मुखवाले की भाँति। चौहट = जहाँ चारों ओर मार्ग गए हों। उलट० = उलटने-पलटने में पटेबाजों के पटा के समान हैं।

१२ पारावार = समुद्र। लौं = तक। हिलि = धँसकर। झारन = तपन से (प्रताप की)। अरिंद = शत्रु। हाल = तुरत। परा = पराकाष्ठा अथवा समूह। प्रलै० = शत्रुओं पर प्रलय का समूह टूट पड़ता है। दौर = चढ़ाई। दार० = गर्वियों पर स्त्रियों की दलन पड़ती है, धाक से उनकी स्त्रियाँ छूट जाती हैं, अपने प्राण बचाने कठिन हो जाते हैं। धरा० = राजा। धकधक्कन० = धड़कन से।

धरा परै = पृथ्वी पर गिर पड़ते, मर जाते हैं। चंड = प्रचंड। चाप = धनुष। उदंड = उग्र। दंड = राजदंड, शासन। दाप = दर्प, धाक। मारतंड = सूर्य। छटा = डोरियाँ, प्रताप का फैलाव।

१३ कंदरन० = कंदराओं में पड़ी भयभीत हो रही है। नहरैं = प्रवाह अर्थात् समूह। नहरैं = लहरें। कहर० = क्रोध के समूह की लहर न जाने किसपर उठी है, किसपर क्रोध किया गया है। छतीस० = क्षत्रियों के ३६ कुल माने गए हैं। तिजारी = वह बुखार जो दो दिनों का अँतरा देकर तीसरे दिन आता है। पारी० = वह दिन जिस दिन 'तिजारी' आए। ताप = बुखार। कला = प्रभाव। कपिल० = कपिल मुनि के ही शाप से सगर के साठ हजार पुत्र भस्म हो गए थे। सटा-लौं = जटा की तरह चमचमाती हुई।

१४ धुवन० = धुवाँ से धूल धुंधमय हो गई है। धूर० = धुआँ भी धूल से पूर्ण है। धुर = निश्चित। अच्छ = आँख। भुम्म = पृथ्वी। मातंग = हाथी। जंग = युद्ध। जुट्टहिं = भिड़ते हैं। छकि = छककर, मस्त होकर। छुट्टहिं० = बाग से बाग मिलाकर छूटते हैं, मुठभेड़ करते हैं। कुट्ट = कूट, पर्वत-शिखर। घमंड = जैसे बादल घुमड़कर गरजता है। निरझर = झरना। टुकि = थोड़ा भी। टिप्पहिं० = बारंबार चोट करते हैं। टकटका० = 'टकटक' शब्द उत्पन्न करते हुए

१५ पटेल = गाँव का मुखिया, यह कोई विशेष सूबेदार रहा होगा। पराभव = हार देकर, हराकर। फतूह = विजय। फलै० = सफल बनाकर। अभै = अभय। रैयत = प्रजा। जगत = जगतसिंह। नंदै = पुत्र को। बयकुंठ = स्वर्ग। पाकसासन = इंद्र। आसन० = इंद्र के राज्य पर भी लात मारकर।

१६ निपट = अत्यंत। निखोट = भीषण। लोटि० = लोटना नहीं जानते उद्धत० = आने में उग्र। बलकैं = जोश में आते हैं। लवी = मादा लवा। लक्का = एक प्रकार का कलैया खानेवाला कबूतर। लुनाई =

लावण्य। चुटीले = चोट करनेवाले। चिक्क = शब्द करनेवाले। चाक = घेर लेने में। संगर तजैं न = युद्ध छोड़ते नहीं। लोय = लोग। लंगर = ढीठ। लोय० = लड़नेवाले ढीठ जीव हैं। बवा = बाबा। बुवा = (शाव) पुत्र। रवा = संबंध रखनेवाले। रन०=रण में तो मानों क्रोध के संबंधी ही हैं।

१७ खुले परत = टूटे पड़ते हैं। दुंदुभी = नगाड़ा। चमोटैं = चोट, मार। तेते = उतने। तुंग = अत्यंत उत्तम। तयार = मोटे-ताजे। फतूह = विजय। फबै० = विजय करके शोभित होते हैं। बासा = एक पक्षी। जुर्रा = एक तरह का बाज। बाजी० = कभी-कभी।

१८ सिपर = ढाल। दल = सेना। चितौन० = चितवन रूपी बाण। घेर० = घेरवाले घूँघट की घटा की छाया के नीचे का स्थान कामदेव रूपी वजीर के लिए साफ किया गया है। बखत० = भाग्यवान्। तखत = सिंहासन। चकत्ता = शाहंशाह।

१९ रस = आनंद, द्रव-पदार्थ। मुख० = इनके मुख में जीभ है ही नहीं। तेज = तेजी के साथ। उर० = हृदय के भीतरवाली। आलम० = सुख के बाणों को शरीर में सहती हैं, आँखों के द्वारा चलाए गए बाणों को समझती हैं। हथ्यार० = हथियार चलाती हैं। पाख = पक्ष, पंख।

२० सिँगार = इसका रंग श्याम माना गया है। संकुरित = संकुलित है, सिमट गया है। तम = अंधकार। तड़ित = बिजली। जुन्हाई = प्रकाश। हेमफरद = सोने का कागज़। लुनाई = लावण्य। कलिंदि = यमुना। गरक = डूब गए हैं।

२१ गुल = फूल का। गुलकंद = एक प्रकार का मीठा। दाख = (द्राक्षा)। दुचंद = बढ़िया, उत्तम। कला = गुण, विशेषता। कंद = बरफी। कमाई = कम कर दी अथवा अर्जन कर ली, ले ली। साहिबी = बड़प्पन। खारिक = छोहारा। खरी = एक प्रकार का ईख। मधु = शहद। सारद-सिरी = दूध की बनी वस्तु, बसौंधी।

२२ मतो = मत, विचार।

२३ मरगजे = मलिन। वारुनी = शराब। झपना = गिरना। धपना = दौड़ना। नायिका खंडिता है।

२४ अधिकारी = जबर्दस्ती। खोरि मांझ = गली में।

२५ अपीच = (सं० अपीच्य) सुंदर। चारु = सुंदर। चोवा = चंदनादि कई गंध-द्रव्यों के मेल से तैयार किया हुआ एक सुगंधित द्रव पदार्थ। अगर = एक सुगंधित लकड़ी।

२६ ताँगी = बंद। कछियन = (कक्ष) पार्श्वभाग। तमोल = तांबूल।

२७ मलार=एक राग जो वर्षा-ऋतु में गाया जाता है। छावनो=छानेवाला।

२८ तनी = कसी। उरज = स्तन।

२९ बितान = चँदोवा। कोरा = गोद, बीच।

३० तरनि० = सूर्य की पुत्री, यमुना। तछियन = (तत्क्षण) उस समय। अन्यारी = (अनीवाली) तीक्ष्ण।

३१ कटी = कमर में। घट = हृदय। गनगौर = पार्वती।

३२ खवासिन = सेविका। चेरी = दासी।

३३ मढ़ि० = मढ़ जाया जाय, जाकर रहें। कढ़ि० = निकल जायँ।

३४ थरकना = काँपना। दरकना = चटकना। बक = वच, बात। कफना = कंकण। सरकना = गिर पड़ना।

३५ उमाहत = उमंगित होते हुए। गुंमज = गुंबज। चदरा = नदी के बहाव का समतल जल।

३६ आछो है = पकड़ रखा है। झुनुक = झुनझुन ध्वनि। ठुनुकना = मचलना।

३७ तै चुक्यो = तप्त कर चुका, नष्ट कर चुका। मारतंड = सूर्य।

३८ कुमुदिनी = श्वेत कमल। ~~[illegible]~~ वृंद = समूह, घिराव। चंदचूड़ = महादेव।

[illegible library stamp]